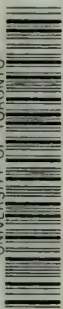


UNIVERSITY OF TORONTO



3 1761 00664345 6



Digitized by the Internet Archive
in 2011 with funding from
University of Toronto

THE

CHOWKHAMBÂ SANSKRIT SERIES;

A

COLLECTION OF RARE & EXTRAORDINARY SANSKRIT WORKS.

NO. 169.

वेदान्तसिद्धान्तसंग्रहः ।

श्रुतिसिद्धान्तापरनामकः ।

श्रीब्रह्मचारिवनमालिमिश्रविरचितः ।

द्वैताद्वैतदर्शनानुगतः ।

तद्दर्शनीयतात्पर्यकतत्कृतपद्यकदम्बव्याख्यानरूपः श्रीयुत-

कान्यकुब्ज कवीन्द्रवर-दुःखभञ्जनशर्मन्तनूजनुषा-

साहित्यसाङ्ख्ययोगाद्यनेकशास्त्रध्यापकेन-

देवीप्रसादशर्मकविना

संशोधितः ।

VEDÂNTASIDDHÂNTASANGRAHA,

WITH A COMMENTARY

BY

ŚRÎ BRAHMACHÂRI BANAMÂLI MIŚRA,

Edited by

Devi Prasad Sarma Kavi.

FASCICULUS I.

PUBLISHED AND SOLD BY THE SECRETARY

CHOWKHAMBÂ SANSKRIT BOOK-DEPOT.

BENARES.

AGENTS:- OTTO HARRASSOWITZ, LEIPZIG:

PÂNDITA JYĒSHITHÂRÂMA MUKUNDAJI BOMBAY:

PROBSTHAIN & CO., BOOKSELLERS, LONDON.

Printed by Jai Krishna Dasa Gupta,

AT THE VIDYÂ VILASA PRESS

BENARES.

Price Rupee one.

॥ श्रीः ॥

-*-

आनन्दवनविद्योतिमुमनोभिः सुसंस्कृता ॥
सुवर्णाऽङ्कितभव्याभशतपत्रपरिष्कृता ॥ १ ॥
चौखम्बा-संस्कृतग्रन्थमाला मञ्जुलदर्शना ॥
रसिकालिकुलं कुर्यादमन्दाऽऽमोदमोहितम् ॥ २ ॥
स्तवकः— १६९

- १ अस्यां चौखम्बा-संस्कृतग्रन्थमालायां प्रतिमासं पृष्ठशतके सुन्दरैः सीसकाक्षरैरुत्तमेषु पत्रेषु एकःस्तवको मुद्रयित्वा प्रकाश्यते । एकस्मिन् स्तवके एक एव ग्रन्थो मुद्र्यते ।
- २ प्राचीना दुर्लभाश्चामुद्रिता मीमांसावेदान्तादिदर्शनव्याकरण धर्मशास्त्रसाहित्यपुराणादिग्रन्था एवात्र सुपरिष्कृत्य मुद्र्यन्ते ।
- ३ काशिकराजकीयप्रधानसंस्कृतपाठशालाऽध्यापकाः पण्डिता अन्ये च शास्त्रदृष्टयो विद्वांस एतत्परिशोधनादिकार्यकारिणो भवन्ति ।
- ४ भारतवर्षीयैः, ब्रह्मदेशीयैः, सिंहलद्वीपवासिभिश्च एतद्ग्राहकैर्देयं वार्षिकमाग्रिमं मूल्यम्-मुद्राः ७ आणकाः ८
- ५ अन्यैर्देयं प्रतिस्तवकम् " " १ " ०
- ६ प्रापणव्ययः पृथग् नास्ति ।
- ७ साम्प्रतं मुद्र्यमाणा ग्रन्थाः- मुद्रिताः स्तवकाः
 - (१) संस्काररत्नमाला । गोपीनाथभट्टकृता (संस्कारः) २
 - (२) शब्दकौस्तुभः । भट्टोजिदीक्षितकृतः (व्याकरणम्) १०
 - (३) श्लोकवार्तिकम् । भट्टकुमारिलविरचितम् }
पार्थसारथिमिश्रकृत-न्यायरत्नाकराख्यया } १०
व्याख्यया सहितम् । सम्पूर्णम् ।
 - (४) भाष्योपवृंहितं तत्त्वत्रयम् । विशिष्टाद्वैतदर्शनप्रकरणम् । श्रीमल्लोकाचार्यप्रणीतम् । श्रीनारायण तीर्थ विरचित भाट्टभाषा प्रकाशसहितम् । सं० } (वेदान्त) २
 - (५) करणप्रकाशः । श्रीब्रह्मदेवविरचितः सम्पूर्णः (ज्योतिषः) १
 - (६) भाट्टचिन्तामणिः । महामहोपाध्याय- श्रीगागाभट्ट विरचितः । तर्कपादः } (मीमांसा) २

Vanamali Misra

THE

CHOWKHAMBÂ SANSKRIT SERIES;

A

COLLECTION OF RARE & EXTRAORDINARY SANSKRIT WORKS.

NOS. 169, 170 & 202.

Vedāntasiddhāntasāgrahaḥ

वेदान्तसिद्धान्तसंग्रहः

श्रुतिसिद्धान्तापरनामकः

श्रीब्रह्मचारिवनमालिमिश्रविरचितः

द्वैताद्वैतदर्शानुगतः

तद्दर्शनीयतात्पर्यकतत्कृतपद्यकदम्बव्याख्यानरूपः ।

द्वैताद्वैतदर्शानुसारिणी वेदान्तकारिकावली च

पण्डितश्रीपुरुषोत्तमप्रसादशर्मकृता; मूलकृतैव कृतयाऽध्यात्मसुधातरङ्गिण्याख्यटीकया सहिता

श्रीयुतकान्यकुब्जकवीन्द्रवर—दुःखभञ्जनशर्मतनूजनुषा साहित्यसाङ्गयोगाद्यनेकशास्त्रा-

ध्यापकेन—देवीप्रसादशर्मकविना संशोधितौ ।

VEDÂNTASIDDHÂNTASANGRAHA,

WITH A COMMENTARY BY SRÎ BANAMALI MISRA,

AND VEDÂNTA KÂRIKAVALI,

By Pandit Purushottama Prasad Sarma,

With a Commentary called Adhyatmasudha Tarangini

Edited by Devi Prasada Sarma Kavi.

PUBLISHED & SOLD BY THE SECRETARY

CHOWKHAMBÂ SANSKRIT BOOK-DEPÔT.

BENARES.

AGENTS:- OTTO HARRASSOWITZ, LEIPZIG:

PANDITA JYESHTHÂRAMA MUKUNDAJI, BOMBAY:

PROBSTHAIN & CO; BOOKSELLERS, LONDON.

Printed by Jai Krishna Das Gupta,

at the Vidya Vilas Press.

BENARES.

1913

Registered According to Act XXV. of 1867.

B

132

V3V35

1913

सूचीपत्रम् ।

| | | |
|----|--|----|
| १ | मङ्गलाचरणम् ... | १ |
| २ | अधिकारिलक्षणम् ... | २ |
| ३ | गुरुलक्षणम् ... | २ |
| ४ | दुःखहेतुः ... | ३ |
| ५ | सुखहेतुः ... | ४ |
| ६ | पापलक्षणम् ... | ४ |
| ७ | पुण्यलक्षणम् ... | ४ |
| ८ | पुण्यपापबीजम् ... | ४ |
| ९ | अविद्यास्वरूपम् ... | ५ |
| १० | तदनर्थहेतुत्वम् ... | ५ |
| ११ | अविद्यासंबन्धादेवजीवस्य संसृतिः... | ६ |
| १२ | अन्तःकरणदुःखादिना जीवस्यदुःखावाप्तिः ... | ७ |
| १३ | विष्णुभक्तिवैमुख्यस्यैवमुख्यसंसृतिबीजत्वम् ... | ७ |
| १४ | सकामकर्मकरणाजीवस्य संसृतिः ... | ८ |
| १५ | स्वर्गादेरपुरुषार्थत्वंदुःखमयत्वञ्च ... | ८ |
| १६ | क्षीणपुण्यस्य स्वर्गादधः पातः ... | ८ |
| १७ | जीवस्य गर्भप्रवेशप्रकारः ... | ९ |
| १८ | गर्भस्थस्य तस्य जन्मसहस्रस्मृतिः ... | ९ |
| १९ | तस्य दुःखातिशयप्राप्तिः ... | ९ |
| २० | तत्कृतेश्वरस्तुतिः ... | ९ |
| २१ | गर्भात्तस्योत्पत्तिः ... | १० |
| २२ | उत्पन्नस्य तस्य बाल्येदुःखावाप्तिः ... | १० |
| २३ | तत्कौमारदुःखावाप्तिः ... | १० |
| २४ | तत्पौगण्डदुःखावाप्तिः ... | १० |
| २५ | यौवनेतस्यपापानुष्ठानम् ... | ११ |
| २६ | तद्वार्धकदुःखप्राप्तिः ... | ११ |
| २७ | मरणावस्थापन्नस्य तस्य यमदूतदर्शनम् ... | ११ |

| | | | | | | |
|----|---|-----|-----|-----|-----|----|
| २८ | तस्ययमपुरगमनम् | ... | ... | ... | ... | ११ |
| २९ | तस्य विविधनरकदुःखावाप्तिः | ... | ... | ... | ... | १२ |
| ३० | भुक्तनरकदुःखस्य तस्य पुनर्नानायोनिषु जन्मावाप्तिः | ... | ... | ... | ... | १२ |
| ३१ | उपसंहारः | ... | ... | ... | ... | १२ |

इति प्रथमोऽध्यायः ।

| | | | | | | |
|----|--|-----|-----|-----|-----|----|
| १ | दुःखनिवृत्त्युपायः | ... | ... | ... | ... | १३ |
| २ | सुखप्राप्त्युपायः | ... | ... | ... | ... | १४ |
| ३ | निष्कामकर्मानुष्ठानम् | ... | ... | ... | ... | १४ |
| ४ | तत्प्रकारः | ... | ... | ... | ... | १४ |
| ५ | परवैराग्यस्य मुक्तिसाधनत्वम् | ... | ... | ... | ... | १४ |
| ६ | तस्यैवहेतुः | ... | ... | ... | ... | १४ |
| ७ | श्रवणमननादिकरणीयता | ... | ... | ... | ... | १५ |
| ८ | श्रवणलक्षणम् | ... | ... | ... | ... | १५ |
| ९ | मननलक्षणम् | ... | ... | ... | ... | १५ |
| १० | निदिध्यासनलक्षणम् | ... | ... | ... | ... | १५ |
| ११ | निदिध्यासनस्यप्राधान्यम् | ... | ... | ... | ... | १५ |
| १२ | हरेरापरोक्ष्याद्वन्धनिवृत्तिः | ... | ... | ... | ... | १६ |
| १३ | हरेरापरोक्ष्यप्रकारः | ... | ... | ... | ... | १६ |
| १४ | मुक्तिस्वरूपतत्प्राप्ति | ... | ... | ... | ... | १७ |
| १५ | ईश्वरप्रसादनित्यत्वेऽपि जीवबन्धमोक्षव्यवस्था | ... | ... | ... | ... | १७ |
| १६ | हरे स्सर्वगुणानामापरोक्ष्याभावः | ... | ... | ... | ... | १७ |
| १७ | हरेः कतिपयगुणज्ञानादेव जीवस्य मोक्षः ॥ | ... | ... | ... | ... | १७ |
| १८ | हरे गुणज्ञानस्यैव तत्प्रसादहेतुत्वम् | ... | ... | ... | ... | १८ |
| १९ | हरिप्रसादस्य मोक्षहेतुत्वे श्रुतिप्रामाण्यम् | ... | ... | ... | ... | १८ |
| २० | एकस्यैव हरिप्रसादस्य साधनवैचित्र्याद्वैचित्र्यम् | ... | ... | ... | ... | १८ |
| २१ | हरे गुणदेशकालापरिच्छिन्नत्वम् | ... | ... | ... | ... | १९ |
| २२ | भगवद्भक्तानांमुक्तौवैकुण्ठप्राप्तिः । | ... | ... | ... | ... | १९ |
| २३ | तत्र तेषामविद्यायानिःशेषतोर्ध्वंसः । | ... | ... | ... | ... | १९ |
| २४ | तत्र तेषां पूर्णानन्दलाभः | ... | ... | ... | ... | १९ |
| २५ | तत्र तेषां स्वेच्छाप्रयुक्तविप्रहकीडालाभः | ... | ... | ... | ... | १९ |
| २६ | तत्र पूर्णत्वेन विष्णुजीवानां तुल्यता । | ... | ... | ... | ... | १९ |

| | | | |
|--|-----|-----|----|
| २७ तत्राऽऽनन्दोद्रेकस्य तत्क्रीडाहेतुत्वम् | ... | ... | २० |
| २८ तेषाम्पूर्णत्वे दृष्टान्तः | ... | ... | २० |
| २९ हरेर्व्यापकत्वेऽपितेषां तत्र गमनेयुक्तिः | ... | ... | २० |
| ३० मोक्षप्राप्तौ स्थानभेदः | ... | ... | २० |
| ३१ मुक्तानां संकल्पप्रयुक्तालौकिकभोगावाप्तिः | ... | ... | २२ |
| ३२ भगवदर्पितकर्मणामक्षयफलम् | ... | ... | २२ |
| ३३ ब्रह्मज्ञानस्य पापनाशकत्वम् । | ... | ... | २२ |
| ३४ सर्वमुक्तानां पूर्णानन्दत्वम् | ... | ... | २२ |
| ३५ तत्स्पष्टीकरणम् । | ... | ... | २२ |
| ३६ भगवदापरोक्ष्याभावेमोक्षाभावः | ... | ... | २३ |
| ३७ स्थानभेदेन सद्योमोक्षक्रममोक्षौ | ... | ... | २३ |
| ३८ तत्र स्मृतेः प्रामाण्यम् | ... | ... | २४ |
| ३९ धूममार्गगतानां पुनरावृत्तिः | ... | ... | २४ |
| ४० तत्र स्मृतिप्रामाण्यम् | ... | ... | २५ |
| ४१ मुक्तिक्रमः | ... | ... | २५ |
| ४२ हरिसेवकानां मोचनेसामर्थ्याभावः | ... | ... | २५ |
| ४३ सर्वसाधारणमुक्तेः स्वरूपम् | ... | ... | २६ |
| ४४ मुक्तानां स्वयोग्यतानुसारेण चतुर्विधमुक्तिप्राप्तिः | ... | ... | २६ |
| ४५ सायुज्यमुक्तौ मुक्तानां हरिशरीरेलयः | ... | ... | २६ |
| ४६ हरिशरीरेलीनानामपि मुक्तानां ततोभेदः | ... | ... | २६ |
| ४७ तेषान्निर्गमनप्रतिपादकमोक्षधर्मवाक्यम् | ... | ... | २७ |
| ४८ हरिचतुर्व्यूहनिरूपणम् | ... | ... | २७ |
| ४९ मुक्तानाम्प्राकृतविहारः | ... | ... | २७ |
| ५० तेषाम्पुनरुत्पत्तिनाशाभावः | ... | ... | २८ |
| ५१ मोक्षहेतुभगवदापरोक्ष्येमोक्षधर्मवाक्यम् | ... | ... | २८ |
| ५२ इह मुक्तानां श्वेतद्वीपवासिनां च लक्षणैक्यम् | ... | ... | २९ |
| ५३ श्वेतद्वीपवासिनां लक्षणानि | ... | ... | २९ |
| ५४ तेषां हरिपरतन्त्रत्वम् | ... | ... | २९ |
| ५५ तेषां परतन्त्रतायादुःखदत्त्वाभावः | ... | ... | ३० |
| ५६ तत्स्पष्टीकरणम् । | ... | ... | ३० |
| ५७ मुक्तानन्दतारतम्येश्रुतिप्रामाण्यम् | ... | ... | ३० |

| | | | |
|---|-----|-----|----|
| ५८ प्रागुक्तमुक्तविग्रहप्राप्तौ मोक्षधर्मवाक्यम् | ... | ... | ३१ |
| ५९ मुक्तानां विग्रहसत्त्वेऽपिदुःखाभावः | ... | ... | ३१ |
| ६० परममुक्तिं गतानामपुनरावृत्तौऽस्मृतेः प्रामाण्यम् | ... | ... | ३२ |
| ६१ जयविजयादीनाम्पुनरावृत्तौ प्रारब्धकर्मफलभोगस्यहेतुत्वम् | ... | ... | ३२ |
| ६२ जीवन्मुक्तिलक्षणम् | ... | ... | ३२ |
| ६६ हरेरापरोक्ष्यात्सर्वकर्मनाशो निर्लेपापत्तिश्च | ... | ... | ३३ |
| ६४ मायिसम्मतजीवन्मुक्तेरसम्भवः | ... | ... | ३३ |
| ६५ सुखित्वस्यैव पुरुषार्थत्वम् | ... | ... | ३३ |
| ६६ वैपरीत्येवाधः | ... | ... | ३३ |
| ६७ सुषुप्त्याद्यवस्थातो मुक्तौ विशेषः | ... | ... | ३३ |
| ६८ जैनसम्मतमोक्षस्याऽनुवादः | ... | ... | ३४ |
| ६९ तस्य खण्डनम् | ... | ... | ३५ |
| ७० बौद्धसंमतमोक्षानुवादः | ... | ... | ३५ |
| ७१ बौद्धमतभेदाः | ... | ... | ३६ |
| ७२ बौद्धमायावादिसंमतमोक्षैक्यप्रतिपादनम् | ... | ... | ३९ |
| ७३ शून्यवादिसंमतमोक्षखण्डनम् | ... | ... | ४१ |
| ७५ विज्ञानवादिसंमतमोक्षानुवादः | ... | ... | ४४ |
| ७५ विज्ञानवादिसंमतमोक्षखण्डनम् | ... | ... | ४४ |
| ७६ सौत्रान्तिकवैभाषिकसंमतमोक्षानुवादः | ... | ... | ४५ |
| ७७ सौत्रान्तिकवैभाषिकसंमतमोक्षखण्डनम् | ... | ... | ४५ |
| ७८ साङ्ख्यवादिसंमतमोक्षखण्डनम् | ... | ... | ४५ |
| ७९ मोक्षे प्राकृतसुखनाशः | ... | ... | ४६ |
| ८७ दुःखस्याऽप्राकृतत्वाभावः | ... | ... | ४६ |
| ८१ मुक्तानां ज्ञानित्वम् | ... | ... | ४६ |
| ८२ तद्विषयकश्रुतिवाक्यव्याख्यानम् | ... | ... | ४७ |
| ८३ सौगतैकदेशिसंमतमोक्षखण्डनम् | ... | ... | ४८ |
| ८४ ईश्वरकर्मकाज्ञानखण्डनम् | ... | ... | ४८ |
| ८५ जीवस्य मुक्तौ स्वविषयत्वविरोधनिरसनम् | ... | ... | ४८ |
| ८६ मोक्षे अलौकिकसुखसद्भावप्रतिपादनम् | ... | ... | ४९ |
| ८७ तत्र श्रुतिपुराणादिप्रामाण्यम् | ... | ... | ५० |
| ८८ स्वेष्टदेवप्रणामः | ... | ... | ५१ |

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

| | | | | |
|--|-----|-----|-----|----|
| १ जीवेशस्वरूपादिजिज्ञासा । | ... | ... | ... | ५१ |
| २ जीवस्वरूपम् | ... | ... | ... | ५१ |
| ३ देहात्मभेदानुभवः | ... | ... | ... | ५१ |
| ४ जीवस्य नानादेहानुवृत्तिः | ... | ... | ... | ५२ |
| ५ प्राणेभ्य आत्मनो भेदः | ... | ... | ... | ५२ |
| ६ इन्द्रियेभ्य आत्मनो भेदः | ... | ... | ... | ५२ |
| ७ चित्तबुद्ध्यादिभ्य आत्मनो भेदः । | ... | ... | ... | ५३ |
| ८ तत्र मोक्षधर्मवाक्यम् | ... | ... | ... | ५३ |
| ९ अहमर्थस्याऽऽत्मत्वम् | ... | ... | ... | ५३ |
| १० तत्र बाधकान्तरापादनम् | ... | ... | ... | ५४ |
| ११ देहनिष्ठगौरत्वादिधर्माणामात्मन्यारोपः । | ... | ... | ... | ५४ |
| १२ देहविशिष्टात्मन एव ब्राह्मणत्वादिधर्मः । | ... | ... | ... | ५४ |
| १३ जीवस्य वास्तवकर्तृत्वम् | ... | ... | ... | ५५ |
| १४ तत्रस्मृतेः प्रामाण्यम् | ... | ... | ... | ५५ |
| १५ जीवे आरोपितकर्तृत्वस्य निरसनम् | ... | ... | ... | ५५ |
| १६ जीवस्याऽकर्तृत्वमस्वातन्त्र्यप्रयुक्तम् | ... | ... | ... | ५६ |
| १७ तत्र मोक्षधर्मवाक्यम् | ... | ... | ... | ५६ |
| १८ तत्स्पष्टीकरणम् | ... | ... | ... | ५६ |
| १९ अस्वातन्त्र्यप्रयुक्तस्याऽपि जीवकर्तृत्वस्य सार्वदिकत्वम् | ... | ... | ... | ५६ |
| २० बाह्यस्वरूपभेदेन कर्तृत्वस्य द्वैविध्यम् | ... | ... | ... | ५६ |
| २१ बाह्यनिरूपणम् | ... | ... | ... | ५७ |
| २२ अविद्यासहकृतत्वव्यावृत्तिः । | ... | ... | ... | ५७ |
| २३ तत्स्पष्टीकरणम् | ... | ... | ... | ५७ |
| २४ स्वनिष्ठस्वातन्त्र्यनिवृत्त्यर्थमकर्तृत्वचिन्तनम् | ... | ... | ... | ५७ |
| २५ देहादिपञ्चकनिष्ठकर्तृत्वम् | ... | ... | ... | ५७ |
| २६ तत्र भगवद्वद्वाक्यम् | ... | ... | ... | ५८ |
| २७ देहादिपञ्चकनिरूपणम् | ... | ... | ... | ५८ |
| २८ देहादीनांपञ्चानां निखिलकर्महेतुत्वम् | ... | ... | ... | ५८ |
| २९ केवलात्मानिष्ठकर्तृत्वाभिमाननिन्दा । | ... | ... | ... | ५८ |
| ३० जीवानां प्रतिदेहं भेदः | ... | ... | ... | ५८ |

| | | | |
|----|---|--------|-----|
| ३१ | श्रवणादीनां मिथ्यात्वे मोक्षस्याऽपि मिथ्यात्वम् । | ... | ५९ |
| ३२ | भेदस्यौपाधिकत्वे दोषः | | ५९ |
| ३३ | तत्राऽऽगमविरोधः | | ५९ |
| ३४ | जीवानामणुत्वम् | | ६० |
| ३५ | तत्समर्थनम् | | ६१ |
| ३६ | जीवस्यदुःखादिक्षेत्रत्वनिराकरणपूर्वकदुःखादि । | ... | ... |
| | भोक्तृत्वम् | | ६३ |
| ३७ | तस्य जागरावस्था | | ६४ |
| ३८ | तस्य स्वप्नावस्था | | ६४ |
| ३९ | केषां चित्स्वाप्नवस्तूनामपिसत्यत्वम् | | ६५ |
| ४० | जीवसुषुप्त्यवस्था | | ६५ |
| ४१ | सुषुप्तिजन्यसुखस्वरूपम् | | ६५ |
| ४२ | मूर्छावस्था | | ६६ |
| ४३ | योगावस्था | | ६६ |
| ४४ | संप्रज्ञातसमाधिस्वरूपम् | | ६६ |
| ४५ | असंप्रज्ञातसमाधिस्वरूपम् | | ६६ |
| ४६ | उक्तार्थेऽस्मृतिप्रामाण्यम् | | ६७ |
| ४७ | असंप्रज्ञातसमाधौसुखानुभवः | | ६७ |
| ४८ | तत्स्पष्टीकरणम् | | ६७ |
| ४९ | प्रलये भोगाभावः | | ६८ |
| ५० | जीवपदार्थनिरूपणम् | | ६८ |
| ५१ | स्वेष्टदेवप्रणामः | | ६८ |

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ।

| | | | |
|---|---|--------|----|
| १ | असाधारणलक्षणगर्भस्वेष्टदेवस्मरणम् | | ६९ |
| २ | ईश्वरस्यविश्वकर्तृत्वादिलक्षणसमर्थनम् | | ६९ |
| ३ | उक्तार्थेऽवैष्णववाक्यापन्यासः । | | ६९ |
| ४ | विष्णुदिवसपरिमाणम् | | ७० |
| ५ | विष्णुरात्रिमानम् | | ७० |
| ६ | विष्णोः कालापरिच्छिन्नत्वम् | | ७० |
| ७ | ब्रह्मरुद्रादीनांविष्णुरूपत्वम् | | ७१ |
| ८ | ब्रह्मरुद्राद्यपेक्षयाविष्णोः प्राधान्यम् | | ७१ |

| | | | | | | |
|----|---|-----|-----|-----|-----|----|
| ९ | तत्रभारतप्रामाण्यम् | ... | ... | ... | ... | ७२ |
| १० | वासुदेवस्यपरमात्मत्वम् । | ... | ... | ... | ... | ७३ |
| ११ | संकर्षणस्यजीवात्मत्वम् | ... | ... | ... | ... | ७३ |
| १२ | प्रद्युम्नस्यमनोरूपत्वम् | ... | ... | ... | ... | ७३ |
| १३ | अनिरुद्धस्यकर्तृकारणकार्यात्मकत्वम् | ... | ... | ... | ... | ७३ |
| १४ | अस्यचतुर्व्यूहस्यकार्यकारणात्मकतयैक्यम् | ... | ... | ... | ... | ७४ |
| १५ | अनिरुद्धप्रसादाद्ब्रह्मोत्पत्तिः | ... | ... | ... | ... | ७५ |
| १६ | अनिरुद्धक्रोधाद्बुद्धोत्पत्तिः... | ... | ... | ... | ... | ७५ |
| १७ | ब्रह्मरुद्रयोः सृष्टिसंहारनिमित्तमात्रत्वम् | ... | ... | ... | ... | ७५ |
| १८ | सात्त्विकस्यैवहरेराराधनेप्रवृत्तिः | ... | ... | ... | ... | ७६ |
| १९ | हरिमायामोहितानांहरिभक्तिविमुखत्वम् | ... | ... | ... | ... | ७६ |
| २० | हरेस्सर्वोत्तमत्वम् | ... | ... | ... | ... | ७७ |
| २१ | हरेरेवसर्वप्राणिहृदयनिष्ठतयानियामकत्वरूपान्तर्यामित्वम् | ... | ... | ... | ... | ८१ |
| २२ | शास्त्राणांपरस्परविरोधः... | ... | ... | ... | ... | ८२ |
| २३ | सर्वशास्त्रापेक्षयापञ्चरात्रस्यश्रेष्ठ्यम् | ... | ... | ... | ... | ८२ |
| २४ | पञ्चरात्रस्यवेदात्मकत्वम्... | ... | ... | ... | ... | ८२ |
| २५ | मन्वादिस्मृतीनांपञ्चरात्रमूलकत्वम् | ... | ... | ... | ... | ८३ |
| ३६ | उक्तार्थोपसङ्ग्रहः | ... | ... | ... | ... | ८३ |
| ३७ | उत्पत्तित्रैविध्यम् | ... | ... | ... | ... | ८४ |
| ३८ | तुरीयोत्पत्तिः | ... | ... | ... | ... | ८५ |
| ३९ | विनाशचतुर्विधत्वम् | ... | ... | ... | ... | ८५ |
| ४० | स्वेष्टदेवप्रणामः | ... | ... | ... | ... | ८५ |

इति चतुर्थोऽध्यायः ४

॥ अथपञ्चमोऽध्यायः ॥

| | | | | | | |
|---|----------------------------------|-----|-----|-----|-----|----|
| १ | स्वेष्टदेवस्मरणम् | ... | ... | ... | ... | ८७ |
| २ | ब्रह्मणोलक्षणान्तरम् | ... | ... | ... | ... | ८७ |
| ३ | ब्रह्मणोनिर्दुष्टानन्दरूपत्वम् | ... | ... | ... | ... | ८८ |
| ४ | धर्मधर्मिणोर्भेदाभेदौ | ... | ... | ... | ... | ८८ |
| ५ | सृष्टौकालस्यसहकारिकारणत्वम् | ... | ... | ... | ... | ८९ |
| ६ | सोपपत्तिकसृष्टिक्रमः | ... | ... | ... | ... | ९० |
| ७ | एकधावहुधेत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | ... | ... | ९० |

| | | | | | | |
|----|--|-----|-----|-----|-----|-----|
| ८ | तत्स्पष्टीकरणम् | ... | ... | ... | ... | ९० |
| ९ | सोऽकामयतेत्यादिश्रुत्यर्थप्रतिपादनम् | ... | ... | ... | ... | ९१ |
| १० | ब्रह्मणो निमित्तकारणत्वम् | ... | ... | ... | ... | ९१ |
| ११ | कार्यकारणभेदाभेदौ | ... | ... | ... | ... | ९२ |
| १२ | ब्रह्मण उपपादानत्वनिरसनम् | ... | ... | ... | ... | ९२ |
| १३ | तदात्मानमेवाकरोदिति श्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | ... | ... | ९३ |
| १४ | सृष्टेस्सङ्कल्पपूर्वकत्वेयुक्तिः | ... | ... | ... | ... | ९४ |
| १५ | ब्रह्मणो वाच्यत्वम् | ... | ... | ... | ... | ९५ |
| १६ | तस्य लक्ष्यत्वखण्डनम् | ... | ... | ... | ... | ९६ |
| १७ | चतुर्विधगिरां विष्णावेव समन्वयः | ... | ... | ... | ... | ९७ |
| १८ | तच्चातुर्विध्यम् | ... | ... | ... | ... | ९७ |
| १९ | संक्षेपेण समन्वयप्रकारः | ... | ... | ... | ... | ९८ |
| २० | हरेस्सर्वव्यापकत्वम् | ... | ... | ... | ... | १०३ |
| २१ | तत्र स्मृतिप्रामाण्यम् | ... | ... | ... | ... | १०४ |
| २२ | यप्योऽन्तरादित्यइत्यादिश्रुतिसङ्ग्रहः | ... | ... | ... | ... | १०४ |
| २३ | अन्तर्यामिब्राह्मणार्थः | ... | ... | ... | ... | १०५ |
| २४ | अथ पराययेत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | ... | ... | १०५ |
| २५ | द्युभ्वाद्यधिकरणार्थः | ... | ... | ... | ... | १०६ |
| २६ | विष्णोर्विश्वाधारत्वम् | ... | ... | ... | ... | १०७ |
| २७ | रुद्रादिदेवविश्वाधारत्वखण्डनम् | ... | ... | ... | ... | १०७ |
| २८ | तद्वाप्येतदक्षरमित्यादिश्रुत्यर्थः | ... | ... | ... | ... | १०७ |
| २९ | दहराधिकरणार्थः | ... | ... | ... | ... | १०८ |
| ३० | हरेर्जडचेतननियामकत्वेन तत्तत्पदवाच्यत्वम् | ... | ... | ... | ... | १०९ |
| ३१ | शब्दप्रवृत्तौ रूढ्यादिनिमित्तत्वम् | ... | ... | ... | ... | ११० |
| ३२ | तत्राशङ्कानिरासः | ... | ... | ... | ... | ११० |
| ३३ | उक्तार्थसङ्ग्रहः | ... | ... | ... | ... | १११ |
| ३४ | सर्वखल्विदं ब्रह्मइत्यादिश्रुत्यर्थः | ... | ... | ... | ... | ११२ |
| ३५ | जीवेशयोर्वस्तुतोभेदः | ... | ... | ... | ... | ११२ |
| ३६ | सृष्ट्यादौ हरेः प्रधानादिसापेक्षत्वेऽपि स्वातन्त्र्यम् | ... | ... | ... | ... | १०२ |
| ३७ | ईश्वरत्वं नियम्य प्रधानाद्यपेक्षम् | ... | ... | ... | ... | ११३ |
| ३८ | ईश्वरवैषम्यनिराकरणम् | ... | ... | ... | ... | ११३ |

| | | |
|----|--|-----|
| ३९ | सृष्ट्यादौ ईश्वरस्याऽऽनन्दोद्रेकतः प्रवृत्तिः ... | ११४ |
| ४० | ईश्वरकारुणिकत्वसमर्थनम् ... | ११४ |
| ४१ | सर्वशब्दानां विष्णुवाचकत्वेऽप्यन्यव्यवहारलोपाभावः | ११४ |
| ४१ | ईश्वरस्यैकत्वेऽप्यनेकत्वम् ... | ११५ |
| ४१ | ईश्वरस्यविरुद्धगुणाधिकरणत्वेऽपि नक्षतिः ... | ११५ |
| ४१ | तस्याचिन्त्यैश्वर्यम् ... | ११६ |
| ४२ | रामकृष्णादीनानित्यत्वम् ... | ११६ |
| ४३ | रामकृष्णादीनारोदनादेर्देत्यव्यामोहाद्यर्थत्वम् ... | ११७ |
| ४४ | ब्रह्मादीनां जीवत्वम् ... | ११७ |
| ४५ | हरेरिच्छादिगुणानानित्यत्वम् ... | ११८ |
| ४६ | हरेर्नित्यशरीरत्वम् ... | ११९ |
| ४७ | तत्र श्रुतिस्मृतिप्रामाण्यम् ... | १२० |
| ४८ | सशरीरस्यैव हरेर्ब्रह्मशब्दाभिधेयत्वम् ... | १२२ |
| ४९ | हरिलोकस्य नित्यत्वम् ... | १२४ |
| ५० | हरेर्विश्वकर्तृत्वे प्रमाणोपन्यासः ... | १२६ |
| ५१ | हरिगुणानां मिथ्यात्वस्य खण्डनम् ... | १२८ |
| ५२ | गुणबोधकवाक्यानां नानुवादकत्वम् ... | १२८ |
| ५३ | अन्यथासमन्वयाध्यायविरोधः ... | १२९ |
| ५४ | प्रधानानेकसमन्वयाध्यायाधिकरणविनिर्देशः ... | १३० |
| ५५ | ब्रह्मणि धर्मसामान्यनिषेधस्य व्याहतत्वम् ... | १३० |
| ५६ | गुणनिषेधश्रुतीनामुपपत्तिः ... | १३१ |
| ५७ | गुणबोधकश्रुतिव्यावहारिकार्थपरत्वखण्डनम् ... | १३१ |
| ५८ | गुणबोधकश्रुत्युपासनार्थत्वखण्डनम् ... | १३२ |
| ५९ | सगुणब्रह्मज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वम् ... | १३३ |
| ६० | हरेर्निर्दोषत्वम् ... | १३४ |
| ६१ | गुणाधिक्यज्ञानस्य भक्तिहेतुत्वम् ... | १३५ |
| ६२ | जगत्कर्तृत्वादेस्स्वरूपलक्षणत्वम् ... | १३६ |
| ६३ | स्वेष्टदेवप्रणामः ... | १३७ |

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

| | | |
|---|-----------------------------------|-----|
| १ | ऐहिकामुष्मिकभोगानां हेतुत्वम् ... | १३८ |
|---|-----------------------------------|-----|

| | | | |
|----|---|-----|-----|
| २ | हरिलोकापेक्षयास्वर्गादीनांनरकसदृशत्वम्... | ... | १३८ |
| ३ | हरेःस्वाभिन्नत्वेनाजिज्ञास्यत्वम् | ... | १४० |
| ४ | मुमुक्षुक्षेयस्वरूपम् | ... | १४१ |
| ५ | तत्रस्मृतेः प्रामाण्यम् | ... | १४१ |
| ६ | पृथगात्मानमित्यादिश्रुतिसङ्ग्रहः | ... | १४१ |
| ७ | जुष्टंयदापश्यतीत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | १४२ |
| ८ | यदापश्यइत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | १४२ |
| ९ | एषसर्वेश्वरइत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | १४३ |
| १० | तमेतंवेदानुवचनेनेत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | १४३ |
| ११ | एकोदेवइत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | १४३ |
| १२ | योवेदनिहितमित्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | १४३ |
| १३ | रसोवैसइत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | १४४ |
| १४ | एतंवह्वृचाइत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | १४४ |
| १५ | ब्रह्मविदाप्नोतीत्यादिश्रुत्यर्थसंग्रहः | ... | १४४ |
| १६ | तमेवविदित्वेत्यादिश्रुत्यर्थसंग्रहः | ... | १४४ |
| १७ | आत्माचारेइत्यादिश्रुत्युदाहरणम् | ... | १४५ |
| १८ | जीवस्यश्रवणादिविषयत्वस्रण्डनम् | ... | १४५ |
| १९ | ब्रह्मत्वमीश्वरस्यैवस्वतन्त्रम् | ... | १४५ |
| २० | जीवस्यगौणंब्रह्मत्वम् | ... | १४६ |
| २१ | जीवेशभेदेप्रत्यक्षंप्रमाणम् | ... | १४६ |
| २२ | ईश्वरभेदप्रत्यक्षेयुक्तिः | ... | १४७ |
| २३ | जीवेशयोरभेदेवाधकम् | ... | १४९ |
| २४ | अजामेकामित्यादिश्रुत्युदाहरणम् | ... | १४९ |
| २५ | ज्ञाज्ञौद्वावित्यादिश्रुत्युदाहरणम् | ... | १५० |
| २६ | इन्द्रस्यात्मेत्यादिश्रुत्युदाहरणम् | ... | १५० |
| २७ | यआत्मनीत्यादिश्रुत्युदाहरणम् | ... | १५१ |
| २८ | अस्माच्छरीरभेदादित्यादिश्रुत्युदाहरणम् | ... | १५१ |
| २९ | सतत्रपर्येतीत्यादिश्रुत्युदाहरणम् | ... | १५१ |
| ३० | परममुक्तौभेदः | ... | १५२ |
| ३१ | मुक्तिपरापरत्वनिराकरणम् | ... | १५२ |
| ३२ | मायिनांसुभगाभिभुक्न्यायाश्रयणम् | ... | १५२ |

| | | | | | |
|----|--|-----|-----|-----|-----|
| ३२ | मायिनांलोकवञ्चकत्वम् ... | ... | ... | ... | १५२ |
| ३३ | तेषांप्रच्छन्नवौद्धत्वस्पष्टीकरणम् ... | ... | ... | ... | १५४ |
| ३४ | निरीश्वरसांख्यखण्डनम् ... | ... | ... | ... | १५५ |
| ३५ | सांख्यैकदेशिमतखण्डनम् ... | ... | ... | ... | १५६ |
| ३६ | सांख्याभितमेयान्तरखण्डनम् ... | ... | ... | ... | १५६ |
| ३७ | जीवस्याकर्तृत्वेऽधिकस्मृत्युपन्यासः । ... | ... | ... | ... | १५७ |
| ३८ | ईश्वरकर्तृत्वेस्मृतिः । ... | ... | ... | ... | १५७ |
| ३९ | ईश्वरस्यक्लेशकर्मविपाकादिविकारशून्यत्वम् ... | ... | ... | ... | १५७ |
| ४० | कणादाक्षपादमतखण्डनम् ... | ... | ... | ... | १५८ |
| ४१ | शैवशाक्तादिमतखण्डनम् ... | ... | ... | ... | १५९ |
| ४२ | चार्वाकमतखण्डनम् ... | ... | ... | ... | १६० |
| ४३ | जैनमतखण्डनम् ... | ... | ... | ... | १६२ |
| ४४ | वैभाषिकसौत्रान्तिकमतखण्डनम् ... | ... | ... | ... | १६४ |
| ४५ | योगाचारमतखण्डनम् ... | ... | ... | ... | १६५ |
| ४६ | माध्यमिकमतखण्डनम् ... | ... | ... | ... | १६४ |
| ४७ | परंऽव्ययइत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् ... | ... | ... | ... | १६६ |
| ४८ | तदात्मानमित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् ... | ... | ... | ... | १६७ |
| ४९ | ब्रह्मविद्ब्रह्मैवेत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् ... | ... | ... | ... | १६७ |
| ५० | यथानद्यइत्यादिश्रुतिसंग्रहः ... | ... | ... | ... | १६७ |
| ५१ | तत्त्वमसीतिश्रुतिवाक्यव्याख्यानम् ... | ... | ... | ... | १६८ |
| ५२ | उक्तार्थेस्मृत्युदारणम् ... | ... | ... | ... | १७० |
| ५३ | स्वमपीतइत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् ... | ... | ... | ... | १७१ |
| ५४ | यथास्मिन्नाकाशइत्यादिश्रुतिसंग्रहः ... | ... | ... | ... | १७१ |
| ५५ | जीवेशभेदविषयकश्रुत्युक्तनवदृष्टान्तेषु प्रथमदृष्टान्तसंग्रहः | ... | ... | ... | १७२ |
| ५६ | द्वितीयदृष्टान्तसंग्रहः ... | ... | ... | ... | १७३ |
| ५७ | तृतीयदृष्टान्तसंग्रहः ... | ... | ... | ... | १७३ |
| ५८ | चतुर्थदृष्टान्तसंग्रहः ... | ... | ... | ... | १७४ |
| ५९ | पञ्चमदृष्टान्तसंग्रहः ... | ... | ... | ... | १७५ |
| ६० | षष्ठदृष्टान्तसंग्रहः ... | ... | ... | ... | १७५ |
| ६१ | सप्तमदृष्टान्तसंग्रहः ... | ... | ... | ... | १७६ |
| ६२ | अष्टमदृष्टान्तसंग्रहः ... | ... | ... | ... | १७७ |

| | | | | |
|---|-----|-----|-----|-----|
| ६३ नवमदृष्टान्तसंग्रहः | ... | ... | ... | १७७ |
| ६४ योऽसावादित्यइत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | ... | १७८ |
| ६५ योऽन्यां देवतामित्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | ... | १७९ |
| ६६ नान्योऽतोऽस्तिदृष्टेत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | ... | १७९ |
| ६७ यदूर्ध्वमित्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | ... | १८० |
| ६८ तदेतदक्षरमित्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | ... | १८० |
| ६९ अन्तर्यामिप्रकरणस्यभेदपरत्वेसूत्रकृदभिप्रायः | ... | ... | ... | १८१ |
| ७० अतोऽन्यदार्त्तमिति श्रुतिसंग्रहः | ... | ... | ... | १८१ |
| ७१ द्वितीयाद्वैभयमित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | ... | १८१ |
| ७२ तस्मादेकाकीत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | ... | १८१ |
| ७३ य एतस्मिन्नुदरमन्तरमित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | ... | १८२ |
| ७४ अस्त्यन्यो भूतात्मा स इत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | ... | १८२ |
| ७५ जीवेशाभेदसिद्धिप्रकारः | ... | ... | ... | १८२ |
| ७६ प्रतिबिम्बस्य सत्यत्वम् | ... | ... | ... | १८४ |
| ७७ एकधाबहुधेत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | ... | १८४ |
| ७८ माय्यभिमतजीवप्रतिबिम्बत्वखण्डनम् | ... | ... | ... | १८४ |
| ७९ ब्रह्मणोजीवत्वस्य खण्डनम् | ... | ... | ... | १८५ |
| ८० जीवेशयोर्मायिकभेदस्य खण्डनम् | ... | ... | ... | १८६ |
| ८१ हरेःप्रतारकत्वस्यासम्भवः | ... | ... | ... | १८६ |
| ८२ प्रपञ्चवास्तवसत्यत्वम् | ... | ... | ... | १८७ |
| ८३ प्रपञ्चस्य कल्पितसत्तायाः खण्डनम् | ... | ... | ... | १८७ |
| ८४ विश्वंसत्यमित्यादिश्रुत्युदाहरणम् | ... | ... | ... | १८९ |
| ८५ सलिल एकोदृष्टेत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | ... | १८९ |
| ८६ सदेवसोम्येत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | ... | १८९ |
| ८७ तम आसीदित्यादिश्रुतिनिर्देशः | ... | ... | ... | १८९ |
| ८८ एकमेवेत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | ... | १९३ |
| ८९ तिस्रोदेवता इत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | ... | १९४ |
| ९० नेहनानास्तीत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | ... | १९४ |
| ९१ यत्रत्वस्येत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | ... | १९५ |
| ९२ यद्वैतं न पश्यतीत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | ... | १९६ |
| ९३ वाचारम्भणमित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | ... | १९६ |

| | | | |
|---|-----|-----|-----|
| ९४ सर्वयदयमित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | १९८ |
| ९५ यस्मात्परमित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | १९८ |
| ९६ प्राणावैसत्यमित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | १९८ |
| ९७ सत्यंज्ञानमित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | १९९ |
| ९७ इन्द्रोमायाभिरित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | १९९ |

इति षष्ठोऽध्यायः ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

| | | | |
|--|-----|-----|-----|
| १ सर्वासांश्रुतीनांभेदपरत्वम् | ... | ... | २०० |
| २ अथाऽत आदेश इत्यादिश्रुतितात्पर्यप्रकटनम् | ... | ... | २०० |
| ३ नवाअरे सर्वस्येत्यादिश्रुतितात्पर्यविशदीकरणम् | ... | ... | २०१ |
| ४ सयथादुन्दुभेरित्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | २०२ |
| ५ सवाअयमात्मेत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | २०२ |
| ६ रूपंरूपप्रतिरूपमित्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | २०३ |
| ७ अस्मादात्मन इत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २०३ |
| ८ यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूदित्यादिश्रुत्युदाहरणम् | ... | ... | २०३ |
| ९ यथोर्णनाभिरित्यादिश्रुत्यातत्समर्थनम् | ... | ... | २०३ |
| १० जीवेशावाभासेनेत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २०४ |
| ११ न तत्ररथानरथयोगा इत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २०६ |
| १२ आत्मैवेदमग्र इत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २०८ |
| १३ ब्रह्मवाइदमित्यादिश्रुतिव्याख्यानम्... | ... | ... | २०८ |
| १४ तद्योयोदेवानामित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २०८ |
| १५ तद्वैतत्पश्यन्नृषिरित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् । | ... | ... | २०८ |
| १६ यएवंवेदेत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २१० |
| १७ अप्यनेवंविदित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २१० |
| १८ तत्साक्षादपरोक्षाद्इत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २११ |
| १९ इदंसर्वमप्स्वोतंचेत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २११ |
| २० किंज्योतिरयं पुरुष इत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | २१२ |
| २१ सवाएष एतस्मिन्नित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २१२ |
| २२ तमेतं वेदानुवचनेनेत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २१३ |
| २३ योभूमा तत्सुखमित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २१४ |
| २४ स एवाऽधस्तात्स इत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २१४ |

| | | | | |
|----|---|-----|-----|-----|
| २५ | इशावास्यमित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २१४ |
| २६ | यस्तुसर्वाणिभूतानीत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २१४ |
| २७ | यस्मिन्सर्वाणिभूतानीत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २१५ |
| २८ | योऽसावसौपुरुषइत्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २१५ |
| २९ | ब्रह्मविदाप्नोतिपरमित्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | २१५ |
| ३० | तस्माद्वापतस्मादित्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | २१५ |
| ३१ | अम्भस्यपारेइत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | २१६ |
| ३२ | अणोरणीयानित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २१६ |
| ३३ | सहस्रशीर्षदेवमित्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | २१७ |
| ३४ | अन्यत्रधर्मादित्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | २१७ |
| ३५ | नाऽयमात्मेत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | २१८ |
| ३६ | क्रतंपिबन्तावित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २१८ |
| ३७ | यस्तुविज्ञानवानित्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | २१९ |
| ३८ | इन्द्रियेभ्यपराइत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | २१९ |
| ३९ | यस्मिँल्लोकाइत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | २२० |
| ४० | नतत्रसूर्योभातीत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | २२० |
| ४१ | अन्यदेव तद्विदितादित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २२१ |
| ४२ | यद्वाचाऽनभ्युदितमित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २२१ |
| ४३ | तेमन्येविदितमित्यादिश्रुतिव्याख्यानम् | ... | ... | २२२ |
| ४४ | कस्मिन्नुभगव इत्यादिश्रुतिसंग्रहः | ... | ... | २२२ |
| | आशीर्वादात्मकं मङ्गलम् | ... | ... | २२३ |
| | उपसंहारः ग्रन्थकर्तृकुलदेशनिर्देशः । | ... | ... | |

इति सम्पूर्णग्रन्थविषयसूची

श्रीहयग्रीवाय नमः ।
ब्रह्मचारिश्रीवनमालिमिश्ररचितः
श्रुतिसिद्धान्तापरनामा

वेदान्तसिद्धान्तसंग्रहः

द्वैताद्वैतदर्शनानुगतः
तद्दर्शनीयतात्पर्यकतत्कृतपद्यकदम्बव्याख्या-
नरूपः ।

श्रीगणेशाय नमः ॥

गोप्या बद्ध उलूखले निजवशो ध्यायन्न नीतिं निजा-
मिच्छन् रक्षकमात्मनश्चपलदृग् बन्धं विमोक्तुं द्रुमौ ॥
योऽभाङ्गादपिभाषितं प्रविदधद्ब्रह्मादिभिः केवलं-
चित्तेनैव विशोधितेन विदितोऽव्यान्नन्दसूनुः स नः ॥ १ ॥

श्रीमद्भाष्यकृतो वन्दे टीकाकृतस्तथा सतः ।
तदुच्छिष्टं हि संगृह्यन् गच्छेयं पूज्यतां सताम् ॥ २ ॥

संग्रहेणोदिता येऽर्थाः कारिकाभिः सतां मुदे ।
वैशद्यं क्रियते तेषां सुबोधाय हि कौतुकात् ॥ ३ ॥

नत्वा श्रीगुरुपादाब्जं क्रियते वनमालिना ।
सन्तोषाय मुकुन्दस्य श्रुतिसिद्धान्तसंग्रहः ॥ ४ ॥

अथ निर्विघ्नग्रन्थसमाप्तिकामनया कृतं विशिष्टेष्टदेवतास्मरण-
रूपमङ्गलं शिष्यशिक्षायै ग्रन्थादौ निबध्नाति

श्रीरचलोरसि भाति यदीये गीर्वदने प्रचकास्त्यनवद्या ।

ब्रह्मशिवेन्द्रमनोभिरगम्यो वाजिमुखोऽवतु नः स हि विष्णुः ॥ १ ॥

श्रीरिति । अचला चापल्यादिदोषरहिता सती सदैव भाति, ब्रह्मा-
दिभिर्ध्यायमाना सती देदीप्यते । गीर्भारती अनवद्या प्रमादादिदोष-

हीना स्वाभाविक्येव चकास्ति । प्रसादं विना ब्रह्मादिमनोभिरप्य-
गम्यः विष्णुर्दशतः कालतो गुणतश्च परिच्छेदशून्यः ॥ १ ॥

ग्रन्थाधिकारिणमाह—

अथ शमादिसंपन्नो माधवे भक्तिमान्सुधीः ।

इह चामुत्र भोगेषु विरक्तो गुरुभक्तिमान् ॥ २ ॥

अथेति । अथ स्वोचितनिष्कामकर्मणाऽन्तःकरणशुद्ध्यनन्तरं शमा-
दियुतः शान्तो दान्तस्तितिक्षुरपरतः समाहितो भूत्वाऽत्मन्येवात्मा-
नं पश्येत् । आत्मनि मनसि आत्मानं हरिम् । माधवे भक्तिमान् ।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्वैव कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन इति श्रुतेः ।

शब्दस्पर्शरूपरसादिभोगेषु एतल्लोकस्वर्गलोकादिभवेषु विरक्तः ।

तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः
क्षीयते परीक्ष्य कर्मचितान् लोकान् ब्राह्मणो निर्वेदमायायादिति श्रुतेः ॥ २ ॥

नित्यानित्यविवेकी च मुमुक्षुर्भेषपाशतः ।

जिज्ञासुः परमे तत्त्वे द्विजः शीलमहार्णवः ॥ ३ ॥

स्वरूपतो गुणतो देहतश्च नित्यो हरिरनित्यमन्यादिति विवेकवान्
भवपाशतः जन्ममरणादिरूपसंसारबन्धान्मोक्तुकामः परमे तत्त्वे
जिज्ञासुः, द्विजः जातगर्भाधानादिसंस्कारः, शीलं विकर्मणि लज्जा
तत्समुद्रः, विप्रं प्राप्य स्वाभीष्टं पृष्टवानित्यग्निमेणान्वयः ॥ ३ ॥

गुरोर्लक्षणानि निर्दिशति ।

शमदमादिसंपन्नं वेदवेदाङ्गपारगम् ।

परसंशयञ्छेत्तारं साक्षात्कृतेन्दिरापतिम् ॥ ४ ॥

शमेति । शमेत्यादिना प्रमादादिराहित्यं, वेदेत्यादिना परबोधनसा-
मर्थ्यं, साक्षादित्यादिना शिष्यस्य ब्रह्मापरोक्ष्यसम्पादनसामर्थ्यं,
सूचितम् ॥ ४ ॥

परोपकारसर्वस्वं दयाद्रीकृतचेतसम् ।

सुमुखं सुभगं दक्षं विप्रं विविक्तसेविनम् ॥ ५ ॥

परोपकारः सर्वस्वं धनं यस्यानेन विप्रलम्भकत्वादिदोषा वा-

रिताः । तत्र हेतुर्दयेति । सुमुखं प्रसन्नवदनं दक्षं संस्कृतभाषादिना
शिष्यान् बोधयितुं प्रवीणं विविक्तसेविनमव्यासकम् ॥ ५ ॥

एकान्ते च स्थितं प्राप्य प्राणिपत्य धियां निधिम् ।

स्वाभीष्टं पृष्ठवान् धीरः सर्वभूतहिते रतम् ॥ ६ ॥

एकान्ते मोक्षमार्गानधिकारिजनशून्ये । स्वाभीष्टं मोक्षोपायम् ६

शिष्य उवाच

कथं दुःखं सुखं च स्यात्कथं तद्द्वयवर्जनम्

किं पापं त्वथ पुण्यं च कुतस्तेषां समुद्भवः ॥ ७ ॥

दुःखादिकं वक्ष्यमाणम् ॥ ७ ॥

दुःखहेतूनाह—

गुरुरुवाच

दुःखदेन्द्रियभोगेषु संसक्तिर्गर्द्धनं धने ।

देहगेहादिसंसक्तिरहंममेतिबुद्धितः ॥ ८ ॥

दुःखदेति । ऐहिकामुष्मिकैन्द्रियिकभोगेष्वासक्तिः, देहगेहादावहं-
ममेतिबुद्धितो या संसक्तिः सा च संसाररूपदुःखदा भवति । गर्द्धनं-
तृष्णा तथा ॥ ८ ॥

तदर्थमेव स्पष्टयति—

विदधाति रतिं यत्र यत्रानात्मनि मन्दधीः ।

व्यथयेद्धि तदेवेमं हृदये शूलमर्पितम् ॥ ९ ॥

विदधातीति । अनात्मनि स्वरूपपरेशाभ्यामुपदेष्टुश्च भिन्ने रतिं
प्रीतिं, तदेव वस्तु इमं नरं हृदयेऽर्पितं शूलं यथा तथा व्यथयेत् ।

यतो यतो निवर्त्तेत विमुच्येत ततस्ततः ।

एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः ॥

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान् ।

तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्खव इति स्मृतेः ॥ ९ ॥

अथ सुखहेतून्निरूपयति—

अनिच्छा सर्वभोगेषु निःस्पृहत्वं धनादिषु ।
अहंममेतिबुद्धेश्चाभावो देहगृहादिषु ॥ १० ॥

अनिच्छेति स्पष्टम् ॥ १० ॥

सर्वानात्मस्वनासङ्गः सुखबीजं तदुच्यते ।

सर्वदुःखसुखानां हि पापं पुण्यं च कारणम् ॥ ११ ॥

अनासङ्गोऽनासक्तिः ॥ ११ ॥

पापमाह—

पापं वेदनिषिद्धं यद् विहिताकरणं तथा ।

विपरीतमनुष्ठानं सकामं कर्म चैव हि ॥ १२ ॥

पापमिति । वेदनिषिद्धं कलञ्जभक्षणादिकं, विहितस्य सन्ध्या-
वन्दनादेरकरणं, विपरीतं ब्राह्मणादेर्विहितं प्रतिग्रहादिकं क्षत्रिया-
दिनाऽनुष्ठितं हि निश्चयेन पापं च पुनः सकामं कर्म पापमेव तज्ज-
नितफलभोगावसाने पर्यायेण दुःखस्यावर्जनीयत्वात् ॥ १२ ॥

पुण्यमाह—

विपरीतमितः पुण्यं यद्यत्स्याद्धरितोषकम् ।

हरितुष्टिः परं पुण्यं पापं तद्वर्जनं पुनः ॥ १३ ॥

विपरीतमिति । इत उक्ताद्विपरीतं यद्यल्लौकिकं वैदिकं चानि-
षिद्धं भगवदार्पितं सद्धरितोषकं तत्पुण्यमेव परं पुण्यं मोक्षाख्योत्कृष्ट-
फलहेतुत्वात् तद्वर्जनं हरितोषककर्मानुष्ठानम् ॥ १३ ॥

तयोर्बीजं हरेः शक्तिर्जीवं प्रत्यावृणोति सा ।

जैवं पूर्णसुखं विष्णोर्धर्मान्स्वरूपमेव च ॥ १४ ॥

तयोः पुण्यपापयोर्बीजं प्रयोजिका हरेरधीनत्वात्तच्छक्तिरित्युच्यते
नेत्रयुक्ताङ्गुलिर्नेत्रं प्रति सूर्यमिव, जीवं प्रति विष्णोः स्वयोग्याग्नेय-
धर्मास्तत्स्वरूपं च जीवस्य पूर्णानन्दं मोक्षमाविर्भावणीयश्चावृणोति,
अनाद्यविद्यया देहादावहमित्यादिधीस्ततः कर्मादौ ममेतिधीस्तत-
स्तत्फलभोगाय देहान्तरावासिस्ततः पुनःपुनर्देहान्तरमिति घटी-
यन्त्रवन्नीचोच्चयोनिषु परिभ्रमणमिति भावः ॥ १४ ॥

अविद्यायाः स्वरूपनिर्देशपूर्वकमनर्थहेतुतां प्रपञ्चयति प्रतिजी-
वमिति त्रयोदशभिः ।

प्रतिजीवं विभिन्ना स्यात्सत्या च भावरूपिणी ।

अतस्मिंस्तद्विद्यो हेतुर्निदानं जीवसंस्तौ ॥ १५ ॥

श्रवणमननादिजन्येन नियमादृष्टसहकृतेन भगवदापरोक्ष्येण
प्रसादद्वारेण निवर्त्यत्वात्सत्या न हि मिथ्याभूतशुक्तिरूप्यादि-
निवृत्तौ ज्ञानभिन्नं नियमादृष्टादिकमपेक्ष्यते । अतस्मिन्ननात्मनि
देहादौ तद्विद्य आत्मत्वधियो हेतुः वक्ष्यमाणसंस्तौ निदानं
प्रयोजिका । अत्रायं विवेकः, द्वे अविद्ये एकया जीवं प्रतीश्वर-
स्तद्धर्माश्चाव्रियन्ते, अन्यया जीवपूर्णानन्द आच्छाद्यते, ईश्वरापरोक्ष्येण
प्रथमाया निवृत्तिस्ततो भगवन्महाप्रसादेन द्वितीयाया निवृत्तिः वि-
मुक्तश्च मुच्यत इति ह्यविद्याद्वित्वे मानम् ॥ १५ ॥

सा सूते देहगेहादावहंममेतिदुर्ग्रहम् ।

स्वातन्त्र्यज्ञानमाधत्ते जीवे परमदुःखदम् ॥ १६ ॥

सूते जनयति दुर्ग्रहं दुरभिमानमाधत्ते सम्पादयति अहं स्व-
तन्त्रः कर्त्तेति ज्ञानात्कर्मतत्फलसम्बन्धस्ततस्तद्भोगायोच्चनीचयो-
निप्राप्तिरिति स्वातन्त्र्यज्ञानं परमदुःखहेतुः, हरिप्रेरणया देहादौ क-
र्मोत्पत्तिर्नाहं स्वतन्त्रः कर्त्ता न मदीयं कर्म तत्फलं तथेति ज्ञानेनान्तः-
करणशुद्धिज्ञानभगवदापरोक्ष्यप्रसादस्ततो मुक्तिरिति भावः ॥ १६ ॥

सत्यायाः प्रकृतेः कार्यं यदन्तःकरणादिकम् ।

तत्रोत्पन्नसुखादीनां चित्सम्बन्धार्जिका मता ॥ १७ ॥

चिति जीवे दुःखादिसम्बन्धसम्पादिका ॥ १७ ॥

तत्र दृष्टान्तमाह—

क्षेत्रोत्पन्नधनेन स्यात्पुरुषो धनवान्न भूः ।

यथा वृक्षजदण्डेन पुमान् दण्डी भवेन्न सः ॥ १८ ॥

क्षेत्रेति । यथा क्षेत्रजधनेन क्षेत्रं धनीति वृक्षदण्डेन च वृक्षो द-
ण्डीति च न व्यवहियते किं तु पुमानेव तथा व्यवहियते ॥ १८ ॥

दार्ष्टान्तिकमाह—

एवं बुद्धिजदुःखाद्यैः संसृष्टश्च भवेत्पुमान् ।

संसारी दुःखसंसर्गाज् ज्ञानानन्दोऽपि सन्स्वतः ॥ १९ ॥

एवमिति । स्वतः स्वभावाज् ज्ञानानन्दस्वरूपोऽपि जीवोऽविद्यासहकृतस्वामित्वादिसम्बन्धेन बुद्ध्युत्पन्नदुःखादिभिः संसृष्टः सन् संसारी दुःखसंसर्गीति व्यवह्रियते ॥ १९ ॥

अनाद्यविद्यया देहे स्वीयत्वधीस्ततो भवेत् ।

क्रियमाणे विकर्मादौ हरिप्रेरणया तथा ॥ २० ॥

अविद्यया देहेन्द्रियादौ स्वीयत्वधीस्ततो धीतोऽन्तर्यामिप्रेरणया क्रियमाणेषु कर्मसु तथैव स्वीयत्वधीस्ततः संसरणम् ॥ २० ॥

अविद्यासम्बन्धादेव जीवस्य संसृतिं स्फुटयति सम्यन्धइति द्वाभ्याम् ।

सम्बन्धोऽस्याविद्यया स्वामितादि-

दुःखादेः स्यात्तां विना नास्ति जीवे ।

नातो मुक्ता ईश्वरा भुञ्जते त-

ज्जीवन्मुक्ता भुञ्जते लेशतो वै ॥ २१ ॥

जीवस्यानन्दघनस्य यतोऽविद्यया विलक्षणस्वस्वामित्वादिः सम्बन्धो भोगनियामको भवत्यतो मुक्ता अविद्यागन्धरहितास्तदुःखं न भुञ्जते तथेशोपि न भुङ्के जीवन्मुक्तानामविद्यालेशसङ्गावाल्लेशतो भुञ्जते स्वप्नादुत्थितः क्षणं स्वाप्रिकदुःखमिव वै प्रसिद्धो जनकवशिष्टादीनां प्राकृतसुखस्य दुःखस्य च भोगस्ते हि जीवन्मुक्ताः सुप्रसिद्धाः ॥ २१ ॥

भोक्तुं तत्फलमागच्छेदधर्मोत्तममध्यमाः ।

पराधीनो नरो योनीरपूर्वा इव चानिशम् ॥ २२ ॥

तेषां कर्मणां फलानि भोक्तुमधमादियोनीरागच्छेत् प्राप्नुयादेव पराधीनः कर्मतन्त्रः पर्यायेण तज्जातीया योनयो बहुवारं प्राप्ता-अविद्यया विस्मरणशालित्वाद्पूर्वा इव ताः प्राप्नोति अनिशमाप्रलयम्, आमुक्तिं च निरन्तरं योनिषु भ्रमति ॥ २२ ॥

नन्वन्तःकरणोत्पन्नदुःखादिना कथं जीवो दुःखी भवेदित्यत आह-

पुत्रबान्धवमित्रादेर्दुःखित्वे दुःखिता स्फुटा ।

दृश्यते कुधियां लोके तथा जीवस्य भोजनम् ॥ २३ ॥

पुत्रेति। यथा पुत्रादिष्वभिनिवेशात्तदूदुःखादिना मित्रादेर्दुःखित्वं-
स्फुटं दृश्यते तथाऽन्तःकरणादावविद्यया संपादितसम्बन्धेन जीव-
स्यान्तःकरणोत्पन्नदुःखादिभोगः ॥ २३ ॥

यथा दुर्जनसंसर्गात्साधुर्दुर्जनतां व्रजेत् ।

दुष्टपुत्रस्य संबन्धात्पिता दुष्टो भवेद्यथा ॥ २४ ॥

स्पष्टम् ॥ २४ ॥

द्रवत्वं ह्यग्निसंयोगात्ताम्रादौ जायते यथा ।

मादकद्रव्यसंबन्धाद् मत्तता जायते यथा ॥ २५ ॥

स्पष्टम् ॥ २५ ॥

अस्वाभाविक एषां ह्यन्यथा भावो न च स्वतः ।

तथाऽविद्याऽऽदिसंबन्धाद्वास्तवी जीवसंसृतिः ॥ २६ ॥

संसृतिर्जन्ममरणादिलक्षणा,ऽविद्याऽऽदिसम्बन्धात्पूर्णानन्दघन-
स्यापि जीवस्य भवति न तां विना ॥ २६ ॥

विष्णुभक्तिवैमुख्यमेव मुख्यं संसृतिबीजमित्याशयेनाह-

आर्द्रा विष्णौ भक्तिवैमुख्यवृष्ट्याऽ-

जाऽविद्या भूरस्य सूतेऽभिमानम् ।

देहादिष्वस्मान्नवेद् दुःखदुःखं-

पूर्णानन्दस्यापि जीवस्य सत्यम् ॥ २७ ॥

आर्द्रेति। अजाऽनाद्याऽविद्या भूमिर्हरिभक्तिवैमुख्यरूपमेघेन सिक्ता
सती अस्य देहादिष्वहंममेतिदुरभिमानं सूते जनयति, अस्मादभिमा-
नाद् आनन्दस्वरूपस्यापि जीवस्य सत्यमेव दुःखाद् दुःखं नीचोच्च-
योनिप्राप्तिः तत्रत्यदुःखानुभवरूपं संसरणं भवति न तु जपापुष्प-
लौहित्यं स्फटिक इवान्तःकरणनिष्ठं जीवे दुःखादिकमारोपितं तथा

सति जीवे दुःखित्वादिवोधकागमस्याप्रामाण्यापत्तेः ॥ २७ ॥

सकामं सुकर्म कुर्वतां संसृतिमाह—

विष्ण्वनर्पितकर्मा ना सकामकर्मकृत्तथा ।

गच्छत्यूर्ध्वं यथायोग्यं तत्कर्मफलभुक्तये ॥ २८ ॥

विष्ण्वति । विष्णावनर्पितानि कर्माणि येन स यथा सकामकर्म कृत्वा पुमान् स्वकर्मानुसारेणोर्ध्वं महर्लोकादिकं प्रति गच्छति ॥ २८ ॥

ननु स्वर्गादिभोगस्य पुरुषार्थत्वात्तदर्थमेव कर्म कार्यं, किं हरिभक्त्या तत्राह—

नाममात्रं सुखं तत्र दुःखप्राचुर्यमेव तु ।

स्पृष्टाऽसूयादिमात्सर्यं स्यात्तुल्यातिशयादिषु ॥ २९ ॥

नामेति । स्पृष्टा परोत्कर्षासहिष्णुत्वम् असूया गुणेषु दोषा-
विष्करणं मात्सर्यादयोऽत्यन्तदुःखहेतवः तुल्यादिविषयका जाय-
न्ते ॥ २९ ॥

कामक्रोधादिसम्पर्कः शोकमोहभयादिव ।

एवं दुःखसमूहेन पीडितः सुखलेशभाक् ॥ ३० ॥

स्पष्टम् ॥ ३० ॥

ततः पातमाह—

अनुभूय सुखाभासं तत्रैन्द्रियिकमादरात् ।

तदन्ते पातितोऽनिच्छन् सुकृतस्य समापनात् ॥ ३१ ॥

अनुभूयेति । स्पष्टम् ॥ ३१ ॥

वेपमानः पतत्यर्वाङ् देवसञ्चालितः कुधीः ।

धूममभ्रं ततो मेघमौषधीमन्नमेव च ॥ ३२ ॥

आकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रमभवत्यभ्रं
भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षतीति दिव स्थाणून् गच्छति
स्थाणुभ्यः पितरं पितुर्मतिरं मानुः शरीरं शरीरेण जायत इति च
श्रुतेः ॥ ३२ ॥

पराधीनोऽन्नमार्गेण पितरं प्रविशेत्ततः ।

रेतोरूपेण गर्भे चाविशेद्दीनोऽवशन्नरः ॥ ३३ ॥

स्पष्टम् ॥ ३३ ॥

तत्र जन्मसहस्राणां स्मरणं जायते स्फुटम् ।

अतिदुःखी ततो दीनोऽधोमुखो हि शुचाऽर्पितः ॥ ३४ ॥

प्रथमान्तानामर्वाङ्मुखश्चलेदित्यनेनान्वयः ।

तत्र गर्भे, ततः स्मरणादतिदुःखी शुचा शोकेनार्पितो व्यासः ॥ ३४ ॥

चिन्तयन् स्वकृतं कर्म भयात्सञ्जातवेषथुः ।

सप्रज्ञो ह्येव विद्भोक्ता कृमिदंशनपीडितः ॥ ३५ ॥

सूकरादीनां विस्मरणशालित्वाद्विद्भुभक्षणे न दुःखमेतस्य स्मृति-
शालित्वादतिदुःखमिति भावः ॥ ३५ ॥

मातृभृक्तोष्णतिक्ताद्यैः सर्वाङ्गपीडितोऽवशात् ।

गर्भे स्वल्पावकाशे हि परितो जालसंवृतः ॥ ३६ ॥

स्पष्टम् ॥ ३६ ॥

चेष्टां कर्तुं न सामर्थ्यं केवलोच्छ्वासचेष्टनः ।

नारकीं शासनां स्मृत्वा भवेद् दुःखेन विह्वलः ॥ ३७ ॥

स्पष्टम् ॥ ३७ ॥

संस्मरन्नपि गोविन्दं न शक्तस्तस्य सेवने ।

सङ्कटान्मामितो नाथ दयासिन्धो विमोचय ॥ ३८ ॥

स्पष्टम् ॥ ३८ ॥

त्वामेवाराधयिष्यामि करिष्ये तव शासनम् ।

यतो मे पुनरेवं न भवेत् क्लेशपरम्परा ॥ ३९ ॥

यतस्तवाराधनात् ॥ ३९ ॥

सामर्थ्यं नास्ति मे नाथात्र तवाराधने विभो ।

त्वत्कृतं ह्युपकारं न विस्मरिष्याम्यतः परम् ॥ ४० ॥

स्पष्टम् ॥ ४० ॥

एवं स प्रलपन्नार्त्तो हरिणा कालशक्तिना ।

प्रेरितेन हि वातेन प्रक्षिप्तोऽर्वाङ्मुखश्चलेत् ॥ ४१ ॥

प्रसूतिवातेन ॥ ४१ ॥

योनिद्वारं ततः प्राप्तः सन्नसर्वाङ्गविह्वलः ।

भुङ्क्ते तत्र व्यथां दीनः कोटिदृष्टिकदंशजाम् ॥ ४२ ॥

तत्र योनिद्वारे, सन्नानि पीडितानि सर्वाङ्गाणि यस्य ॥ ४२ ॥

अतिसूक्ष्मात्ततः सूच्या अग्रात्सूत्रमिवान्धधीः ।

योनिद्वारात्ततो भूमौ पातितो दैवतन्त्रितः ॥ ४३ ॥

ततस्तदनन्तरमतिसूक्ष्मात्सूच्यग्रात्सूत्रमिव ततो योनिद्वाराद्
भूमौ पातितः, दैवमदृष्टं तदधीनः ॥ ४३ ॥

मूर्च्छितो घटिकामात्रं लब्धसंज्ञः स्मरन्नथ ।

नानायोनिदकर्माणि कृतान्येवात्मना पुरा ॥ ४४ ॥

आत्मनैव स्वेनैव कृतानि ॥ ४४ ॥

आवृतोऽथ हरेः शक्त्या माययाऽहंमेति हि ।

जातदुष्टमतिर्मूढो सकृद्रौति स्वदिष्टभुक् ॥ ४५ ॥

रौति रुदिति, दिष्टं कर्मफलं तद्भुक् ॥ ४५ ॥

क चित् क्षुत्पीडितो रौत्यजीर्णादित्युच्यते जनैः ।

कफेन व्यथितः कापि पित्तकोपेन सांप्रतम् ॥ ४६ ॥

सांप्रतमधुना ॥ ४६ ॥

एवं नानाव्यथाजालैर्बाल्ये संपीडितोऽवशः ।

कौमारेऽपि तथा मूढः क्रीडनासक्तमानसः ॥ ४७ ॥

स्पष्टम् ॥ ४७ ॥

पौगण्डे शिक्षितो वृत्तौ पठनादौ निजैर्बलात् ।

यौवने कामतर्पायैः शोकमोहभयादिभिः ॥

क्रोधेर्ण्यामत्सराद्यैश्च कुटुम्बैः पीडितो भृशम् ॥ ४८ ॥

स्पष्टम् ॥ ४८ ॥

दारुणान्येव कर्माणि पापिष्ठः कुरुतेऽनिशम् ।

देवविप्रातिथीन् वाचाऽपि नाराधयति क्वचित् ॥ ४९ ॥

स्पष्टम् ॥ ४९ ॥

वार्द्धक्ये जरया ग्रस्तः सर्वाङ्गोद्भूतवेपथुः ।

पुरुषार्थोज्झितो मूढस्त्यक्तो बान्धवज्ञातिभिः ॥ ५० ॥

स्पष्टम् ॥ ५० ॥

ग्रासं भक्षयति श्वेव पतितो द्वारि मूढधीः ।

कफेनावद्धकण्ठोऽपि देहं त्यक्तुं न चेच्छति ॥ ५१ ॥

आवद्धोऽवरुद्धः कण्ठो यस्य ॥ ५१ ॥

मनोराज्यासमाप्तौ हि यमदूताः समागताः ।

वध्यतां वध्यतां पापी ब्रुवन्तो घोरदर्शनाः ॥ ५२ ॥

स्पष्टम् ॥ ५२ ॥

पाशैर्वद्धो नृशंसैस्तैस्ताड्यते मुद्गरैर्भृशम् ।

त्यक्तुं नोत्सहते देहं त्याज्यते तैः स निर्दयैः ॥ ५३ ॥

यं देहं त्यक्तुं नेच्छति, स तैस्त्याज्यते ॥ ५३ ॥

पाशैर्वध्या ततो नीतस्ताड्यमानः पथि भ्रमन् ।

श्रान्तः क्षुत्तृप्परीतोऽसौ हन्यमानो दयोज्झितैः ॥ ५४ ॥

स्पष्टम् ॥ ५४ ॥

पतन्नुत्थापितो दीनो मुहूर्त्तेनापितः पुरीम् ।

यमराजेन यत्पृष्ठं स्वीकरोत्येव तद्भयात् ॥ ५५ ॥

आपितः प्रापितः ॥ ५५ ॥

यमराजेन दत्ताङ्गैर्दयालेशोज्झितैः यमैः ।

विपाकं कर्मणां भोक्तुं नीतः संयमनस्थलम् ॥ ५६ ॥

स्पष्टम् ॥ ५६ ॥

सन्तप्तां बालुकाभूमिं प्राप्य सूर्यकरैर्भृशम् ।

तापितो दुःखदुःखी सन् भुङ्क्ते कर्मफलं शुचा ॥ ५७ ॥

शुचा शोकेन युक्तः सन् भुङ्क्ते ॥ ५७ ॥

कुम्भीपाकं सूचिकाद्वारमुग्रं खद्गाकारं रौरवं गृध्ररूपम् ।

तामिस्रादीन् घोररूपानुपेत्य भुङ्क्ते दुःखं दीनचेता ह्यजस्रम् ॥ ५८ ॥

सूच्यग्रवद् द्वारं यस्य खद्गवदाकारो यस्यासिषत्रनामकं गृध्र-
रूपं कुठाराकारचञ्चुभिर्गृध्रैर्व्याप्तमजस्रं निरन्तरं यावत्पापसमाप्ति
भुङ्क्ते ॥ ५८ ॥

भोगावसाने हि ततो नियुक्तो वृक्षादिकृम्यादिसरीसृपादीन् ।

ग्राम्यान्वनस्थांश्च पशूनुपेत्य भुङ्क्ते विपाकं निजकर्मणां सः ॥ ५९ ॥

मानुष्यं क्रमतः प्राप्तो यवनादिकुयोनिषु ।

पापं कृत्वा पुनर्गच्छेत्तादृशीमेव यातनाम् ॥ ६० ॥

ग्राम्यान् सूकरादीन् वनस्थान् सृगालादीन् ॥ ५९ ॥ ६० ॥

स्वधर्माचरणं तत्र निषिद्धस्य च वर्जनम् ।

कुर्याच्चेत् क्रमतो याति शूद्रत्वं वैश्यतां सुधीः ॥ ६१ ॥

तत्र यवनचाण्डालादियोनिषु हिंसास्तेयाद्यधर्मं विहाय स्वोचि-
तकटाक्रियादिना जीविकां कुर्वन् तद्देहान्ते शूद्रत्वं याति तत्र निषिद्ध-
विहाय त्रिवर्णसेवादिना जीविकां कुर्वन् तद्देहान्ते वैश्यतामेति ॥ ६१ ॥

क्षत्रियो विप्रतामेति ऋषिर्ब्रह्मर्षितां ततः ।

पापकर्त्ता सकामो वा तमेवानर्थमाप्नुयात् ॥ ६२ ॥

भ्रमति ह्यनिशं मूढो घटीयन्त्रमिवावशः ।

अतः काम्यं निषिद्धं च दुःखबीजं त्यजेद् बुधः ॥ ६३ ॥

इति श्रीवनमालिविरचिते वेदान्तसिद्धान्तसंग्रहे

जीवसंस्ततिवर्णननामा प्रथमोऽध्यायः ।

वैश्यो निषिद्धं वर्जयन् स्वधर्मानुष्ठाता देहान्ते क्षत्रियो भवति, स
निषिद्धं वर्जयन्स्वधर्मानुष्ठाता देहान्ते विप्रतां याति, विप्रो निषिद्धं-
वर्जयन् स्वधर्मानुष्ठाता क्रमादृषित्वं महर्षित्वं याति, चेद् यदि पाप-
कृत् सकामकर्मकृच्च भवेत् तर्हि ततो वर्णादाश्रमाच्च च्युतस्तमेव-
प्रागुक्तमेवानर्थं प्राप्नुयात् ॥ ६३ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः ।

शिष्य उवाच ।

कथं दुःखनिवृत्तिः स्यात्सुखं केनाप्नुयान्नरः ।

सुखं वा कीदृशं विद्वन् ब्रूहि मे तदयानिधे ॥ १ ॥

दुःखनिवृत्त्युपायं सुखस्वरूपं तत्प्राप्त्युपायं च ब्रूहीत्यर्थः ॥ १ ॥

दुःखनिवृत्त्युपायमाह

गुरुवाच ।

अविद्याया निवृत्तौ ह्यशेषदुःखनिवर्त्तनम् ।

सा स्यादीशप्रसादाद्धि स्वसुखं पूर्णलक्षणम् ॥ २ ॥

अविद्याया इति । साऽविद्याया निवृत्तिः ईश्वरमहाप्रसादान्नवति
ततस्तन्निवृत्त्यनन्तरं स्वीयं पूर्णसुखमाविर्भवति ॥ २ ॥

शिष्य उवाच ।

प्रसादः केन जायेत स्वरूपं तस्य कीदृशम् ।

तस्य जन्म कथं वा स्यात्सुखजन्म कथं ततः ॥ ३ ॥

केन हेतुना तत्स्वरूपम् । तस्य प्रसादस्य जन्म । ततः प्रसा-
दात्सुखजन्म कथम् ॥ ३ ॥

प्रथमं निष्कामभगवदर्पितकर्माऽनुष्ठानमथान्तःकरणशुद्धिरथ ब्रह्म-
जिज्ञासाऽथेहामुत्रभोगविरागपूर्वकं गुरूपसदनमथ श्रवणमनननिदि-
ध्यासनान्यथ ब्रह्मापरोक्ष्यं ततो महाप्रसादस्ततोऽविद्यानिवृत्तिरिति
क्रमं वक्तुं प्रथमभूमिकामाह

गुरुस्वाच ।

प्राप्तो वै भारतं खण्डं स्वधर्मं ह्याचरन् बुधः ।

सेवते कर्मणा स्वेन निष्कामेन जनार्दनम् ॥ ४ ॥

प्राप्त इति । भारतं खण्डं आर्यावर्त्तादिकर्मभूमिम् ॥ ४ ॥

कर्मलिपाय तदनुष्ठानप्रकारमाह

कर्मकारयितेशोऽतो मम कर्म न विद्यते ।

एवंबुद्ध्या कृतात्पुण्याज्जायते चित्तशोधनम् ॥ ५ ॥

कमेति । यतोऽन्तर्यामीश्वरः कर्मकारयिता तस्येदं कर्म न ममेति-
धिया कृतेन कर्मणा चित्तशुद्धिर्भवति ॥ ५ ॥

ततः परमवैराग्योत्पत्तिमाह

यथाऽङ्गारे प्रमादाद्धि पतितं चरणं पुनः ।

उत्थाप्य स्पष्टुमिच्छेन्न तं पादेनातिदुःखदम् ॥ ६ ॥

पतितमङ्गारं पुनः स्पष्टुं नेच्छति ॥ ६ ॥

भुक्त्वा वान्तं यथाऽन्नं हि सुमिष्टम्पायसादिकम् ।

पुनर्भोक्तुं न वाञ्छन्ति महाभुधाऽर्दिता अपि ॥ ७ ॥

अर्दिताः पीडिताः ॥ ७ ॥

एवमैन्द्रियिकं भोगं चेहामुत्रसमुद्भवम् ।

नेच्छेद्भोक्तुं विरागः स उत्तमः सुखसाधनम् ॥ ८ ॥

सुखस्य मोक्षस्य साधनम् ॥ ८ ॥

उक्तवैराग्ये हेतुमाह

विषये दोषदृष्टिर्हि कर्मणा हरितोषणम् ।

मोक्षसाधनवैराग्यं भवेद्धेतुरिदं द्वयम् ॥ ९ ॥

विषयइति । स्वोचितनिष्कामकर्मणा ।

पुंश्चल्यापऽहृतं चित्तं को नु मोचयितुं क्षमः ।

आत्मारामेदवरमृते भगवन्तमधोक्षजमिति—

स्मृत्या विषयेभ्यो निर्वेदो भगवत्कृपयैव भवतीति स्पष्टमुक्तम् ॥ ९ ॥

कीर्त्तनश्रवणाद्यां हि विधातुं नवधा हरेः ।

भक्तिं सोऽथ गुरुं गच्छेत् श्रोत्रियं हि समित्करः ॥ १० ॥

अथ वैराग्यानन्तरं श्रवणादिनवधाभक्तिशिक्षार्थं श्रवणमनननि-
दिध्यासनार्थं च समित्पाणिः सन् श्रोत्रियं गुरुमभिगच्छति “स गुरु-
मेवाभिगच्छेच्छ्रोत्रियं समित्पाणि”रिति श्रुतेः ॥ १० ॥

श्रवणं मननं कुर्यान्निदिध्यासनमुत्तमम् ।

वाक्यार्थग्रहणं वक्त्राद् गुरोर्यत्सा श्रुतिर्मता ॥ ११ ॥

तद्विषयस्य हरेरुत्तमत्वादुत्तमं श्रुतिः श्रवणम् ॥ ११ ॥

मननं युक्तिभिश्चिन्ता श्रुतार्थस्य पुनः पुनः ।

श्रुतचिन्तितमेवे स्यान्निदिध्यासनमुत्तमम् ॥ १२ ॥

चिन्ता चिन्तनं, श्रुतं च चिन्तितं च यन्मेयन्तस्मिन् ॥ १२ ॥

अन्यार्थाविषयः पूरो ब्रह्माकारधियां सदा ।

निदिध्यासनशब्दार्थो जायते सुधियां हि सः ॥ १३ ॥

प्राक्श्रुतमतसदनन्तगुणविशिष्टभगवदाकारपरोक्षज्ञानानां पूरः
प्रवाहो निदिध्यासनं शोधितचित्तानां पुंसां हि जायते ॥ १३ ॥

श्रवणं मननं चाङ्गं निदिध्यासा प्रधानकम् ।

अश्रुते ह्यमते मेवे न निदिध्यासनं भवेत् ॥ १४ ॥

हि यतोऽश्रुते युक्तिभिरनिश्चिते चार्थे निदिध्यासनस्मरणं ध्याना-
द्यपरपर्यापं न भवत्यतः श्रवणमनने अङ्गे निदिध्यासनं प्रधानम् ॥ १४ ॥

ब्रह्माकारापरोक्ष्याणां श्रवणमनने विना ।

सम्भवः कापि नास्तीति तयोरङ्गत्वमीरितम् ॥ १५ ॥

एतदेवं स्पष्टयति, ब्रह्मेति । आपरोक्ष्याणां निश्चयरूपाणाम् । ई-
रितं कथितम् ॥ १५ ॥

श्रवणाद्यैर्विशुद्धे हि मानसे स्वेच्छया हरिः ।

सम्प्रसन्नोऽपरोक्षः सन् भवेद्बन्धापनोदकृत् ॥ १६ ॥

कृपया प्रसन्नोऽपरोक्षश्च सन् बन्धं नाशयति अव्यक्तस्वभावोऽपि कृपयाऽऽविर्भूय बन्धं नाशयतीत्यर्थः । आपरोक्ष्यं यद्यपि युद्धादौ दैत्यादीनामप्यस्ति तथापि तत्र प्रसादाभावाच्च तेषां मुक्तिः श्रीकृष्णादिरूपं पश्यतां तदानींतनानां प्रीतिद्वेषादिहीनानां स्वयोग्याशेषगुणापरोक्ष्याभावाच्च मुक्तिरिति तत्त्वम् ॥ १६ ॥

नन्वव्यक्तस्वभावस्य हरेः कथमापरोक्ष्यमतआह ।

आपरोक्ष्यं परोक्षस्य दृष्टं देवादिकस्य हि ।

गान्धर्वाभ्यासतो दृष्टं स्फुटं षड्जादिकस्य तत् ॥ १७ ॥

आपरोक्ष्यमिति । उपासनादिना देवादीनामापरोक्ष्यं गान्धर्वशास्त्राभ्यासेन षड्जादीनामापरोक्ष्यमिव भवति ॥ १७ ॥

आपरोक्ष्यं मनोवृत्तिः स्वरूपात्मकमेव च ।

स्वरूपं मोक्ष एवास्ति जन्यज्ञानस्य वर्जनात् ॥ १८ ॥

मोक्षे स्वरूपभूतमेव ज्ञानमन्तःकरणाभावेन जन्यज्ञानासम्भवात् ॥ १८ ॥

प्रागभावस्य यो भावो मानसस्यापरोक्ष्यतः ।

ब्रह्मगोचरकस्य हि सम्बन्धस्य विधायकः ॥ १९ ॥

ब्रह्मगोचरस्य वेदान्तवासितमनस्युत्पन्नस्यापरोक्ष्यस्य यः प्रागभावस्तस्याभावो ध्वंसो ज्ञानतद्ध्वंसान्यतररूपो ज्ञानब्रह्मणोः सम्बन्धः संसारदशायां नास्ति वेदान्तश्रवणादिवासितमनोजन्यापरोक्ष्योत्तरं च जायते ॥ १९ ॥

स्वपूर्णानन्दसम्बन्धः स्वावरकस्य शून्यता ।

संवृतिः प्रतिघातो हि सम्बन्धस्यार्थसंविदोः ॥ २० ॥

नित्यज्ञानरूपस्य जीवस्य पूर्णानन्दावरकाविद्याविशेषस्य शून्यता नाशः सम्बन्धः, हरिप्रसादजन्याविद्याध्वंसोत्तरं स्वपूर्णानन्दो जीवेनानुभूयते, ततः प्रागीपदानन्दएवानुभूयते अर्धज्ञानयोः सम्बन्धस्य प्रतिघातएव संवृतिरानन्दावरणम् ॥ २० ॥

एतदेव स्पष्टयति

प्रसादेनेश्वरीयेणाविद्याया भञ्जनं ततः ।

आविर्भूतं सुखं पूर्णं सैव मुक्तिरिहोच्यते ॥ २१ ॥

प्रसादेनेति । ततोऽविद्याभङ्गाद् निःशेषाविद्यानिवृत्तिपूर्वकस्व-
पूर्णानन्दाविर्भाव एव मुक्तिः ॥ २१ ॥

नन्वीश्वरप्रसादस्य तदिच्छादिरूपस्य नित्यत्वात्सदैव मुक्तिः
स्यात्तत्राह

नित्यस्यापीशप्रसादस्य जीवे सम्बन्धः सञ्जायते शुद्धभावे ।

ब्रह्मज्ञानप्रागभावस्य नाशोऽविद्याध्वंसः स्यात्ततः खल्वशेषम् ॥ २२ ॥

नित्यस्येति । शुद्धः कामनादिदोषरहितो भावो हरौ प्रेमल-
क्षणो यस्य तस्मिन् हरिप्रसादसम्बन्धो जायते स वेदान्तश्रवणा-
दिवासितचित्तोत्पन्नस्वयोग्याशेषविशेषविशिष्टभगवदापरोक्ष्यरूपः
खलु निश्चयेन, ततो जीवसम्बद्धप्रसादादशेषाविद्याध्वंसरूपो मोक्षः
स्यात् ॥ २२ ॥

श्रवणादिभिरीशस्यानुष्ठितैश्चिरमादरात् ।

आपरोक्ष्यं भवेत्पुंसां स्वाधिकारानुसारतः ॥ २३ ॥

आदरेण बहुकालमनुष्ठितैः श्रवणादिभिः स्वापरोक्ष्ययोग्याशेष-
गुणविशिष्टेश्वरस्यापरोक्ष्यं भवति ॥ २३ ॥

हरेः सर्वगुणानामापरोक्ष्यं तु कस्यापि नास्तीति कैमुत्येनाह

साकल्येन गुणान्स्वीयान्न जानाति हरिर्यतः ।

सञ्जानीयुः कुतोऽन्ये तांस्तथाऽसर्वविदो जनाः ॥ २४ ॥

साकल्येनेति । यतः सर्वज्ञोऽपीशः स्वीयगुणसाकल्यं न जानात्यतः
कुतोऽन्ये असर्वज्ञा जना जानीयुः साकल्यस्येयत्ताया हरिगुणेष्वस-
त्त्वादतो न सार्वश्यहानिः, न हि खपुष्पमजानतोऽशेषज्ञत्वहानिः ॥ २४ ॥

यावन्तो यस्य योग्याः स्युः तावज्ज्ञानात्स मुच्यते ।

आचार्यश्रवणादीनां प्राप्तिस्तस्य हि तादृशी ॥ २५ ॥

ते हरिगुणा याचन्तो यदपरोक्षयोग्यास्तज्ज्ञानात्स मुच्यते, तादृ-
शज्ञाने हेतूनां गुर्वादीनान्तस्य पुंसः प्राप्तिः ॥ २५ ॥

ननु दृष्ट्वैव तं मुच्यत इति श्रुत्या ब्रह्मज्ञानस्यैव मोक्षकत्वोक्तेः प्रसा-
दस्य कथं मोक्षकत्वमत आह

ज्ञानादेव भवेद् विष्णोः प्रसादो मुक्तिकारणम् ।

महानन्योऽन्यतोऽपि स्यात् मुक्त्यन्यार्थप्रदायकः ॥ २६ ॥

ज्ञानादिति । मोक्षहेतुमहाप्रसादो ज्ञानादेव, अन्योऽवान्तरप्र-
सादोऽन्यतः कर्मादितोऽपि स्याद् मुक्त्यन्यपुमर्थस्य हेतुः तथा च
दण्डेनैव घटः शङ्खः पाण्डुर एवेतिवदयोगव्यवच्छेदार्थक एवकारः न
त्वन्ययोगव्यवच्छेदार्थकः ब्रीहिभिर्यजेतेत्यत्र पुरोडाशद्वारा ब्रीह्याणा-
मिव प्रसादद्वारा ज्ञानस्य मोक्षकारणत्वोपपत्तिः व्यापारेण व्यापा-
रिणोऽन्यथासिद्धेरसम्भवात् ॥ २६ ॥

“नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष
वृणुते तेन लभ्य” इति प्रसादस्य मोक्षहेतुत्वबोधिकां श्रुतिमुदाहरति

अयमात्मा न लभ्यो ह्यध्ययनादिभिरीश्वरः ।

स्वीकरोति यमेवैष तेनैव प्राप्यते विभुः ॥ २७ ॥

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।

स्वप्रसादस्य हेतुत्वं विमुक्ताववदद्धरिः ॥ २८ ॥

अयमिति । मदीयोऽयं मां प्राप्नोत्विति स्वीकरोति ॥ २७ ॥ २८ ॥

तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते ।

समाश्रिताद् ब्रह्मतरोरनन्तान्निःश्रेयसम्पक्कफलं प्रयायात् ॥ २९ ॥

एवं विज्ञातो भगवाननादिः पुरुषोत्तमः ।

प्रसादत्यच्युतस्तस्मिन्प्रसन्ने क्लेशसंक्षयः ॥

इति च श्रीवैष्णवे प्रसादस्य हेतुत्वमुक्तम् ॥ २९ ॥

नन्वेकस्यैवेच्छादिरूपस्य प्रसादस्य कथमवान्तरप्रसादत्वादि-
भेदस्तत्राह

वैचित्र्यात्साधनादीनां स्यात्सम्बन्धविचित्रता ।

एकस्यापि प्रसादस्य वैचित्र्यं व्यपदिश्यते ॥ ३० ॥

वैचित्र्यादिति । श्रवणादिसाधनवैचित्र्याज्जीवे प्रसादसम्बन्धवै-
चित्र्यम्, अतः सम्बन्धवैचित्र्यादेकस्यापि प्रसादस्य वैचित्र्यमुपप-
द्यते ॥ ३० ॥

गुणतः कालतो देशतोऽपरिच्छिन्नता हरेः ।

तदुपासनया ज्ञानाद्धरेः प्रसन्नता हि या ॥ ३१ ॥

गुणतोऽपरिच्छिन्नत्वमसंख्यातालौकिकगुणपूर्णत्वं, कालापरि-
च्छिन्नता प्रागभावध्वंसाप्रतियोगिस्वरूपदेहादिकत्वं, देशापरिच्छि-
न्नत्वं सर्वदेशव्यापकत्वं, तस्य हरिनिष्ठानन्त्यस्योपासनया या हरेः
प्रसन्नता ततो भवेदित्युत्तरेणान्वयः ॥ ३१ ॥

ततः सद्यः क्रमात्स्याद्वाऽर्चिराद्यध्वनि गच्छताम् ।

विरजादिमपारं हि गतानां शुद्धचेतसाम् ॥ ३२ ॥

अर्चिरादिमार्गेण गच्छतां स्वभावतः सदा शुद्धे हरौ चेतांसि ये-
षां तेषामशेषेणाविद्याया ध्वंसः सद्य इत्युत्तरेणान्वयः ॥ ३२ ॥

श्रीवैकुण्ठादिलोकस्थं पश्यतां श्रीहरिं मुदा ।

अविद्याया अशेषेण ध्वंसो योग्यतया स्फुटम् ॥ ३३ ॥

मुदा पश्यताम् । स्वयोग्यतया स्फुटं पूर्णानन्दलाभइत्युत्तरेणा-
न्वयः । आदिना श्वेतद्वीपानन्तासनादिपरिग्रहः ॥ ३३ ॥

स्वपूर्णानन्दलाभो हि स्वेच्छया विग्रहस्तथा ।

क्रीडन्ति स्वेच्छया तत्रान्यत्रापि व्यापके हरौ ॥ ३४ ॥

तत्र लोकेऽन्यत्रापि जले मत्स्या इव व्यापकेऽपरोक्षीभूते हरावेव
परमानन्दतुष्टाः सन्तः स्वेच्छया विग्रहं गृहीत्वा तं विनैव स्वरूपसा-
मर्थ्येनैव वाऽऽनन्दोद्रेकात् क्रीडन्ति न त्वप्राप्तसुखप्राप्तये तेषां जन्य-
सुखाभावात् ॥ ३४ ॥

सरिदब्धितडाकादेः पूर्णत्वं निजमानतः ।

यथैवं विष्णुजीवानां पूर्णत्वेन हि तुल्यता ॥ ३५ ॥

सरिदादीनां यथा स्वपरिमाणानुसारेण सर्वेषां पूर्णत्वम्, एवं-
ग्रहजीवयोर्जीवानां च परस्परं तारतम्येऽपि स्वयोग्यताऽनुसारेण
पूर्णत्वेन तुल्यत्वम् ॥ ३५ ॥

तेषां क्रीडा हरिसेवा चानन्दोद्रेकादेव न तु सुखप्राप्तय इत्याह

क्रीडा सेवा तथा विष्णोर्यत्रैषामुच्यते श्रुतौ ।

आनन्दोद्रेकतः सर्वं न त्वानन्दविटृद्ध्ये ॥ ३६ ॥

क्रीडेति । प्रसिद्धा हि वालोन्मत्तादीनामानन्दोद्रेकतः क्रीडा ॥ ३६ ॥

आनन्दोद्रेकतो विष्णोर्यथा सृष्ट्यादिचेष्टनम् ।

तथा मुक्तचितां क्रीडा न त्वानन्दविटृद्ध्ये ॥ ३७ ॥

मुक्तचितां मुक्तजीवानाम् ॥ ३७ ॥

सदृष्टान्तं तेषां पूर्णत्वमाह

यथा पूर्णे जलैः कुम्भे न जलान्तरमिष्यते ।

तथाऽऽनन्देन पूर्णानां न सुखान्तरवाञ्छनम् ॥ ३८ ॥

यथेति । पूर्णं कुम्भं पूरयितुं पुम्भिर्जलान्तरं नेष्यते यथा, तथा
स्वयोग्यतानुसारात्पूर्णैर्मुक्तैः सुखान्तरं न वाञ्छ्यते ॥ ३८ ॥

व्यापकः सर्वभूतानां यद्यपीश्वर इष्यते ।

आपरोक्ष्यं तदीयं हि योग्यानामिह जायते ॥ ३९ ॥

आपरोक्ष्ययोग्यानां भक्तानां स्वयोग्याशेषविशेषविशिष्टग्रहाप-
रोक्ष्यमिहैवास्ति ॥ ३९ ॥

तथाऽपि श्रौतवाक्यानां स्वारस्याद् गतिरिष्यते ।

अत्राप्राप्तस्य नो लब्धुं प्राप्तो हरिरिहैव तैः ॥ ४० ॥

मुक्तानां गमनबोधकश्रुत्यनुसारादेव तेषां गमनं न त्विहाप्राप्त-
पुरुषार्थप्राप्तये सर्वव्यापकहरिप्राप्तेरत्रैव संभवात् ॥ ४० ॥

के चिदत्रैव मुच्यन्ते के चित् क्षीरजलोदधौ ।

के चिद्वै सत्यलोकादावन्तरिक्षे हि के चन ॥ ४१ ॥

एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन
रूपेणाभिनिष्पद्यते स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाण इति गमनश्रु-
तेः, तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना इत्यादिस्मृतेः, तस्य
प्राणा नोक्तामन्ति इहैव लीयन्त इत्यगमनश्रुत्या सहाविरोधमधि-
कारिभेदेनोपपादयति

के चिदत्रैव मुच्यन्ते नोक्तामन्ति कदा चन ।
अत्रैव च स्थितिस्तेषामन्तरिक्षे तु के चन ।
के चित्स्वर्गे महर्लोके जने तपसि के चन ।
के चित्सत्ये महाज्ञानाद् गच्छन्ति क्षीरसागरम् ।
तत्रापि क्रमयोगेन ज्ञानाधिकात्समीपगाः ।
सालोक्यं च स्वरूपत्वं सामीप्यं योग एव च ।
रमामारभ्य सर्वत्र यावत्सु क्षीरसागरम् ।
पुरुषोऽनन्तशयनः श्रीमान्नारायणाभिधः ।
मानुषा वर्णभेदेन तथैवाश्रमभेदतः ।
क्षित्यां मनुष्या गन्धर्वा देवाश्चापि तिरश्चराः ।
आजानजाः कर्मजाश्च तात्त्विकाश्च शचीपतिः ।
रुद्रो ब्रह्मेति क्रमशस्तेषु चैवोत्तमोत्तमाः ।
नित्यानन्देन भोगेन ज्ञानैश्वर्यगुणेषु च ।
सर्वे शतगुणोद्विक्ताः पूर्वस्मादुत्तरोत्तरम् ।
पूज्यन्ते चापरैस्ते तु सर्वपूज्यश्चतुर्मुखः ।
त्रिजगद्वापृतिस्तेषां पूर्ववत्समुदीरिता ।
स पुनः परमात्मानं प्रविश्य च बहिर्गतः ।
चिद्रूपान्प्राकृतांश्चापि विना भोगांश्च कांश्चन ।
भुञ्जते मुक्तिरेवैषां विस्पष्टा समुदाहृतेति ।

पञ्चरात्रादिस्मृतावयमर्थः स्पष्टः । मानुषादिस्वरूपाः स्वयोग्यतया
पूर्णा गुरुशिष्यादिव्यवस्थया मुक्तास्तिष्ठन्ति प्राकृतान् भोगान्
विना कांश्चिदलौकिकान् भोगान् भुञ्जते ॥ ४१ ॥

संकल्पादेव तच्छ्रुतेः, यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवा-
स्य पितरः समुपतिष्ठन्ते तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीति
श्रुतिसूत्राभ्यां मुक्तानां भोगाः सङ्कल्पमात्रेण भवन्तीति प्रतिपादितमर्थ-
संगृह्णाति

संकल्पादेव भुञ्जाना भोगांस्तेऽलौकिकांश्चितः ।

प्राप्य देहं ततः स्वेन रूपेणैवाथवा चितः ॥ ४२ ॥

सङ्कल्पादिति । ते मुक्ता अलौकिकांश्चितश्चिद्रूपान् भोगान्
ततः सङ्कल्पादेव स्वरूपमिदं देहं प्राप्य स्वेनैव चित्ता चिद्रूपेण
वा भुञ्जते स एकधा भवति द्विधा त्रिधा भवतीति श्रुतेन हि देह-
विना द्विधादिभवनं न सम्भवति, अशरीरो वाव तदा भवत्य-
शरीरं वाव सन्तं तु प्रियाप्रिये न स्पृशत इति श्रुतेः ॥ ४२ ॥

पापाभावो ह्यशेषेण सुकृतस्य परे हरौ ।

विनाशोऽनर्पितस्यैवास्त्यर्पितस्याक्षयं फलम् ॥ ४३ ॥

हरावनर्पितस्यैव सुकृतस्य नाशः “अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं-
पापेन”त्यादिश्रुत्या बोध्यते स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते तदाऽस्य
कर्म क्षीयत इति श्रुतेः ॥ ४३ ॥

ब्रह्मज्ञानादघस्यैव नाशादिर्हरिणोदितः ।

पापस्यैव विनाशोक्तिर्वेदे स्पष्टं हि वर्त्तते ॥ ४४ ॥

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशादिति हि
सूत्रम् । ब्रह्माधिगमे पूर्वाघविनाशे उतरस्यासम्बन्ध इति तदर्थः ।
तद्यथा पद्मपलाशआपो न श्लिष्यन्ते एवं विदि पापं कर्म न श्लि-
ष्यते, तद्यथेपीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हैवास्य सर्वं पाप्मानः
प्रदूयन्ते इति श्रुत्या पापस्यैव नाश उक्तः । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि
भस्मसात्कुरुतेऽर्जुनेत्यादिवाक्यानामुक्तश्रुतिसूत्रानुसारात्सकामसु-
कृतदुष्कृतनाशपरत्वं व्याख्येयं, नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतै-
रपीति तु प्रारब्धकर्माभिप्रायम्, प्रारब्धस्य भोगेनैव नाशो न
ज्ञानादिना ॥ ४४ ॥

भुव्यन्तरिक्षस्वर्गैककुण्ठादिषु ये मुक्ता विहरन्ति ते स्वयोग्यतया
सर्वे पूर्णानन्दा एवेत्याह

पूर्णानन्दाः सदा सर्वे स्वाधिकारानुसारतः ।

मोक्षदाता परेशो हि सर्वत्र व्यापको विभुः ॥ ४५ ॥

पूर्णंति । तेषां लोकान्तरगमनं नाप्राप्तप्राप्तार्थमविद्यानिवृत्त्यर्थं वा
किन्तु तेषां तथैवाधिकार इत्याह मोक्षेति ॥ ४५ ॥

एतदेव स्पष्टयति

तथैवोपासितस्तेन साक्षात्कृतस्तथा हरिः ।

तथा मोक्षप्रदाता स्यात्स्वयोग्यताऽपि तादृशी ॥ ४६ ॥

तथेति । तथैव तत्तल्लोकस्थः तत्तद्गुणविशिष्ट उपासितः सा-
क्षात्कृतस्तथैव तेषां योग्यतानुसारान्मुक्तिं प्रयच्छति हरिः ॥ ४६ ॥

स्वान्तःस्थाया हरेर्मूर्त्तेरापरोक्ष्यं विमुक्तये ।

अपेक्ष्यं तद्विना मुक्तिर्न सर्वेषां सतां क चित् ॥ ४७ ॥

स्वान्तःस्थिताया भगवन्मूर्त्तेरापरोक्ष्यं मुक्तये सर्वेषां सताम-
धिकारिणामपेक्ष्यते तद्विना रूपान्तरापरोक्ष्येऽपि न कस्यापि मुक्तिः
अत एवावताररूपाणि पश्यतामपि केषाञ्चित्तदनुक्तिः । अवताररूपो-
पासकानामपि स्वान्तस्थतया आपरोक्ष्यादेव मुक्तिः । आत्मन्येवा-
त्मानं पश्येदिति श्रुतेः ॥ ४७ ॥

स्थानभेदेन सद्योमोक्षक्रममोक्षावाह

अन्तःस्थस्य हरेर्ज्ञानं व्यापकत्वेन मुक्तिदम् ।

सद्योऽन्यथा क्रमात्तदभीषद्विलम्बतो नृणाम् ॥ ४८ ॥

अन्तरिति । अन्तःस्थस्य व्यापकत्वेन ज्ञानं सद्यो मुक्तिदम्
अन्यथा परिच्छिन्नतया ज्ञानं क्रमात्तद्वं मुक्तिदं तदभीषद्विलम्बेन ।
यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवतीति श्रुतेः ।
कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् । सर्वकार्याणां प्रलये
स्वाध्यक्षेण स्वामिना चतुर्मुखेण सह, अतश्चतुर्मुखात्परंगच्छति । सो-
ऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ब्रह्माणमभिप्राप्य यदै-
तद्विलीयतेऽथ सह ब्रह्मणा परमभिगच्छतीति श्रुत्याभिधानादित्यर्थ-
कात् सह युगपद् ब्रह्मणा ब्रह्मणो मुक्तिकाले स्वयोग्यान्सर्वान्कामान-
श्नुत इत्यर्थः ।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरम् ।

परस्यान्ते परात्मानं प्रविशन्ति परं पदमिति स्मृतेश्च

एतस्माच्छरीरभेदात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणा-
भिनिष्पद्यत इति देहत्यागाव्यवहितोत्तरमोक्षोक्तेः सद्योमोक्षोऽपि
सिद्धः चितिमात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडलोमिरिति सूत्रात् । सर्व-
ेषां तदा चित्परित्यज्य चिन्मात्र एष भवति चिन्मात्र एवावतिष्ठते
तामेतां मुक्तिरित्याचक्षत इति श्रुतेश्च केषाञ्चिन्मुक्तानां स्व-
रूपभिन्नदेहाभावेऽपि स्वरूपेणैवानन्दानुभवलक्षणो भोगः, प्रागुक्तरी-
त्या केषाञ्चित्सङ्कल्पादेव स्वरूपभिन्नदेहोपि न तु देहाधीन एव
तेषां भोगस्तद्भागस्य स्वरूपानन्दत्वात् ॥ ४८ ॥

अर्चिरादिगतिं यान्ति ये के चित्साधवो नराः ।

नावर्त्तन्ते पुनर्मर्त्ये लोके सिद्धिं परां गताः ॥ ४९ ॥

न स पुनरावर्त्तते न स पुनरावर्त्तते तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति ते
प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्त इत्यादिश्रुतेः तेऽर्चिरभि-
सम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणः पक्षाद्यान् षडुदडे-
ति मासांस्तन्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्र-
मसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो मानवः स एतद् ब्रह्म गमयत्येष
देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्त इति
श्रुतेः ॥ ४९ ॥

स्मृतिमप्युदाहरति

अग्निज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ ५० ॥

अग्निरिति । तत्र तस्मिन् मार्गे प्रयाताः प्राप्ता ब्रह्मविदो जना ब्रह्म
गच्छन्ति, उत्तरायणाभिमानिनो देवास्तेन मार्गेण ज्ञानिनं नयन्ति न
तु ज्ञानिनः कालनियमः ॥ ५१ ॥

धूममार्गगतानां तु पुनरावर्त्तनं पुनः ।

सकामाश्च घटीयन्त्रमिव भ्रमिः पुनः पुनः ॥ ५२ ॥

ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रार्त्रि रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड् द-
क्षिणमेति मासांस्तानेतैः संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति मासेभ्यः पितृलोकं-
पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसं चन्द्रमस औषधं सोमो राजा

तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवा-
ध्वानं पुनर्निवर्त्तत इति श्रुतेः ॥ ५१ ॥

उक्तार्थे स्मृतिमुदाहरति

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।

तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥ ५२ ॥

धूमइति । दक्षिणायनाभिमानिनो देवास्तादृशाधिकारिणं तन्मार्ग-
नयन्ति न तु कालनियमः ॥ ५२ ॥

सिंहावलोकनेनाह

परिच्छिन्नतया ये तमुपास्यैव विजानते ।

अपरोक्षतया विष्णुं स्वीययोग्यतया नराः ॥ ५३ ॥

परिच्छिन्नेति स्पष्टम् ॥ ५३ ॥

तत्प्रसादेन गच्छन्ति क्रमान्मुक्तिं नरोत्तमाः ।

अविद्याध्वंसपूर्वा हि स्वपूर्णानन्दलक्षणाम् ॥ ५४ ॥

आविर्भूतस्वपूर्णानन्दरूपामित्यर्थः ॥ ५४ ॥

मुक्तिक्रममाह

इन्द्रलोकादिकं प्राप्य भुक्त्वा चैन्द्रियिकं सुखम् ।

महर्लोकं जनं प्राप्तस्तपः सत्यं ततो बुधः ॥ ५५ ॥

इन्द्रेति स्पष्टम् ॥ ५५ ॥

तत्र चाराधयन् भक्त्या परया माधवं सुधीः

सदानन्दाप्लुतस्तिष्ठेद् दुःखलेशविवर्जितः ॥ ५६ ॥

परया सर्वोत्तमत्वधीपूर्वकाविच्छिन्नप्रेमप्रवाहरूपया ॥ ५६ ॥

ब्रह्मणो मुक्तिकाले स्यान्मुक्तो विष्णुप्रसादतः ।

मोचने शक्तता नास्ति सेवकानां हरेः क्वचित् ॥ ५७ ॥

यद्यपि हरेः स्वसेवकानामत्रैव सद्य एव मोचने सामर्थ्यमस्ति,
तथापि तेषां योग्यता तदनुसारिसाधनानि तदनुसारेणैव ज्ञानं ततः

यथायोग्यं सद्यः क्रमेण वा मोचयतीति ॥ ५७ ॥

सर्वसाधारणमुक्तेः स्वरूपमाह ।

स्वरूपेण स्थितिर्मुक्तिरज्ञानध्वंसपूर्वकम् ।

सा समा सर्वमुक्तानां सद्यः क्रमेण गच्छताम् ॥ ५८ ॥

स्वरूपेणेति । निःशेषाविद्यानिवृत्तिपूर्वकं स्वयोग्यतया पूर्णानन्दावाप्तिः सर्वेषां साधारणीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

मुक्तानां स्वयोग्यताऽनुसारेण चतुर्विधमुक्तिप्राप्तिरित्याह

चातुर्विध्यं विमुक्तेः स्यात्पुंसां योग्यतया सताम् ।

समीपत्वं च सारूप्यं सलोकत्वं हरेः सदा ॥ ५९ ॥

चातुर्विध्यमिति।सतां जीवानां यथा सारूप्यादिमुक्तेर्योग्यता तथैव तां मुक्तिं तान्प्रापयति हरिरित्यर्थः।सारूप्यं चतुर्भुजादिसमानरूपवत्त्वं-तच्च हरिप्रसादेन स्वयोग्यमुक्तिप्राप्त्युत्तरं तल्लोकाद्बहिःस्थितानामपि सम्भवति । सलोक्यं च भगवल्लोकावस्थानम् । तच्चासमानुरूपानामपि तल्लोकस्थानां शुक्सारिकादीनां योषितां च सम्भवति । हरेः सदेति सर्वत्रान्वयः । हरेर्व्यापकत्वेऽपि समीपत्वादिकं रूपविशेषमादाय ॥ ५९ ॥

सायुज्यं च हरेः सर्वाः स्युरनावृत्तिलक्षणाः ।

सायुज्यं लीनता विष्णोर्विग्रहे स्वाधिकारतः ॥ ६० ॥

अनावृत्तिर्लक्षणं स्वरूपं यासां ताः । सायुज्यस्वरूपमाह । सायुज्यमिति ॥ ६० ॥

वृक्षे लीनाः खगा भिन्ने वने लीना मृगास्तथा ।

एवं मुक्ता हरेर्भिन्ना रमन्ते तत्र मोदतः ॥ ६१ ॥

यथा खगमृगादीनां वृक्षादिषु संश्लेषविशेषएव लयो न त्वैक्यम् । एवं मुक्तानां केषां चित् संश्लेष एव सायुज्यं न त्वैक्यम् । अन्यथा वृक्षादिभ्यः खगादीनामिव हरौ लीनानां मुक्तानां ततो निर्गमनं न स्यात् । प्रसिद्धा हि हरौ लीनानां शिशुगालादीनां ततो निर्गतिः । सह युनक्तीति सयुक् सयुजो भावः सायुज्यमिति व्युत्पत्तेः । यद्देवा-

नामेव महिमानं गत्वाऽऽदित्यस्य सायुज्यं गच्छति अग्नेर्वायोरादित्यस्य
सायुज्यं गच्छतीत्यादिश्रुतिषु सायुज्यशब्दस्य सम्बन्धविशेषे प्रसि-
द्धेः । न त्वत्र सायुज्यशब्दस्यैक्यपरत्वशङ्का, न हि मुक्तेः प्राग् जीवानां-
जीवान्तरेष्वैक्यस्याद्वयवादिनोऽपि संमतिः । अतएवान्तरं ब्रह्मविदो
विदित्वा लीनाब्रह्माणि तत्परा योनिमुक्ता इति श्रुतिर्व्याख्याता ॥६१॥

एकत्र लीनानां निर्गमनप्रतिपादकमोक्षधर्ममुदाहरति

तस्माच्चापि विनिर्मुक्ता अनिरुद्धतनौ स्थिताः ।

ततो मुक्ता मनो भूत्वा ते प्रद्युम्नतनौ स्थिताः ॥ ६२ ॥

तस्मादिति । तस्मात्पूर्वप्रक्रान्तादादित्याग्निर्गताः अनिरुद्धरूपे-
भगवत्यहङ्कारनियामके । ततोऽनिरुद्धान्मुक्ताः प्रद्युम्नरूपे मनोनियाम-
केस्थिताः ॥ ६२ ॥

प्रद्युम्नाच्चापि निर्मुक्ता जीवं संकर्षणं ततः ।

ततस्त्रैगुण्यहीनास्ते परमात्मानमञ्जसा ।

एकान्तभावोपगता वासुदेवं विशन्ति ते ॥ ६३ ॥

प्रद्युम्नाग्निर्मुक्ता जीवयतीति जीवस्तं प्रकृतिनियामकं सङ्कर्षणरूपं
हरिं प्राप्ताः ततः सङ्कर्षणाग्निर्मुक्तास्त्रैगुण्यहीनास्तुर्यरूपं वासुदेवं
विशन्ति । अतः प्रवेशः संश्लेष एव ॥ ६३ ॥

वासुदेवः स विज्ञेयः परमात्मा सनातनः ।

ज्ञेयः स एव राजेन्द्र जीवः संकर्षणः प्रभुः ॥ ६४ ॥

जीवयतीति सर्वचेष्टकः ॥ ६४ ॥

संकर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूतः स्वयं प्रभुः ।

प्रद्युम्नादनिरुद्धोऽभूत्सोऽहंकारः स ईश्वरः ॥ ६५ ॥

तत्रैवानिरुद्धादीनामीश्वरत्वं स्पष्टमुक्तम् । तत्र लीनानां च ततो-
निर्गमनं स्पष्टम् । अभिन्नस्यापि हरेर्नियम्यभेदेनावध्यवधिमत्त्वादि-
व्यवहारोपपत्तिः ॥ ६५ ॥

प्रकृतं मुक्तानां विहारं पुनर्वर्णयति

विहरन्ति सदा तत्र जले मीना यथासुखम् ।

लयः श्लेषविशेषो हि न स्वरूपैकता क्व चित् ॥ ६६ ॥

विहरन्तीति । स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् समानइति श्रुतेः ।
विहारोपदेशादिति सूत्राच्च ॥ ६६ ॥

आनन्दोद्रेकादेव स्वेच्छया तेषां विहार इत्याह

आनन्दोद्रेकतो नित्यं रमन्ते हि यथारुचि ।

स्वेच्छन्दं बहिरागत्य विहरन्ति निजेच्छया ॥ ६७ ॥

आनन्दइति । बहिर्हरेरुदरात् ॥ ६७ ॥

न सृष्टौ ते हि सृज्यन्ते नश्यन्ति प्रलये न हि ।

उदरे सावकाशास्ते हरेः क्रीडन्ति निर्भयाः ॥ ६८ ॥

स्पष्टम् ॥ ६८ ॥

उक्तार्थे स्मृतिमुदाहरति

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ ६९ ॥

इदमिति । चतुर्मुखादिसर्गे नोत्पद्यन्ते न नूतनदेहं लभन्ते
तत्प्रलये न व्यथन्ति न प्राणादिवियोगरूपं मृत्युमनुभवन्ति ॥ ६९ ॥

मुक्तानां सर्वेषां सदा परोक्षीभूतहरिप्राप्तिरावश्यकीत्यर्थे मोक्षध-
र्मवाक्यमुदाहरति

पुरुषं सनातनं विष्णुं यं तं वेदविदो विदुः ।

सर्गप्रलयकर्तारमव्यक्तं ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ७० ॥

भगवन्तमजं दिव्यं विष्णुमव्यक्तसंज्ञितम् ।

भावेन यान्ति शुद्धा ये ज्ञानतृप्ता निराशिषः ॥ ७१ ॥

भगवन्तमिति ॥ ७० ॥ ७१ ॥

ज्ञात्वाऽऽत्मस्थं हरिं चैव न निवर्तन्ति तेऽव्ययाः ।

प्राप्य तत्परमं स्थानं मोदन्तेऽक्षरमव्यम् ॥ ७२ ॥

स्थानं श्रीवैकुण्ठाख्यम् । अक्षरमवस्थान्तरप्राप्तिपरिणामादिक्षर-

णशून्यमत एवाव्ययं नाशशून्यं प्राप्य पुनः संसारे नावर्त्तन्ते ॥ ७२ ॥

ये च मुक्ता भवन्तीह नरा भरतसत्तम ।

तेषां लक्षणमेतद्यच्छ्वेतद्वीपनिवासिनाम् ॥ ७३ ॥

इह मर्त्यलोकादौ ये मुक्ता भवन्ति तेषां यथा प्रसिद्धानां श्वेत-
द्वीपनिवासिनां लक्षणं तथैव भवतीत्यर्थः ॥ ७३ ॥

तत्र नारायणपरा मानवाश्चन्द्रवर्चसः ।

अनिन्द्रिया अनाहारा अनिस्यन्दाः सुगन्धिनः ॥ ७४ ॥

एकान्तिनस्ते पुरुषाः श्वेतद्वीपनिवासिनः ।

तत्र पुरुषाः सर्वे हि पञ्चेन्द्रियविवर्जिताः ॥ ७५ ॥

प्रातिबुद्धाश्च ते सर्वे भक्ताश्च पुरुषोत्तमे ।

अर्चयन्ति सदा देवं तैः सार्द्धं रमते च सः ॥ ७६ ॥

न तत्राभ्याधिकः कश्चित्सर्वे ते समतेजसः ।

कृताञ्जलिपुटा हृष्टा नमइत्येववादिनः ॥ ७७ ॥

दृष्टान्तीकृतानां श्वेतद्वीपस्थानां लक्षणानां ज्ञानेन मुक्तानां ज्ञानं-
भवतीत्याशयेन श्वेतद्वीपनिवासिनां लक्षणान्याह

तत्रेति ॥ ७४ ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

तत्तोषाय हरिः सार्द्धं रमते तैः कृपानिधिः ।

ते प्राप्तानन्दसंदोहाः प्रीतिमन्तः परस्परम् ॥ ७८ ॥

अर्चयन्ति हरिं नित्यमानन्दोद्रेकतः परे ।

नाप्राप्तप्राप्तये किञ्चित् तेषां पूर्णत्वतः सदा ॥ ७९ ॥

तेषां तोषाय पूर्णकामोऽपि कृपानिधिः तैः सार्द्धं रमते ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

स्वभावाद्धरितन्त्रास्ते स्वभावेन परस्परम् ।

तारतम्ययुतं तेषां स्वरूपं विद्यते सदा ॥ ८० ॥

हरेरधीनत्वं परस्परनियम्यनियामकत्वादिकं च स्वाभाविकमेव
तेषां प्रागाविद्यावृतं हरिप्रसादान्मुक्तावाविर्भवति ॥ ८० ॥

गुर्वादिपारतन्त्र्यं तेषां दुःखदं न भवतीत्याह
 ईशगुर्वादिवश्यत्वं न तेषां दुःखदं क चित् ।
 स्वभावस्तद्यतस्तेषां परमानन्दरूपिणाम् ॥ ८१ ॥
 ईशेति । तद् गुर्वादिपारतन्त्र्यम् ॥ ८१ ॥
 तदेव स्पष्टयति

क्रीडतां स्वस्वभावेन दुःखं लोके न दृश्यते ।
 गुर्वाद्युत्कर्षमालोक्य साधूनां दृश्यते सुखम् ॥ ८२ ॥
 क्रीडतामिति ॥ ८२ ॥

सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसेत्यादयः श्रुतयः स्फुटम् ।
 तारतम्यं विमुक्तानामानन्दानां वदन्ति हि ॥ ८३ ॥

सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति तोषे शतं मानुषा आनन्दाः स
 एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येत्यारभ्य
 ब्रह्मानन्दपर्यन्तं गन्धर्वर्षिदेवादीनां प्रत्येकं पूर्वापेक्षयोत्तरस्मिन् शत-
 गुणितानन्दाधिक्यबोधिका तैत्तिरीयश्रुतिः, अथ ये शतं कर्मदेवा-
 नामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दः यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽका-
 महतइत्यादिवाजसनेयश्रुतिः, अक्षपवन्तः कर्णवन्तः सखायो मनो-
 जवेष्वसमा बभूवुरित्याद्यैतरेयश्रुतिस्तारतम्यं स्फुटं वदति । नत्र
 सांसारिकानन्दस्य विषयेन्द्रिययोगजस्य तारतम्यं श्रुतिराहेति
 वाच्यम् । संसारिणि गन्धर्वादौ तैत्तिरीयोक्ताकामहतत्वस्य वाजस-
 नेयोक्तयोरवृजिनत्वाकामहतत्वयोश्चायोगात् । अकामहतत्वं हि का-
 मकृतोपद्रवाभावो, न त्वकामत्वं हेतुशब्दवैयर्थ्यापत्तेः । स च स-
 त्यकामस्य मुक्तस्यैव, सोऽश्नुते सर्वान्कामान् कामस्य यत्राप्ताः
 कामास्तत्र माममृतं कृधीत्यादिश्रुतेः । अवृजिमतत्वमप्यदुःखत्व-
 मपापत्वं वा । उभयमपि मुक्तस्यैव जीवन्मुक्तस्य च प्रारब्धपापतत्कार्य-
 दुःखयोः सत्त्वात् । श्रोत्रियत्वं च मुक्तस्यैव मुख्यप्राप्तश्रुतिफलत्वात् ।
 श्रोत्रियाः प्राप्तमांक्षिणः त एव चाप्तकामत्वात्तथा कामहता इति भार-
 तोक्तेः । प्रकृतमनुष्यगन्धर्वादिपरत्वे श्रोत्रियस्य चेत्यत्र यश्च श्रोत्रिय-
 इत्यत्र चैकवचनं समुच्चयार्थश्चशब्दश्चायुक्तः । न हि सम्भवति वासि-

ष्टो ब्रह्मनिष्ठोऽरुन्धतीपतिश्च तथेति । अप्रकृतसंसारिपरत्वे तु बाधः ।
किञ्च प्रकृतश्रोत्रेयः सर्वत्राप्येकश्चेन्मानुपादिभ्यः साधारणशतगु-
णितमनुष्यगन्धर्वाद्यनेकानन्दा एकस्मिन्विरुद्धाः । भिन्नश्चेदकामहत-
त्वादेरेकरूपतया श्रुतस्याव्यवस्थापकत्वादानन्दव्यवस्था न स्यात् ।
तद्यथेह पेशस्कारी पेशसो मात्रानुपादायान्यं नवतरं रूपं तनुते एव-
मेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यं नवतरं कल्याणरूपं-
कुरुते । पिड्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वान्येषां-
भूतानामिति श्रुतौ लिङ्गशरीराविद्यानिवृत्त्युत्तरं पितृत्वादिकमुक्तम् ८३
प्रागुक्तापि मुक्तानामैच्छिकविग्रहप्राप्तिराग्नेडनार्थं पुनस्तत्र मो-
क्षधर्ममुदाहरति

प्रकृतिं चाप्यतिक्रम्य गच्छन्त्यात्मानमव्ययम् ।

परे नारायणात्मानं निर्द्वन्द्वं प्रकृतेः परम् ॥ ८४ ॥

प्रकृतिमिति ॥ ८४ ॥

इन्द्रियाण्यनुबध्नन्ति स्वदेहं योगिनो नृपम् ।

करणान्यात्मनस्तानि सूक्ष्मैः पश्यति तैस्तु सः ।

स जिघ्रति यथान्यायैः स्पर्शान् स्पृशति च प्रभो ॥ ८५ ॥

मुक्तस्यैच्छिकानीन्द्रियाणि तादृशं स्वदेहम् अनुबध्नन्ति प्राप्नु-
वन्ति तानीन्द्रियाण्यात्मनो मुक्तस्य लीलयैव करणानि न त्वप्राप्त-
भोगप्राप्तये मुक्तानां पूर्णत्वात् ॥ ८५ ॥

स्वरूपभिन्नैच्छिकविग्रहसत्त्वेऽपि दुःखलेशसम्भावना नास्ती-
त्याह

अविद्याकामकर्मादेस्तथाऽन्तःकरणादितः ।

तदाऽभावेन दुःखादिस्तेषां नो विद्यते क चित् ॥ ८६ ॥

अविद्येति । तदा मोक्षे अविद्यादेरन्तःकरणादेर्दुःखहेतोरभावेन ८६

नेर्ष्यासूयादिसंक्लेशो नेच्छानन्दोपलब्धये ।

सर्वत्रालमतिस्तेषां प्रागेवासीद्विलौकिके ॥ ८७ ॥

प्राकृतभोगेषु मुक्तेः प्रागासीत् ॥ ८७ ॥

ये के चित् पुनरावृत्ताः प्रदृश्यन्ते जयादयः ।

न तेषां परमा मुक्तिर्लिङ्गविध्वंसलक्षणा ॥ ८८ ॥

स्पष्टम् ॥ ८८ ॥

परमां मुक्तिं गतानां न पुनरावृत्तिरित्यर्थं स्मृतिमुदाहरति

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ ८९ ॥

मामिति । संसिद्धिमविद्यालिङ्गदेहध्वंसलक्षणाम् ॥ ८९ ॥

जयादीनां स्वप्रारब्धकर्मफलभोगायैव न तु केवलभगवादिच्छया,
परमाप्तस्य स्वसेवकानिष्टेच्छाया असम्भवात्, कर्मनिरपेक्षतयैव
तथाकरणे हरेर्वैषम्यापत्तेश्चेत्याशयेनाह

स्वीयकर्मफलं भोक्तुं तेषामावर्त्तनं पुनः ।

ते जीवन्मुक्तिमापन्ना भोगान्ते परमां गताः ॥ ९० ॥

स्वीयेति । प्राग्जीवन्मुक्तिमापन्नाः ॥ ९० ॥

के चिदैच्छिकदेहास्ते के चिच्चिद्रूपविग्रहाः ।

स्वरूपेणैव गृह्णन्ति पूर्णानन्दाः सदानघाः ॥ ९१ ॥

स्पष्टम् ॥ ९१ ॥

जीवन्मुक्तिमाह

अविद्याया विनाशेऽपि पूर्णानन्दोपलम्भेन ।

प्रारब्धं कर्म भोक्तुं स्याद्विलम्बो देहसंस्थितेः ॥ ९२ ॥

अविद्येत्यादिना । अविद्यानाशेऽपि प्रारब्धकर्मभोगाय देहस्थि-
तितएव पूर्णानन्दोपलम्भेन तदनुभवे विलम्बस्तस्य तावदेव चिरं
यावन्नविमोक्ष्ये ऽथ सम्पत्स्य इति श्रुतेः । विमोक्ष्ये विमोक्ष्यते सम्प-
त्स्य सम्पत्स्यते ॥ ९२ ॥

सोच्यते जीवतां मुक्तिस्तत्क्षये परमा भवेत् ।

भोगादेव क्षयः तेषां प्रारब्धकर्मणां नृणाम् ॥ ९३ ॥

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कोटिकल्पशतैरपीत्यादिश्रुत्या प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षय उक्तः तेषां प्रारब्धकर्मणां क्षये परमामुक्तिर्भवेत् ॥ ९३ ॥

सञ्चितक्रियमाणानां प्रारब्धेतरकर्मणाम् ।

आपरोक्ष्याद्धरेर्नाशो निर्लेपश्च ततः परम् ॥ ९४ ॥

ततः परं करिष्यमाणानां निर्लेपोऽसंश्लेषः ॥ ९४ ॥

मायिनां मते जीवन्मुक्तिर्न सम्भवतीत्याह ॥

कर्मदेहेन्द्रियादीनामविद्याकार्यतामते ।

नाविद्याया विनाशे हि स्थितिर्युक्ता कथञ्चन ॥ ९५ ॥

अविद्योपादानक=मविद्याधीनं च ब्रह्मभिन्नं सर्वमिति मते ब्रह्मज्ञानेनाऽज्ञाननाशे तत्कार्याणां देहेन्द्रियादीनामवस्थानासम्भवेन जीवन्मुक्तिर्न युक्ता, न हि तन्तुनाशे पटस्थितिर्युक्ता न चाऽविद्यालेशो-वर्त्तते लेशस्याविद्यारूपत्वेऽवस्थानासम्भवात् न हि ज्ञानं किञ्चिदज्ञानं निवर्त्तयति किञ्चिन्नेति युक्तम्, न वाऽज्ञाने विद्यमाने जीवन्मुक्तिः सम्भवति, प्रथमब्रह्मज्ञानेनाऽनिवृत्तस्य मुक्तविरोधिनो लेशाख्याज्ञानस्योत्तरज्ञानेन पूर्वज्ञानानधिकविषयकेण निवृत्त्यसम्भवेन परममुक्तावप्यनुवृत्त्यापत्तेः । लेशस्याज्ञानभिन्नत्वे तदधीनस्य तन्निवृत्ताववस्थानाऽसम्भवात् देहाद्यनुपादानभूतस्याऽज्ञानभिन्नस्याऽवस्थितेतरकिञ्चित्करत्वाच्च ॥ ९५ ॥

सुखित्वमेव पुरुषार्थं न सुखरूपत्वमित्याह-

पुरुषार्थं सुखित्वं हि न त्वानन्दस्वरूपता ।

स्यामहं सुखवानित्येवेच्छन्ति पामरा अपि ॥ ९६ ॥

स्यादिच्छैव पुमर्थत्वे प्रमाणं नेतरत्वं क्वचित् ।

लौकिकानां हि सा ग्राह्या न शास्त्रेण नियन्त्रिता ॥ ९७ ॥

पुरुषार्थमिति । अहं सुखी स्यामित्येवेच्छन्ति न त्वहं सुखरूपः स्यामिति ॥ ९६ ॥ ९७ ॥

वैपरीत्येवाधकमाह ।

अन्यथाऽत्मविनाशो वा सुखनाशो भवेन्नृणाम् ।

बौद्धतार्किकशास्त्रेणाऽर्थितः सिद्धः स्वतः सदा ॥ ९८ ॥

अन्यथेति । अन्यथा पुमर्थस्य पामरेच्छाद्यनियम्यत्वे, बौद्धा-
गमसिद्ध आत्मनाशः पुमर्थस्तार्किकागमसिद्धः सुखनाशः पुमर्थः
स्वतः सदा सर्वेपामर्थितः पुरुषार्थः स्यात् ॥ ९८ ॥

ननु स्वरूपानन्दानुभवः सुषुप्त्यादावप्यस्ति मुक्तौ को विशेषस्तत्राह

अविद्याया हि संकोचात् कामकर्मादिवर्जनात् ।

समाधौ च सुषुप्तौ चेपदानन्दप्रकाशनम् ॥ ९९ ॥

अविद्यायाइति । सुषुप्त्यादौ निःशेषाविद्यानिवृत्तिपूर्वकं पूर्णा-
नन्दाविर्भावो नास्तीति भावः ॥ ९९ ॥

अभिव्यक्तं भवेद्विष्णोः प्रसादात्ततोऽवान्तरात् ।

किञ्चिदानन्दरूपत्वमन्यदाऽप्यनुभूयते ॥ १०० ॥

विष्णोरवान्तरप्रसादादन्यदा मुक्तिभिन्नकालेऽपि किञ्चिदानन्द-
रूपत्वमभिव्यक्तं भवति ततस्तथैवानुभूयते ॥ १०० ॥

जिनाभिमतं मोक्षं दूषयितुमनुवदति ।

केषां चिद्भोगतः केषां तत्त्वज्ञानेन कर्मणाम् ।

क्षयाज्जने मते मोक्षो भवेद्देहाख्यपञ्जरात् ॥ १०१ ॥

केषामिति । केषाञ्चित्कर्मणां भोगात्केषाञ्चित्तु तत्त्वज्ञानेन
क्षयाद्धेतोः पक्षिणः पञ्जरादिवाऽऽत्मनां देहान्मोक्षोभवेत् देहावस्था-
नस्य कर्महेतुकत्वात् देहतुल्यपरिमाणस्य ततो भिन्नतया क्षणिकत्वे-
न सन्तानतोऽनादित्वेनाऽऽत्मनो ज्ञानं तत्त्वज्ञानं सद् असत् सदस-
दात्मकं सदसद्विलक्षणं सत्त्वे सति सद्विलक्षणम्, असत्त्वे सत्यस-
द्विलक्षणं सदसदात्मकत्वे सति सदसदात्मकविलक्षणमिति सप्त-
प्रकारानियततया विश्वस्य ज्ञानं तत्त्वज्ञानं मोक्षहेतुः ॥ १०१ ॥

ततः कथं वर्तते तत्राह

पञ्जरोन्मुक्तपक्षीव सोऽलोकाकाशगोचरः ।

नित्यमूर्द्धं व्रजत्येव चरमदेहसंमितः ॥ १०२ ॥

पञ्जरेति । यथा पञ्जरादिमुक्तः पक्षी ऊर्द्धं व्रजत्येवं मुक्तो व्रजती-
ति अलोकाकाशो गोचरो यस्य सः ॥ १०२ ॥

जिनमतं दूषयति

ऊर्द्धं गमनमात्रं चेन्मुक्तिर्वीनां न सा कुतः ।

देहसंमितजीवस्य कथं मुक्तिर्विकारिणः ॥ १०३ ॥

ऊर्द्धमिति । यदूर्द्धगमनमात्रं मुक्तिस्तदा पक्षिणां गृध्रादीनां सा किं न स्यात् यदि निरन्तरमूर्द्धगमनं तच्च नास्ति पक्षिणां तदा निरन्तरगमनेन क्लेशापत्त्या मोक्षस्याऽपुमर्थत्वापत्तेः । अलोकाकाशप्राप्तिमात्रमपि न पुमर्थः सुखदुःखाभावाभ्यामन्यत्वात् । सुखं दुःखाभावश्च लोके हि पुरुषार्थं नश्वरदेहपरिमाणतुल्यपरिमाणकस्य विकारिणोनित्यरूपमोक्षभाक्त्वाऽनुपपत्तेश्च ॥ १०३ ॥

नन्वस्त्वनित्यस्यापि नित्यमोक्षान्वयित्वं कोदोषस्तत्राह

तादृशस्याऽपि मुक्तिश्चेदेहस्यैव कुतो न सा ।

देहान्यत्वे प्रमाणं वै नाऽऽत्मनो हि विकारिणः ॥ १०४ ॥

तादृशस्यापीति । तादृशस्य नश्वरस्याऽपि जीवस्यैव मुक्तिश्चेदेहस्यैव सा किं न स्यात् । विकारिण आत्मनोदेहान्यत्वे प्रमाणं नास्ति दुःखहानिसुखप्राप्त्यभावे च मुक्तेर्नाममात्रमेवेति भावः ॥ १०४ ॥

देहाधीनपरिमाणस्य नो भवेत् स्थितिस्तं विना कदा चित् ।

लौकिकदेहस्य तत्र सत्त्वे स्यात्संसारविशेषता ते ॥ १०५ ॥

देहाधीन परिमाणकस्याऽऽत्मनस्तं देहं विना कदा चित्कथञ्चिदप्यवस्थानं न युक्तं लौकिकस्य देहस्य तत्र मुक्तौ सत्त्वे ते तव मते मोक्षस्य संसाराविशेषापत्तिः ॥ १०५ ॥

ननु परमात्मेन सुगतेनोक्तोमोक्ष आद्रियतां तत्राह ।

बुद्धवाक्यमपि नोपादेयं दैत्यानां मोहायैव हि तत् ।

प्रसिद्धं हि पुराणादिषु तस्माद् व्यामोहनमेव प्रयोजनम् १०६

बुद्धेति । अद्धा साक्षात् व्यामोहनमेव प्रयोजनं तदवतारस्य पुराणादिषु प्रसिद्धां भ्रमप्रमादकरणापाटवविप्रलिप्सादिहीनो हि विवक्षुराप्तः करणापाटवाद्यभाववतोपि बुद्धस्य विप्रलम्भकत्वान्नाऽऽप्तत्वम् । न च हरेः परमाप्तत्वेन कथं व्यामोहकत्वं तेषां योग्यताया

अदृष्टानां तादृशत्वात्तदनुसारेण व्यामोहकत्वेऽप्याप्तत्वोपपत्तेः ॥

ततः कलौ सम्प्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषाम् ।

बुद्धोनाम्ना जिनसुतः कीकटेषु भविष्यतीति स्मृतेः ॥

अतस्तदुक्तो मोक्षो हेय एव ॥ १०६ ॥

बुद्धोक्तिमात्रमनुपादेयमिति सामान्यतोद्घूषितं विशेषतोद्घूषयितुं चतुर्विधमनुवदति ।

चतुर्था तन्मतं व्यक्तं शून्यं विज्ञानमेककम् ।

अनुमेयं बहिस्तत्त्वं प्रत्यक्षं कस्य चिन्मते ॥ १०७ ॥

चतुर्थेति । माध्यमिको योगाचारो वैभाषिकः सौत्रान्तिकश्च चत्वारः सुगतशिष्याः । तत्र सांवृतं विश्वं शून्यस्य विवर्त्तः । परमार्थतः शून्यमेवेत्याद्यं मतम् । पटादयो ज्ञानस्यैवाकाराः ज्ञानभिन्नं वस्तु नास्तीति द्वितीयम् । बाह्यवस्त्वस्ति परं तु न प्रत्यक्षं किन्त्वनुमेयमेवेति तृतीयम् । बाह्यं प्रत्यक्षं वस्त्वस्तीति चतुर्थम् । स्थूलोवयवो नास्ति परमाणुपुञ्जमेव घटादिकमित्युभयोः सममिति सुगतस्य मतं शिष्यभेदेन चतुर्विधं व्यक्तं प्रकटितम् ॥ १०७ ॥

वेदविरोधित्वं वस्तुमात्रस्य क्षणिकत्वं जगतो मिथ्यात्वादिकं सर्वं समम् । तत्र शून्यवादिनोऽतितामसाः प्रमितवस्तुमात्रस्याऽप-
लापात् ॥

ततो विज्ञानवादिनो ज्यायांसो बाह्यवस्त्वनङ्गीकारेऽपि विज्ञानस्य सत्यत्वाभ्युपगमात् ततो वैभाषिको बाह्यवस्त्वङ्गीकारात् ततः सौत्रान्तिको बाह्यार्थं स्वीकृत्य तस्य यथायथं प्रत्यक्षादिगम्यत्वाभ्युपगमादित्यतो महामल्लभंगन्यायेन शून्यवाद्यभिमतमोक्षमादौ दूषयितुमनुवदति ।

तत्र शून्यं वदन्त्येके निःशङ्कं मायिनो यथा ।

आत्मात्मीयादिकं किञ्चिन्न मुक्ताववशिष्यते ॥ १०८ ॥

तत्रेति । तत्र तेष्वेके यथा मायिनो मोक्षमाचक्षते तथैव शून्यमेवावशिष्यते आत्मा ज्ञानमात्मीयं ज्ञेयम् । यद्वा आत्मा तदीयाश्च ये प्रामाणिका धर्मा ज्ञानसुखादयस्तेऽपि नावशिष्यन्त इति मोक्षं वदन्ति । तत्रेयान् विशेषः । वेदप्रामाण्यानभ्युपगमाग्निःशङ्कास्ते ।

मायिनस्तु वेदः प्रमाणमित्यभिमानात् परमं साम्यमुपैति सोऽश्नुते सर्वान्कामानित्यादिवेदाच्छङ्कमानास्तमन्यथा व्याख्याय स्वाभिमतं मोक्षं प्रतिपादयन्ति ॥ १०८ ॥

मायिवच्छून्यवादिनोऽपि द्विविधाः एकजीववादिनोऽनेकजीववा-
दिनश्च । एकजीववादो मुख्यसिद्धान्तो द्वितीयस्तु मन्दबुद्ध्यवरोहाया-
वतारितस्तत्राऽऽद्यमनुवदति ।

तस्य संवृतितो भेदश्चेतनाचेतनात्मना ।

दृश्यते संवृतेर्ध्वंसे स्यान्निर्विशेषशून्यता ॥ १०९ ॥

तस्यैकस्यैवात्मनः संवृतितोऽज्ञानतश्चेतनाचेतनात्मना ज्ञानज्ञे-
यात्मना भेदोदृश्यते संवृत्यवच्छिन्नं शून्यं घटाद्यात्मनाविवर्त्तत इत्य-
र्थः सर्वं शून्यमिति भावनाप्रकर्षजन्यतत्त्वज्ञानेन संवृतेर्नाशे सतिशू-
न्यमेवावशिष्यते । कार्यनाशस्य कारणरूपत्वात् । स एव मोक्षः ॥ १०९ ॥

शून्यस्य निर्विशेषत्वं वक्तुं स्वरूपमाह ।

न सत्त्वं नैव चासत्त्वं शून्यस्यास्ति विशेषकम् ।

न सुखत्वं न दुःखत्वं वास्तवं तस्य किञ्चन ॥ ११० ॥

नेति । सत्त्वं परसामान्यादिकमसत्त्वमभावप्रतियोगित्वादिकं वि-
शेषकमन्यस्मान्नेदकं नास्ति चकाराद्यावर्त्योऽप्यन्यो नास्ति । अनु-
कूलवेदनीयत्वरूपं सुखरूपत्वं प्रतिकूलवेदनीयत्वरूपं दुःखरूपत्वं च
तस्य वास्तवं किमपि नास्ति ॥ ११० ॥

निर्विशेषं स्वयं भातं निर्लेपमजरामरम् ।

शून्यं तत्त्वमसम्बाधं नानासंवृतिवर्जितम् ॥ १११ ॥

इतरव्यावर्त्तकविशेषहीनं सर्वमानावेद्यत्वरूपस्वप्रकाशं निर्लेपं-
धर्माधर्मसुखदुःखादिरहितमजरं च तदमरं चासम्बाधं द्वितीयवस्तू-
पमर्दशून्यमद्वितीयमित्यर्थः । नानासंवृतिवर्जितं नानासंवृतिकार्यैः
सुखदुःखादिभिर्वर्जितं शून्यं मोक्ष इत्यर्थः ॥ १११ ॥

अशेषदोषनिर्मुक्तं मनोवाचामगोचरः ।

इत्थं मुक्तिरसद्भिर्हि कथ्यते मायिशून्यगैः ॥ ११२ ॥

अशेषैर्दुःखादिदोषैर्निर्मुक्तम् । स्वयम्भातमित्यस्य विवरणं मनो-
 वाचामगोचर इति असङ्गिः शून्यवादिभिर्मायावादिवदित्येवं मुक्तिः
 कथ्यते । मायिमतेऽपि सत्त्वासत्त्वसुखत्वदुःखत्वज्ञानत्वाज्ञानत्वभा-
 वत्वाभावत्वाद्यखिलधर्महीनमानावेद्यत्वरूपस्वप्रकाशाद्वितीयब्रह्म-
 स्वरूपावस्थानं मुक्तिः । नन्वेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम्
 अनन्याधीनापरोक्षत्वं वा ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वं तच्च न शून्यस्येति
 कथं मायिशून्यवादिनोर्विशेष इति चेन्न । आपरोक्ष्यं हि स्वेनैव स्व-
 विषयकमन्यनिष्ठं स्वविषयकं वा । नाद्यः स्वविषयताया मायिनाऽन-
 ङ्गीकारात् । अङ्गीकारे च ब्रह्मणश्चिद्विषयत्वरूपदृश्यत्वापत्त्या मिथ्या,
 त्वापत्तेः विषयत्वविषयित्वादिनैव सविशेषत्वापत्तेश्च । न द्वितीयः
 मोक्षेऽन्याभावेनान्यविषयकापरोक्ष्यासम्भवात् स्वविषयकतायामुक्त-
 दोषात् । निर्विषयकापरोक्षस्वरूपमिति नामकरणस्य शून्येऽपि संभ-
 वात् शून्यं तत्त्वतो गीयते यैस्ते शून्यगा मायिनश्च शून्यगाश्च तैः ॥ ११२ ॥
 नन्वज्ञानाभावोपलक्षितं शून्यमेव तत्त्वमिति कुतस्तत्राह ।

संवृत्या दूषितं शून्यं संसृतिः कथ्यतेऽधमैः ।

तन्माशाच्छून्यमेवाहुर्विमुक्तिं तामसा जनाः ॥ ११३ ॥

संवृत्येति । संवृत्या दूषितं शून्यमेव जगदाकारेण विवर्त्तमानम् संसृ-
 तिः संसारावस्था । अतः संवृतिनाशाच्छून्यावशेष एव मोक्षः कथ्य-
 ते । अत्रेदं तत्त्वम् । शून्यं तत्त्वतो निर्विशेषमेकमेव तस्य परमसूक्ष्मस्य
 बाहुमनसातीतस्य स्वप्रकाशस्याऽऽवरणविक्षेपाद्यनेकशक्तिमत्या मू-
 लसंवृत्या कर्तृत्वभोक्तृत्वशक्तिमदहङ्कारोपाधिवशात् किञ्चित्स्थू-
 लताजायते ततः स द्वितीयत्वेन सविशेषतायां स्थूलता सम्पद्यते
 ततो मनोवचनगोचरत्वेन सलेपत्वं रागादिदोषसंसर्गश्च ततो देहेन्द्रि-
 यान्तःकरणविषयसम्बन्धे स्थूलतरता भवति ततोऽहङ्कारवतो दुः-
 खादिमत्त्वे स्थूलतमत्वमित्येवं संवृत्या तत्कार्यत्वात् संवृतिसङ्गैर-
 हङ्कारादिभिश्च संवलितं शून्यमेव संसारः । भावनाप्रकर्षादिना निर्-
 मूलसंवृतौ ध्वस्तायां तत्कार्यप्रवाहे च विनष्टे तदुपलक्षितशून्यमेव
 संसारः । भावनाप्रकर्षादिना निर्मूलसंवृतौ ध्वस्तायां तत्कार्यप्रवाहे
 च विनष्टे तदुपलक्षितशून्यमेव मोक्ष इति ॥ ११३ ॥

अनेकजीवमतमनुवदति ।

के चित्संवृतिसम्पर्काच्छून्यमाहुरनेकधा ।

अवच्छिन्नं महाशून्यं नानापुद्गलशब्दितम् ॥ ११४ ॥

केचिदिति । संवृतेरविद्यायाः सम्बन्धादनेकप्रकारं नानाजी-
वभावापन्नमाहुरनेकजीववादिनः । संवृत्यवच्छिन्नं महाशून्यं नाना-
पुद्गलशब्दितं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिगुणविशिष्टं शून्यं नानाजीवश-
ब्दितं भवति ॥ ११४ ॥

शून्यैकरसताज्ञानाद्यस्य संवृतिभञ्जनम् ।

स पुद्गलत्वनिर्मुक्तो महाशून्यत्वमेष्यति ॥ ११५ ॥

सर्वस्य शून्यैकरसत्वज्ञानाद्यस्यैव संवृतिनिवृत्तिः स पुद्गल-
त्वात्कर्तृभोक्तृत्वादिरूपान्निर्मुक्तोमहाशून्यत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ११५ ॥

संवृत्या यस्त्ववच्छिन्नो दुःखादिभुग्भवेदलम् ।

एकत्वानेकते तुल्ये मायिसौगतयोश्चिताम् ॥ ११६ ॥

यः संवृत्यावच्छिन्न आत्मा पुद्गलभावेनालमत्यर्थं परमार्थधि-
यैवानुभवति । चितामेकत्वानेकत्वे मायिशून्यवादिनोस्तुल्ये ॥ ११६ ॥
ब्रह्मशून्याविद्यासंवृत्यादिशब्दमात्रभेदेऽपि नार्थभेदइत्याह ।

मायासंवृतिनाम्नैका ऽविद्योच्यतेऽविशेषतः ।

शून्यं ब्रह्मेति पर्यायौ निर्विशेषत्वतः स्फुटम् ॥ ११७ ॥

मायेति । निर्विशेषयोर्निर्विशेषस्य ब्रह्मणः शून्यस्य च परस्परं
भेदासम्भवात् ॥ ११७ ॥

ननु सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मणि सत्यत्वज्ञानत्वा-
द्यनन्तधर्मविधानात्कथं तस्य शून्याभेदशङ्केति तत्राह

नास्त्यखण्डनये किञ्चित्सच्चिदानन्दतादिकम् ।

व्यावृत्तिमात्रबोधस्तु विद्यते शून्यवादिनः ॥ ११८ ॥

नास्तीति।संसर्गागोचरप्रमाजनकत्वरूपमखण्डार्थकत्वं वेदानामङ्गी-
कुर्वतोमायिनो मते सत्यत्वज्ञानत्वादयो धर्मा वेदेन न बोध्यन्ते, अस-
ज्जडपरिविष्ठानादिव्यावृत्तिबोधस्तु अपोहवादिनः सौगतस्याऽपि ॥ ११८ ॥

अनृतादेरपोहं तु स्वरूपमेव मन्यते ।

निर्विशेषत्वतो नैव विशेषो ब्रह्मशून्ययोः ॥ ११९ ॥

अनृतादिव्यावृत्तिमपि ब्रह्मस्वरूपमेव मन्यते माया कथं ततः
शून्याद्भेदसिद्धिः ब्रह्मशून्ययोः सविशेषत्वे निर्विशेषत्वहानिनिर्वि-
शेषत्वे च कथं तयोर्भेदः ॥ ११९ ॥

ननु मायो वेदस्य प्रामाण्यमङ्गीकरोति न सौगतोऽतस्तन्मतयोः
कथं साम्यं तत्राह ।

अप्रामाण्यं श्रुतेस्तुल्यं संमतं फलतो द्वयोः ।

अतत्त्वावेदकं यस्मात्प्रमाणं तेन कथ्यते ॥ १२० ॥

अप्रामाण्येति । वेदादेरप्रामाण्यं द्वयोर्मायिसौगतयोस्तुल्यम् ।
यस्मात्तेन मायिना ब्रह्मभिन्नमिथ्याप्रपञ्चविषयकं यत्तदेव प्रमाण-
मिति फलतः कथ्यते तात्त्विकत्वेनाभिमतस्य ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वे-
न सर्वप्रमाणाऽवेद्यत्वाङ्गीकारात् ॥ १२० ॥

ननु प्रपञ्चस्य व्यावहारिकत्वात्तद्विषयकज्ञानं प्रमा मायिमते
सौगतमते तथा नास्तीति भेदस्तत्राह ।

अतत्त्वावेदकत्वञ्चाप्रामाण्यं संमतं सताम् ।

दीर्घभ्रान्तिकरं मानं चेत्स्यादतात्त्विकं तथा ॥ १२१ ॥

अतत्त्वेति । यद्यस्मादतत्त्ववेदकत्वमेवाप्रामाण्यं सतां मतम् ।
अतो ब्रह्मान्यविषयकज्ञानमप्रमा ब्रह्मत्ववेद्यमित्यप्रामाण्यं श्रुतेः
दीर्घभ्रमजनकप्रमाणं चेदतात्त्विकमतत्त्वावेदकमपि तादृशं प्रमाणं
स्यात् ॥ १२१ ॥

तस्योदाहरणमाह ।

रज्जुसर्पादिविज्ञानादप्यधिका ह्यमानता ।

दीर्घभ्रान्तिनिदानत्वात् स्याच्छ्रुते मायिनां मते ॥ १२२ ॥

रज्ज्विति । रज्जुसर्पज्ञानजनकानाधिक्येन वेदस्याप्रामाण्यं स्याद्
बहुकालपर्यन्तभ्रान्तिजनकत्वात् ॥ १२२ ॥

चंद्राल्पतामतेर्हेतोर्नभोनैल्यमतेस्तथा

भवेत्प्रामाण्यमेवोच्चैर्यथा वेदस्य मायिनः ॥ १२३ ॥

बहुकालभ्रान्तिजनकत्वेन साम्यम् ॥ १२३ ॥

निर्भेदत्वं हि शून्यस्य तेनाऽप्यङ्गीकृतं सदा ।

सत्त्वातत्त्वादिधर्माणामभावो ह्युभयोः समः ॥ १२४ ॥

ननु ब्रह्मज्ञानेतरावाध्यत्वरूपव्यावहारिकसत्त्वं जगति मायिना स्वीकृतमिति न तन्मते श्रुत्यप्रामाण्यमिति चेन्न । व्यावहारिकमिति बाध्यस्यैव नामान्तरत्वात् । तादृशसत्त्वस्य जगति बौद्धेनाऽपि स्वीकारेण तस्याऽसत्ख्यातिवादित्वाऽनुपपत्तेः ।

द्वे सत्त्वे समुपाश्रित्य बौद्धानां धर्मदेशना ।

लोके संवृतसत्यत्वं सत्त्वं च परमार्थत इति तदीयोक्तेः ॥ १२४ ॥

न हि सप्रतियोगित्वं शून्यत्वं तेन चेष्ट्यते ।

न दुःखादिविरोधित्वादन्या ह्यानन्दता भवेत् ॥ १२५ ॥

यदि शून्यस्य सप्रतियोगिकत्वमभावरूपत्वं स्यात्तर्हि स्यादतादृशाद्ब्रह्मणो भेदः न च तदस्ति यदि ब्रह्मणो दुःखादिविरोधित्वरूपाऽऽनन्दादिरूपता स्यात्तर्हि स्यादतादृशाच्छून्याद्भेदः न च तदस्ति सर्वाऽधिष्ठानस्य ब्रह्मणो दुःखाद्यविरोधित्वात् ॥ १२५ ॥

पारिभाषिकचित्त्वं हि तुल्यं स्याद्ब्रह्मशून्ययोः ॥

धर्माः केऽपि न सन्त्येव को विशेषस्ततस्तयोः ॥ १२६ ॥

अज्ञानाऽविरोधिनोर्ब्रह्मशून्ययोर्ज्ञानत्वं पारिभाषिकमुभयोः समम् भेदकाः धर्माः कुत्राऽपि न सन्त्येवाऽतस्तयोर्ब्रह्मशून्ययोः को विशेषः ॥ १२६ ॥

अनूदितं शून्यवाद्यभिमतमोक्षं दूषयति ।

आत्माऽभावे पुमर्थः कः स इष्टस्याऽवधिर्यतः ॥

यदि नाऽऽत्माऽवधिर्मोक्षो मोक्षः स्याद्वदशून्यता ॥ १२७ ॥

आत्मेति । मोक्षः कः किंसवन्धी आत्मनाशरूपो मोक्षः किमात्मनः फलमनात्मनो वा नाऽद्यतस्याऽभावात् । न हि फलिनोऽसत्त्वे

फलमुपपद्यते । नाऽन्त्यः । आत्मनाशेऽनात्मनोऽप्यभावात् । भावे
 वाऽनात्मनस्तेनोपकांगऽभावेनाऽपुमर्थत्वात् सर्वं ह्यात्माऽर्थतयेष्टं
 भवति तस्यैवाऽभावे किं कस्येष्टम् द्विविधो लोके पुमर्थोऽनिष्टनिवृ-
 त्तिरिष्टाऽवासिश्चेति तच्च सर्वमात्माऽवधिकमेव तन्नाशे तूभयोरप्य-
 सम्भवः । ननु दुःखाऽऽत्यन्तिकनिवृत्तिः पुमर्थः सा च कारणनि-
 वृत्त्यैव स्यात् कारणं च तस्याऽऽत्मैवाऽध्वर्माऽर्जनात् अतः स्यादे-
 वाऽऽत्मनाशः पुमर्थ इति चेन्न जागर एव दुःखादयो न सुषुप्त्यादावि-
 त्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामात्ममात्रस्याऽकारणत्वात् किन्तु देहैन्द्रियवि-
 षयवेदनादेरपि तत्र हेतुत्वात् ज्ञानभोगाभ्यां कर्मनाशे निर्वर्जस्य
 देहाद्यसम्भवेन दुःखाऽभावेनाऽऽत्मनाशस्याऽनुचितत्वात् । किञ्चा-
 ऽऽत्मनिष्ठतयैव हि दुःखाऽभावः पुमर्थोऽन्यथा घटादिनिष्ठदुःखाऽभा-
 वोऽपि पुमर्थः स्यात् अतो दुःखहेतूनामात्मभिन्नानामेव मोक्षेनिवृ-
 त्तिर्नाऽऽत्मनोऽऽपीत्युपेयम् अन्यथा घटशून्यताऽपि मोक्षः स्यात् तथा
 च साधनवेयर्थम् ॥ १२७ ॥

घटशून्यताऽऽत्मशून्ययोर्विशेषाऽङ्गीकारे शून्यस्य निर्विशेषत्वहा-
 निः स्यात् कल्पितविशेषाणां तु निर्विशेषतायामेव पर्यवसानमि-
 त्याशयेनाऽऽह ।

कल्पितत्वाद्विशेषाणां मायिनोऽपि समं हि तत् ॥

दृश्यमाने विशेषेऽपि यदि स्यादविशेषता ॥ १२८ ॥

कल्पितत्वादिति । मायिनोऽप्यात्मशून्यतैव पर्यवस्यति न च
 सुखस्वरूपाऽऽत्माऽवस्थानं मोक्षे मायिनोऽस्तीति वाच्यम्
 केनचिदननुभूतस्याऽपि सुखत्वं सुखाद्यननुभवितुञ्चाऽऽत्मत्वं हि
 परिभाषामात्रं बौद्धेनाऽपि तथा परिभाषां कर्तुं शक्यत्वात् यदि वि-
 शेषे दृश्यमानेऽप्यविशेषता शून्यस्य तदा विशेषाऽङ्गीकारो व्यर्थ
 इत्यर्थः ॥ १२८ ॥

शून्यस्य ब्रह्मणश्चाऽपि स्वीक्रियते वृथा तदा ॥

घटादिशून्यतायाश्चाऽन्ते निर्विशेषता भवेत् ॥ १२९ ॥

यदि शून्यस्य ब्रह्मणश्च कल्पितो विशेषोऽङ्गीक्रियतेऽतो न
 घटशून्यतायाः पुमर्थत्वं तदाऽन्ते परमार्थावस्थायां घटशून्यताऽऽत्म-

शून्यतयोरैक्येन घटशून्यतायाः पुमर्थत्वं दुर्वारम् ॥ १२९ ॥

न मोक्षो विमतो यस्माददेहतो ऽसुखत्वतः ॥

यथा घटादिशून्यत्वं पुमर्थो न भवेत् क्वचित् १३० ॥

विमतो ब्रह्मभावः शून्यभावो वा न मोक्षः अदेहत्वात्सुखाऽभावा-
त्सुखदुःखाऽभावाऽननुभवाच्च, घटादिशून्यत्वं यथा ॥ १३० ॥

शून्यब्रह्मत्वयोः प्राप्तौ मानं किञ्चिन्न विद्यते ॥

पुरुषार्थो हि लोकेऽस्ति दुःखाऽभावयुतं सुखम् ॥ १३१ ॥

दुःखाऽभावसहितं सुखमेव पुमर्थो लोके दृश्यते न सुखदुःखाऽ-
भावाऽनात्मकशून्यब्रह्मभावाऽऽपत्तिर्मुक्तिरप्रामाणिकत्वादित्यर्थः ॥ १३१ ॥

नन्वशरीरं वाव सन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशत इति श्रुत्या मोक्षे
देहाऽभावबोधनात्कथं मोक्षे देहसद्भावस्तत्राऽऽह

मुक्तस्याऽदेहतावाक्यं प्राकृतदेहवारकम् ।

मोक्षे भोगं यतो ब्रूते जक्षन् क्रीडन्निति श्रुतिः ॥ १३२ ॥

मुक्तस्येति । स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाण इति श्रुत्या मोक्षे
भोगबोधनात्तदानीं देहाऽभाववाक्यं प्राकृतदेहाऽभावपरम् ॥ १३२ ॥

शून्यब्रह्मणोर्दुःखादिभिन्नत्वे निर्भेदत्वमतहानिरभिन्नत्वे त्वपुमर्थ-
त्वं स्यादित्याह ।

दुःखादितो भिदायां स्यान्निर्भेदत्वमतक्षतिः ।

ततोऽभेदे पुमर्थत्वं भवेद्धि ब्रह्मशून्ययोः ॥ १३३ ॥

दुःखादित इति । ततो दुःखाद्यभेदात् ॥ १३३ ॥

भेदो घटादिशून्यत्वे ह्यात्मशून्यत्वतो यदि ।

स्यान् निर्भेदत्वहानिर्नोचेन्मोक्षो घटशून्यता ॥ १३४ ॥

घटशून्यताऽपि मोक्षः स्यात् ॥ १३४ ॥

अज्ञातस्य पुमर्थत्वं दृष्टं काऽपि न वस्तुनः ।

मोक्षे नाऽस्ति हि विज्ञानं मायिसौगतयोर्मते ॥ १३५ ॥

अनुभवगोचर एव सुखं दुःखाऽभावो वा पुमर्थः मोक्षे तद्विषयकं विज्ञानं चोभयोर्मतेनाऽस्ति यतस्तैर्ब्रह्मशून्ययोः स्वाऽविषयत्वमन्या-
ऽविषयत्वं चाऽङ्गीकृतं मायिना ब्रह्मणः सुखरूपत्वस्य परिभाषितत्वेऽपि फलतोऽसुखरूपत्वमेव । न ह्यननुभूतसुखरूपत्वे निर्विषयज्ञानरूपत्वे वा मानमस्ति ॥ १३५ ॥

मानाऽवेद्यत्वरूपस्वप्रकाशत्ववास्तवभेदशून्यत्ववास्तवधर्मशून्य-
त्वलब्धव्यलब्धभावशून्यत्वाऽसङ्गत्यनिर्लेपत्वादीनां ब्रह्मशून्ययोरुभा-
भ्यामङ्गीकारेणाऽर्थतोऽभेदेऽपि वाक्यसन्दर्भरचनमात्रेण भेदः । स तु न दर्शनभेदसम्पादक इत्याह ।

मेयतो न विशेषोऽस्ति मायिसौगतयोर्मते ।

भङ्गीमात्रभिदा तु स्यादेकास्मिन्नपि दर्शने ॥ १३६ ॥

मेयत इति ॥ १३६ ॥

विज्ञानवाद्यभिमतमोक्षं दूषयितुमनुवदति

स्वप्रकाशं निराकारं विषयाऽसङ्गि केवलम् ॥

अद्वितीयं हि चिन्मात्रं यत्तन्मोक्ष इतीतरे ॥ १३७ ॥

स्वप्रकाशमिति । स्वप्रकाशं मानाऽवेद्यं निराकारं नीलपीताद्याका-
रशून्यं निर्विषयकम् । तन्मते विज्ञानाऽतिरिक्तं यद्यपि द्वितीयं कदापि
नाऽस्ति तथापि संसारदशायां नीलपीतादिरूप आकारो द्वितीयः
सोऽपि मोक्षे नाऽस्तीत्यद्वितीयं क्षणिकं प्रवाहतो नित्यं विज्ञानस्व-
रूपमात्रं मोक्ष इति विज्ञानवादिनः ॥ १३७ ॥

तान् दूषयति

तादृशस्याऽधुना सत्त्वे साधनं निष्फलं भवेत् ॥

कालान्तरे ऽस्तितायां स्यात्कालेनाऽद्वैतभजनम् ॥ १३८ ॥

तादृशस्येति । तादृशो मोक्षोऽधुनाऽस्ति चेत्साधनवैयर्थ्यं काला-
न्तरभावी चेत्तेन कालेनैवाऽद्वैतभङ्गः ॥ १३८ ॥

ननु तत्रेयं विज्ञानाऽतिरिक्तकालो नाऽस्तीति कुतोऽद्वैतभङ्गस्तत्राऽऽह

कालाऽभावे व्यवस्था ते व्याहता बन्धमोक्षयोः ॥

विशेषाऽभावरूपेण विशेषेण मतक्षतिः ॥ १३९ ॥

कालाभाव इति । कालाऽनङ्गीकारे इदानीं मोक्षो नाऽस्ति दशान्तरे भविष्यतीति व्यवस्थायाः कालघटिताया भङ्गः स्यात् । विशेषाऽभावस्यैव विशेषत्वेन निर्विशेषाऽद्वितीयविज्ञानं मोक्ष इति मतहानिः सुखदुःखाऽभावाभ्यां भिन्नस्य पुमर्थत्वाऽसम्भवेन मोक्षो न युक्त एवेति भावः ॥ १३९ ॥

सौत्रान्तिकवैभाषिकाभिमतं मोक्षं दूषयितुमनुषदति ।

ज्ञानं स्वरसतो भङ्गि नित्यं संतानतो भवेत् ॥

अनादिवासनायत्तोऽर्थसंवन्धो हि संसृतिः ॥ १४० ॥

ज्ञानमिति ज्ञानमेवाऽऽत्मा तच्च ज्ञानं स्वभावेनैव भङ्गुरम् अतएव क्षणिकं तस्य संतानस्तु नित्यः तस्याऽनादिवासनावशात् यो विषयोपरक्तस्योत्पादः स संसारः भावनाप्रकर्षवशेन वासनायामुत्सन्नायां विषयोपप्लवं विना शुद्धस्यैवोदयः स मोक्षः इत्युभयोस्तुल्यम् । तत्र सौत्रान्तिकनये संसारे ज्ञानं साकारं मोक्षे निराकारमिति विशेषः वासनाऽयत्तो वासनाऽधीनो बाह्यविषयसम्बन्धः संसारइत्यर्थः ॥ १४० ॥

भावनोपचयात्तस्याऽर्थसंवन्धविवर्जनम् ॥

विषयोपप्लवाऽभावो मुक्तिः स्यादन्त्ययोर्मते ॥ १४१ ॥

तस्य ज्ञानस्य विषयसंवन्धवर्जनं विषयोपप्लवाऽभावोऽन्त्ययोः सौत्रान्तिकवैभाषिकयोर्मते मुक्तिः स्यादित्यर्थः ॥ १४१ ॥

दूषयति ।

ज्ञानस्य पुरुषार्थत्वं स्वतो न दृष्टं कुत्रचित् ॥

दुःखज्ञानं पुमर्थः स्यान्निर्विषयं न तद्भवेत् ॥ १४२ ॥

ज्ञानस्येति । काऽपि ज्ञानस्य सुखदुःखाऽभावभिन्नस्य न पुरुषार्थत्वम् अन्यथा दुःखादिविषयकज्ञानमपि पुमर्थः स्यादित्यर्थः ॥ १४२ ॥

सांख्यादीन्निराकरोति ।

सुखदुःखादिराहित्यं मोक्षे वदन्ति केचन ॥

तन्न युक्तं यतो वेदो ब्रूते मुक्तौ सुखज्ञताम् ॥ १४३ ॥

सुखेति । सांख्यवैशेषिकतार्किकादयो मोक्षे सुखदुःखज्ञानेच्छा-

प्रयत्नादीनामुच्छेदमेव वदन्ति तेऽपि वेदविरुद्धभाषिणः । सोऽश्नुते सर्वान्कामान् , रसो वै सः रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति, जक्षन् क्रीडन् रममाण इत्यादिश्रुतिभिः ।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिप्राप्तमतीन्द्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवाऽयं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

यं लब्ध्वा चाऽपरं लाभं मन्यते नाऽधिकं तत इत्यादिस्मृतिभिश्च सुखाऽनुभवस्यैव तदानीमुक्तत्वात् ॥ १४३ ॥

नन्वशरीरं वाच सन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशत इति मुक्तस्य प्रियाऽप्रिययोराहित्यमित्यत आह ।

प्राकृतप्रियहार्निहि प्रियाऽस्पृष्टिरीर्यते ॥

अप्रियं प्रतिकूलं तत्प्रणश्यति त्वशेषतः ॥ १४४ ॥

प्राकृतेति । उक्तश्रुत्यनुरोधात् प्राकृतस्यैवाऽस्पृष्टिर्नाश ईर्यते कथ्यते अप्रियं त्वशेषतो नश्यति ॥ १४४ ॥

नन्वप्रियस्याऽपि प्राकृतस्यैव नाशः स्यात्तत्राऽऽह ।

नाऽस्त्यप्राकृतं दुःखं सतो जीवस्य कुत्रचित् ॥

प्रियं स्वरूपमेवाऽस्य बलानन्दादिवाक्यतः ॥ १४५ ॥

नास्तीति । सतो मोक्षाऽधिकारिणो जीवस्य यथाऽप्राकृतमानन्दरूपत्वं तथाऽप्राकृतमप्रियत्वं यदि स्यात्तदा तद्वलात्प्राकृतस्यैवाऽप्रियस्य नाश इति कल्प्येत ।

बलमानन्द ओजश्च सहो ज्ञानमनाकुलम् ।

स्वरूपाण्येव जीवस्य व्यज्यन्ते परमाद्विभोरिति श्रुत्या प्रियं जीवस्य स्वरूपमुक्तं विभोर्व्यापकस्य हरेः परमात्मप्रसादात्तद्व्यज्यत इत्यर्थः ॥ १४५ ॥

अतः स्वप्रियनाशाय को यतेत हि बुद्धिमान् ॥

प्रेत्यसंज्ञा नाऽस्तीति मुक्ताऽज्ञेयत्वमुच्यते ॥ १४६ ॥

स्वंच तत्प्रियं च स्वस्य प्रियं वा यत्तन्नाशाय न प्रेत्यसंज्ञाऽस्तीति श्रुतिर्हि मुक्ता अमुक्तैर्न ज्ञायन्त इत्येव बोधयति न तु मुक्तानां ज्ञानाऽभावं प्रेत्य मरणानन्तरमिति श्रौतोऽर्थः प्रकरणवशान्मरणवि-

शेषमोक्षाऽनन्तरमिति व्याख्येयम् ज्ञानं मुक्तसंबन्धि प्रतिषिद्धमानं तत्कर्मकमेव ननु तत्कर्तृकं क्रीडनबोधकश्रुतिविरोधाऽऽस्तेः सर्व-
थैवाऽज्ञेयत्वेऽसत्त्वापत्तिरित्यमुक्ताऽज्ञेयत्वं कल्प्यते । अमुक्तानामस्म-
दादीनामपरोक्षज्ञानं निषिद्धं तेषां नारदादिभिरपरोक्षतयाऽस्मदा-
दिभिः शास्त्रेण ज्ञायमानत्वात् ॥ १४६ ॥

ननु तत्कर्तृकज्ञानस्याऽप्यभावः किन्नस्यात्तत्राऽऽह ।

धर्माऽनुच्छित्तिमेवाऽऽह यतो मुक्तौ स्फुटं श्रुतिः ॥

आशङ्क्याऽस्य विनाशं हि मैत्रेय्या मुह्यमानया ॥ १४७ ॥

धर्मेति । नोच्छित्तिर्येषां ते ऽनुच्छित्तयो धर्मा यस्य सः अयमा-
त्माऽनुच्छित्तिधर्मेति श्रुतिः ॥ १४७ ॥

ननु नोच्छित्तिरनुच्छित्तिः स धर्मो यस्येति किं न स्यादित्या-
शङ्क्या ऽऽदितो वाक्यं व्याख्याति ।

भवानित्युक्तवत्या हि नाऽहं मोऽं वदामि ते ॥

इत्युक्त्वा याज्ञवल्क्यो हि स्वरूपाऽनाशमुक्तवान् ॥ १४८ ॥

भवानिति । विज्ञानघनयैवेतेभ्यो भूतेभ्यः स एव य तान्येवा-
ऽनुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञाऽस्तीति विज्ञानघनमूर्तिरयमात्मा ऽन दिर-
पि चरमे जन्मनि एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय भूताऽऽत्मकशरीरोत्प-
त्तिनिमित्तव्यवहारभागभूत्वा पुनस्तानि भूतान्येवाऽनुविनश्यति तन्ना-
शनिमित्तमेव विनाशव्यवहारभागभवति ततः प्रेत्य मोऽनन्तरं मु-
क्तस्य संज्ञा नाऽस्तीत्यविशदं वाक्यं मुक्तस्य ज्ञाननाशं मत्वा मैत्रेय्या-
ऽत्रैव भवान् मोहान्तमपीपददिति वाक्येन मां प्राप्ते भवान्यदाह मुक्तो-
न जानातीति तन्मोहकमेवेत्युक्तवत्या चोदित इति शेषः न वा अहं
मोहं ब्रवीमीति प्रतिज्ञाय अविनाशी अरे अयमात्मेत्युक्तवान् ॥ १४८ ॥

आत्मनाशो मोक्ष इत्याशङ्कामयाकृत्य विशेषगुणोच्छित्तिर्मोक्ष-
इति वैशेषिकादिमतनिरासायाऽनुच्छित्तिधर्मेत्युक्तमित्याशयेनाऽऽह ।

धर्मानाहाऽप्यनुच्छिन्नास्तार्किकैर्हि निवारितान् ॥

मात्रासंसर्गमप्याह तथा श्रुत्यन्तरं स्फुटम् ॥ १४९ ॥

धर्मानिति । न विशेषगुणोच्छेदो मोक्षः किंतु निरतिशयसुखाऽनुभव

एव । मीयन्त इति मात्रा रूपादयो विषयास्तेषां संसर्गमुपभोगरूपम् ।
मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवतीति श्रुतिराह ॥ १४९ ॥

ये निर्विशेषाऽद्वितीयाऽऽत्मावस्थानं मोक्ष इति सौगतैकदेशिनो
ब्रूयन्ति तन्मते दर्शनाऽभावे ऽनिष्टं प्रसज्यति यत्र हि द्वैतमिव भवति
तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तत्केन कं पश्ये-
दित्याशयेनाऽऽह ।

यत्रेति हि गिरोऽनिष्टं दर्शनादेरभावकम् ॥

बोधयन्ति द्वितीयस्याऽभावेऽद्वैतमते स्फुटम् ॥ १५० ॥

यत्रेति । दर्शनस्पर्शनादेरभावमेवाऽनिष्टप्रसङ्गं बोधयन्त्यद्वै-
तमते ॥ १५० ॥

येनेदमखिलं वेद विज्ञातारं स्वमेव च ॥

केन तं तत् विजानीयादित्यनिष्टप्रसङ्गनम् ॥ १५१ ॥

येनेदमखिलं वेद तं केन विजानीयात् विज्ञातारं च केन विजा-
नीयादिति श्रुतिं व्याख्याति मुक्तौ द्वितीयमात्रस्याऽभावे येनाऽन्तर्या-
मिणाऽखिलं वेद तं विज्ञातारं स्वं च केन करणेन विजानीयात् न के-
नाऽपीत्यर्थः तथेश्वरज्ञानाऽभावः स्वज्ञानाऽभावश्चाऽनिष्टोऽत्र प्रस-
ज्यते न तु वस्तुतस्तत्प्रतिपादनमिति भावः ॥ १५१ ॥

नन्वाश्वरस्याऽक्षेयत्वमिष्टमेव यतो वाचो निवर्त्तन्त इति श्रुते-
रित्यत आह ।

अक्षेयत्वे हरेः स्याद्धि शास्त्रस्याऽऽरम्भणं वृथा ॥

तज्ज्ञानायैव वेदानां श्रवणादिर्विधीयते १५२ ॥

अक्षेयत्वमिति । हरेः सर्वथाऽक्षेयत्वे शास्त्राऽऽरम्भो व्यर्थः स्यात् ।
यतः श्रवणमननादिकं तज्ज्ञानार्थमेव । वचनाऽगम्यत्वं तु साकल्या-
दिना ॥ १५२ ॥

ननु जीवस्य मुक्तौ स्वविषयत्वं विरुद्धं तत्राऽऽह ।

जीवस्याऽप्यापरोक्ष्यं हि न विरुद्धं स्वगोचरम् ॥

मात्रानामीत्यहं जीवेऽनुभवोऽस्ति स्फुटं सदा ॥ १५३ ॥

जीवस्येति । स्वं गोचरो यस्य तत् ॥ १५३ ॥

कर्तृकर्मविरोधश्च न नित्याऽनुभवे कश्चित् ॥

स्वकर्मत्वं निराबाधं नित्येशज्ञानवद्भवेत् ॥ १५४ ॥

चाक्षुषाद्यपरोक्षस्य विषयसन्निकर्षजन्यत्वेन स्वस्मिन्स्वसंनि-
कर्षाऽभावेन स्वविषयकत्वाऽभावेऽपि नित्यज्ञाने तद्दोषाऽसंभवेन
नित्येशज्ञानवत्स्वविषयकत्वं सूपपन्नम् ॥ १५४ ॥

सुखादिधर्महानौ तु मुक्तेः किं स्यात्प्रयोजनम् ॥

यद्यर्थो दुःखहानिः स्यादनर्थः सुखनाशनम् ॥ १५५ ॥

सुखमेव लोके पुमर्थः मोक्षे तदनङ्गीकारे मुक्तेः किं प्रयोजनं न च
दुःखनाशः प्रयोजनं तदपेक्षया सुखनाशस्याऽत्यन्ताऽनिष्टत्वेन सुत-
रामपुमर्थत्वं स्यात् ॥ १५५ ॥

तयोश्च दुःखहानाद्धि सुखनाशोऽधिको भवेत् ॥

प्राप्नोति हि महादुःखं सुखलेशाऽऽप्तये जनः ॥ १५६ ॥

तयोर्दुःखनाशसुखयोर्मध्ये दुःखहानादिष्टात्सुखनाशोऽधिकोऽनि-
ष्टो भवेत् । जनो महादुःखं प्राप्याऽपि सुखलेशाऽवाप्तये यतते ॥ १५६ ॥

यतते सुखहानौ कः प्रयतेत विमुक्तये ॥

आत्मसुखविनाशाद्वै विभीतो लौकिको जनः ॥ १५७ ॥

लोके सुखनाशार्थं कः यतते न कोपीत्यर्थः सुखहानौ स्वीकृतायां
विमुक्तये कः प्रयतेत सुखनाशाद्भीतो जनो महादुःखमाप्नोति ॥ १५७ ॥

महादुःखकरं घोरं पापं कुर्वन्ति पण्डिताः ॥

सुखलेशाऽऽप्तये केचिदगम्यगमनादिकम् ॥ १५८ ॥

केचित्पण्डिताः धर्माधर्मादिस्वरूपज्ञा अतिविवेकिनोऽपि सुख-
लेशप्राप्तये महानरकादिदुःखजनकमगम्यागमनादिकं जानन्तोऽपि
सुखरागात्कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १५८ ॥

विमतो दुःखयुग्यस्माच्चेतनः सन्सुखोज्झितः ॥

प्रतिपन्नो यथा चैत्रो दुःखं मुक्तौ न किं भवेत् ॥ १५९ ॥

विमतः साङ्ख्य्याद्यभिमतो मुक्तो दुःखवान् सुप्तप्रलीनमूढाभिन्नचे-
तनत्वाच्चैत्रादिवन् नारकादिवच्च सुषुप्तौ प्रलये मूढायां च व्यभिचा-

स्वारणाय क्रमेण विशेषणानि ॥ १५९ ॥

सर्वश्रुतिपुराणेषु सुखभावोक्तितस्तथा ॥

मुक्तौ न ग्राह्यमेवैतत्सुखाभावमतम्बुधैः ॥ १६० ॥

उक्तानुमानाच्छ्रुत्याशुक्तिश्च सुखभाव एव मुक्तिः अतो बुधै-
रेतन्मुक्तौ सुखाऽभावमतं न ग्राह्यमेव ॥ १६० ॥

श्रुतिपुराणान्युदाहरति ।

सोऽनानन्दाद्विमुक्तः सन्नानन्दी भवति स्फुटम् ॥

निर्गुणे ब्रह्मणि मायि धारयन् विशदं मनः ॥

परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते ॥ १६१ ॥

सइति । सः अनानन्दाद्विमुक्तः आनन्दी भवतीति श्रुतिः यत्रेत्ये-
कादशस्कन्धे भगवद्वचनम्, निर्गुणे प्राकृतगुणशून्ये कामः स्पृहा-
ऽवसीयते नश्यति ॥ १६१ ॥

न विष्णुसदृशो देवो न मोक्षसदृशं सुखम् ॥

न वेदसदृशं वाक्यं वर्णं ॐकारसंमितः ॥ १६२ ॥

ओङ्कारसदृशो मन्त्रो नाऽस्तीत्यर्थः ॥ १६२ ॥

यत्राऽऽनन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ॥

कामस्य यत्राऽऽप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि ॥ १६३ ॥

“सोऽश्नुते सर्वान्कामान्स ह ब्रह्मणा विपश्चिता” परं ज्योतिरूप-
संपद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति,
जक्षन् क्रीडन् रममाण इत्याद्याः श्रुतयोऽपि ज्ञेयाः ॥ १६३ ॥

ग्रन्थमध्ये स्वेष्टदेवं प्रणमति ।

यदीयाद्भ्रष्टजसच्छायासंश्रिता मुक्तिगा जनाः ॥

रमन्ते निर्भया नित्यं वन्दे तं हयकंधरम् ॥ १६४ ॥

इति श्रीवेदान्तसिद्धान्तसङ्ग्रहे वनमालिविरचिते सोपायमुक्तिवर्णनं
नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

यदीयेति ॥ १६४ ॥

इति मोक्षवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

जीवेशयोः स्वरूपे परेशाऽऽराधनं च पृच्छति ।

शिष्य उवाच

को जीवः कीदृशो वा स्यात्कथं तिष्ठति सर्वदा ॥

को वेशः कीदृशो वा स्यात् किं तदाराधनं प्रभो ॥ १ ॥

क इति । कः किंस्वरूपः कीदृशः किंधर्मको जीवो देहादितो भिन्नो ऽभिन्नो वा ऽणुर्महान् मध्यमपरिमाणः परेशादभिन्नो भिन्नो वेत्यादिः प्रश्नार्थः । कः किंस्वरूपः कीदृशः किंधर्मकः परिमितगुणो ऽपरिमितगुणो नित्यविग्रहोऽनित्यविग्रहो वेत्यादिः प्रश्नार्थः ॥ १ ॥

तत्राऽऽदौ देहादितो भिन्नतया जीवस्वरूपं निरूपयति ।

गुरुवाच ।

अहंप्रत्ययवेद्योऽयं भिन्नो देहद्वयात्सदा ॥

सुखदुःखादिभोक्ता च जीवः सङ्गीयते बुधैः ॥ २ ॥

अहमिति ॥ स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयात्सदा भिन्नः । सुखादिभोगप्रकारस्तु प्रागभिहितः ॥ २ ॥

देहाऽऽत्मभेदाऽनुभवमाह ।

पितृनन्वभवं बाल्ये यौवने योषितस्तथा ॥

पुत्रादीन् धुना वृद्धः स्वप्ने व्याघ्रशरीरकः ॥

आसं योऽहमिदानीं चाऽस्मि मनुष्यशरीरकः ॥ ३ ॥

पितृनिर्वाल्याद्यवस्थाभेदभिन्नेऽपि देहे आत्मस्वरूपस्याऽनुगतस्यैकस्यैवाऽनुभवात् स्वप्नादिस्थाऽननुगतदेहगताऽनुगताऽऽत्माऽनुभवाच्च आत्मनो देहान्नेदसिद्धिः ॥ ३ ॥

उत्पन्नश्चेष्टते बालः स्तनपानादिकर्मणि ॥

पशूनामपि तत्राऽस्ति हीष्टसाधनतामतिः ॥ ४ ॥

उत्पत्तिकाल एव स्तनपानादिकर्मणि चेष्टते प्रवर्तते ऽतस्तत्र तदानीं पशूनामपीष्टसाधनताधीरस्ति ॥ ४ ॥

प्रवृत्तौ हेतुता तस्याः साऽनुमारूपिणी भवेत् ॥

तद्धेतुर्व्याप्तिधी न स्याद्विना देहाऽन्तरस्मृतिम् ॥ ५ ॥

प्रवृत्तिहेतुरिष्टसाधनता ऽनुमा ऽनुमितिः तस्या हेतुर्व्याप्तिधीर्दे-
हाऽन्तरस्मृतिं विना न सम्भवति ॥ ५ ॥

देहाऽन्तरस्मृतौ चाऽननुगतदेहेष्वनुगताऽऽत्माऽनुसन्धानात्त-
योर्भेदसिद्धिरित्याशयेनाऽऽह ।

अनुस्यूतं यथा सूत्रं मणिष्वेकं पृथक् ततः ॥

नानादेहाऽनुवृत्तौऽयं जीवस्ततो भवेत्पृथक् ॥ ६ ॥

यथाऽनेकमणिषु प्रोतं सूत्रमेकं तद्वन्नानादेहानुगत आत्मैकः ॥६॥
प्राणेभ्य आत्मनो भेदमाह ।

प्राणेषु चेष्टमानेषु सुप्तौ मोहे चितो लये ।

चैतन्यं दृश्यते नैव शरीरेन्द्रियसंग्रहे ॥ ७ ॥

प्राणेष्विति । सुषुप्तौ मूर्छायां च प्राणेषु चेष्टमानेषु सत्सु चितो-
जीवस्य नाडीस्थभगवद्रूपे लये सति शरीरेन्द्रियादिसङ्घाते चैतन्यं
न दृश्यते ऽतः प्राणेभ्यो जीवो भिन्नः । अनयैव युक्त्या देहस्थरु-
धिरादिधातुभ्योऽपि भेदः सिद्धः ॥ ७ ॥

येन दृष्टं पुरा रूपं रसो गन्धादिकं पृथक् ।

तन्नाशेऽप्यहमद्राक्षं रूपं नेत्रेण तद्दिने ॥ ८ ॥

चक्षुरादिभिदा जीवेऽनुभवेन प्रसाधिता

संस्काराद्याश्रयो जीवो भिन्नः सदेन्द्रियादितः ॥ ९ ॥

येन चक्षुरादिना पुरा रूपादिकमनुभूतं तस्य नाशेऽप्यन्धादीनां
तद्दिने रूपमहमद्राक्षमिति स्मरणादिन्द्रियेभ्योऽप्यात्मा भिन्नः ॥८॥९॥

करणं चित्तबुद्ध्याद्यं कर्तृता तस्य नोचिता ॥

दृष्टः कर्तेतरो लोके कारकः करणादितः ॥ १० ॥

मनोबुद्धिचित्ताऽहङ्काराणां करणत्वात्ततोऽपि कर्त्ताऽऽत्मा भिन्नः ।

कर्तृकरणयोर्भेदस्योत्सर्गसिद्धत्वात् ॥ १० ॥

लिङ्गदेहात्सुसिद्धोऽपि भेदो रीत्याऽनया स्फुटम् ॥

उक्ताऽभिन्नत्वतस्तस्य शास्त्रेणाऽपि स साध्यते ॥ ११ ॥

तस्य लिङ्गदेहस्योक्तैरिन्द्रियमनोबुद्ध्यादीभिः सहाऽभिन्नत्वात्
ततो भेदसिद्धौ यद्यपि जीवे लिङ्गदेहाद्भेदः सिद्ध्यति तथापि स
लिङ्गदेहभेदः शास्त्रेणाऽपि साध्यते ॥ ११ ॥

तत्र मोक्षधर्मवाक्यमुदाहरति ।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्परतोऽमृतम् ॥

अमृतान्नाऽपरं किञ्चित्ता काष्ठा सा परा गतिः ॥ १२ ॥

महान् महत्तत्त्वम् । परं सूक्ष्मम् । अव्यक्तं प्रधानम् । परं सूक्ष्मम् ।
परतः परं सार्वविभक्तिकस्तसिः । अमृतम् । आत्मस्वरूपम् । अमृता-
त्परं सूक्ष्मं नाऽस्ति । गम्यते प्राप्यत इति गतिः पूर्णाऽऽनन्दाऽऽत्मत-
त्त्वम् ॥ १२ ॥

अहं वेद्य आत्मैव सुषुप्त्यैतत्प्रवृत्तिः ॥

विरोधः श्रुतिवाक्यैः स्यान्न प्रेमाऽऽस्पदताऽन्यथा ॥ १३ ॥

अन्यथाऽहमर्थस्याऽनात्मत्वस्वीकारे “माममृतं कृधि ज्योतिरहं वि-
रजा विपाप्मा भूयासमिति” श्रुत्याऽहमर्थस्याऽमृतत्वमुक्तम् तच्चाऽना-
त्मनो न सम्भवति “कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मि-
न्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि” “स प्राणमसृजत” “हन्ताऽहमिमा-
स्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी-
त्यादि” श्रुत्या जगत्कारणेऽहन्त्वमुक्तं तदात्मानमेवावेदाऽहंब्रह्मास्मी-
त्यवधारणेन शुद्धाऽऽत्मनोऽहन्त्वमुक्तम् ।

मत्तः परतरं नाऽन्यत् मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते, ।

अहमात्मा गुडाकेश ।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।

मामेकं शरणं ब्रजेत्यादिस्मृत्याऽहमर्थस्य परब्रह्मत्वमुक्तं सुषु-
प्त्यर्थमहमर्थस्य प्रवृत्तिदर्शनात्तस्याऽऽत्मत्वसिद्धिः किञ्चाऽहमर्थस्या-

ऽनात्मत्वे त्वन्नये तस्य नाशाऽऽपत्त्या बौद्धमतप्रवेशः परमप्रेमाऽऽस्प-
दाऽहमर्थनाशस्य तद्भिन्नग्रहशून्यादिकृतनामकावस्थानस्य च युषयो-
स्तुल्यत्वात् नह्यहमर्थभिन्ने निरुपधिप्रेमाऽऽस्पदत्वं काऽप्यनुभूयते ।
निरुपधिप्रेमाऽऽस्पद एवाऽऽत्मा स त्वहमर्थ एव तन्नाशो बौद्धमत इव
त्वन्मतेऽप्यस्ति ॥ १३ ॥

बाधकान्तरमप्याह

सुखमस्वाप्तमित्येवं स्मरणं न भवेत् कचित् ॥

सुषुप्तौ मनसोऽभावात् कृतहानादिकं भवेत् ॥ १४ ॥

सुखमिति । सुषुप्तावन्तःकरणस्य तन्मते नाशेन तद्घटिताऽहम-
र्थस्य तदानीमभावेन जाग्रत्यहमर्थाधिकरणकस्मृत्यनुपपत्तिः अनु-
भवस्मरणयोः सामानाधिकरण्यानियमात् ॥ १४ ॥

ननु गौरोऽहमित्यत्र देहनिष्ठगौरत्वस्याऽहमर्थ इवाऽत्मनिष्ठप्रेमाऽऽ-
स्पदत्वादिकमहमर्थ आरोप्यते ऽतः सुप्तौ प्रवृत्त्याद्युपपत्तिस्तत्राऽऽह

काश्यादिधीर्भवेद्गौणी कृष्णं वस्त्रमिति स्फुटम् ॥

मम देह इति ज्ञानसत्त्वे नैकत्वधीर्भवेत् ॥ १५ ॥

अहमिति । अहं गौरोऽहं कृष्ण इत्यादि काचित्कं ज्ञानं कर्दम-
लिप्ते वस्त्रे कृष्णमिति वदौपचारिकमेव मम देह इत्यादिभेदज्ञाने वि-
द्यमाने ऽभेदारोपाऽसम्भवात् । तथाच दृष्टान्ताऽसिद्धिः । आरोप्य-
सर्पाऽऽदिगतभीषणत्वादेरज्ज्वादाविवाऽहमर्थगताऽप्रेमाऽऽस्पदत्व-
स्यैवाऽऽत्मनि भानाऽऽपत्तेः ॥ १५ ॥

ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमिति ज्ञानं प्रमैव नः ॥

देहभेदयुतात्मैव ब्राह्मणादिर्भवेद्यतः ॥ १६ ॥

देहभेदेन देहविशेषेण युक्त आत्मा ब्राह्मणादिपदवाच्यः देहनाशे
तद्योगस्य पदप्रवृत्तिनिमित्तस्याऽभावान्नाऽऽत्मनि ब्राह्मणादिपदवा-
च्यत्वम् ।

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते

कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्याऽनन्तसुखाय चेति स्मृत्या देहभि-
न्नस्यैव देहविशिष्टस्याऽऽत्मनो ब्राह्मणपदवाच्यत्वोक्तेः ॥ १६ ॥

कार्यानुकूलकृतिमत्त्वादिरूपकर्तृत्वमन्तःकरणोत्पन्नमप्यविद्यास-
हकृतस्वामित्वादिसम्बन्धेन वास्तवं जीवे वर्त्तमानं तस्यैव सुखदुः-
खादिरूपफलदत्वमित्याशयेनाऽऽह

वास्तवी कर्तृता तस्य स्याद्भोक्तृत्वं यतस्तथा ॥

अन्यथा व्यर्थता हि स्याद्विधानप्रतिषेधयोः ॥ १७ ॥

वास्तवीति । यतः कर्तृता तस्य तथा वास्तवमेव भोक्तृत्वं तस्य
जीवस्य भवेत् । अन्यथा जीवस्य वास्तवकर्तृत्वाऽनङ्गीकारे विधि-
निषेधशास्त्रयोर्वैयर्थ्यं स्यात् । “ कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वादिति ” सूत्रेण
विधিনিषेधशास्त्रयोरर्थवत्त्वाऽन्यथाऽनुपपत्त्या जीवस्य व्यवस्था-
पितम् ॥ १७ ॥

जीवस्य वास्तवकर्तृत्वे स्मृतिमुदाहरति ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ॥

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्षयसे कर्मबन्धनैः ॥ १८ ॥

यदनिषिद्धं लौकिकं वैदिकं वा कर्म करोषि तन्ममाऽर्पणं कुरु
पवं कर्मणो मदर्पणे कृते स्वर्गनरकादिफलदैः कर्मबन्धनैः प्रवाहाऽना-
दिभूतैर्मोक्षयसे । नहि मिथ्याभूतकर्तृत्वस्य स्वाऽर्पणं ततो मोक्षः फल-
मिति सर्वज्ञेन परमात्मेन वक्तुं युक्तम् ॥ १८ ॥

ननु जपाकुसुमनिष्ठलौहित्यं स्फटिकइवाऽन्तःकरणनिष्ठकर्तृत्वं
जीवे आरोप्यते तत्राऽऽह

मोक्षो यस्य भवेत्तस्यैव न्याय्या कर्तृता सताम् ॥

यः कर्त्ता स भवेद्भोक्तेति प्रथा लोकशास्त्रयोः ॥ १९ ॥

मोक्षइति । अन्तःकरणनिष्ठकर्तृत्वादेरारोपो न शुक्तौ रूप्यस्येव
निरुपाधिकः तद्धेतोः सादृश्यज्ञानस्याऽभावात् । सादृश्यज्ञानस्य
तत्र हेतुत्वाऽनङ्गीकारेऽधिष्ठानधियोऽप्यहेतुत्वाऽऽपत्तेः । उपाधिनि-
वृत्तिं विनाऽपि सकृद्ज्ञानमात्रेण निवृत्त्यापत्तेश्च । नाऽपि सोपाधिकः
लौहित्यस्य स्फटिककुसुमयोरिव जीवाऽन्तःकरणयोरुभयोर्युगपदुप-
लम्भाऽऽपत्तेः ॥ १९ ॥

कचिज्जीवस्याऽकर्तृत्वोक्तिरस्वातन्त्र्याऽभिप्रायेणेत्याह

अकर्तृत्वागिरस्तस्य स्युः स्वातन्त्र्यनिषेधिकाः ॥

पराधीनतया कर्तुरप्यस्त्येव हि कर्तृता ॥ २० ॥

अकर्तृत्वेति । पराधीनप्रभौ अप्रभुरितिवत्पराधीनकर्त्तरि अकर्तृपदप्रयोगोपपत्तेः ॥ २० ॥

यदि स्यात्पुरुषःकर्त्ता शक्तात्मा श्रेयसि ध्रुवम् ॥

आरम्भास्तस्य सिद्धेयुर्न च जातु पराभवेत् ॥ २१ ॥

यदीति । शक्तात्मा स्वतन्त्रः सन् कर्त्ता स्यात्तर्हि तस्य सर्वे आरम्भाः सिद्धेयुः सफलाः स्युः स पुमान् जातु कदाचिदपि कुतश्चिन्न पराभवेत् ॥ २१ ॥

स्वातन्त्र्याऽभावेनाऽकर्तृत्वबोधकमोक्षधर्मवाक्यमुदाहरति

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ॥

स्वातन्त्र्यं वार्यते जीवे चेष्टामात्रेऽनया गिरा ॥ २२ ॥

॥ २२ ॥

एतदेव स्पष्टयति

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ॥

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाऽम्भसा ॥ २३ ॥

ब्रह्मणीति । हरिरेवाऽन्तःस्थः कर्म कारयति नाऽहं स्वतन्त्रः कर्मकर्त्तेति ब्रह्मणि हरौ कर्माणि निधाय हरेरेवेदं कर्म न ममाऽनेन स एव प्रीयतामिति सङ्गत्यागेन पापेन कर्मरूपयाऽनाद्यविद्यया न लिप्यते ॥ २३ ॥

पराधीनमपि जीवस्य कर्तृत्वं सार्वदिकमेव मुक्तावपि तस्य सत्त्वादित्याह

विहारश्रवणान्मुक्तौ कर्तृत्वस्य हि सत्यता ॥

कर्तृत्वं द्विविधं प्रोक्तं स्वरूपं बाह्यमेव च ॥ २४ ॥

विहारेति । स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् गममाण इति विहारश्रव-

णात् स्वरूपनिष्ठं कर्तृत्वं स्वाभाविकं प्रागविद्यावृतं मुक्तावाविर्भू-
तम् ॥ २४ ॥

वाह्यमेवाऽऽह

वाह्यं स्यात्कृतिमत्त्वादि तच्चाऽन्तःकरणोद्भवम् ॥

स्वस्वामित्वादिसंबन्धैर्जीवे तिष्ठति वास्तवम् ॥ २५ ॥

वाह्यमिति । अन्तःकरणोत्पन्नं कृतिमत्स्वरूपकर्तृत्वमविद्यासहकृ-
तस्वामित्वादिसम्बन्धेन सत्यमेव जीवे वर्तते ॥ २५ ॥

अविद्यासहकृतत्वस्य व्यावृत्तिमाह

यद्यपीश्वर एवाऽस्ति मुख्यं तत्स्वामिता सदा ॥

तथाऽप्यत्र न संबन्धाऽऽधायिका ह्यज्ञता क्वचित् ॥ २६ ॥

यद्यपीति । तस्य दुःखादिसंसारस्य स्वामित्वं मुख्यं परमेश्वरेऽस्ति
तत्संबन्धघटकाऽविद्याया अत्रेश्वरेऽभावात् नेश्वरे संबन्धः ॥ २६ ॥

एतदेव स्पष्टयति

साऽज्ञाना स्वामिता हि स्यात् संबन्धो वाह्यतःकृतेः ॥

आत्मरूपं हि कर्तृत्वं मुक्तावाविर्भवेन् नृणाम् ॥ २७ ॥

साज्ञानेति । वाह्यतो वाह्याया अज्ञानेन सह व-
र्त्तमाना साज्ञाना स्वामिता स्वरूपभूतं कर्तृत्वं तु जीवस्य मुक्तावेवा-
ऽऽविर्भवति ॥ २७ ॥

बन्धकाले क्वचित्प्रोक्तं तस्याऽकर्तृत्वचिन्तनम् ॥

तत्स्वातन्त्र्यनिवृत्त्यर्थमभिमाननिवृत्तये ॥ २८ ॥

क्वचित्पुराणादौ स्वातन्त्र्यनिवृत्त्यर्थं तस्य जीवस्याऽकर्तृत्वाचि-
न्तनमुक्तं तदपि देहगोहादावहं ममेत्यभिमाननिवृत्त्यर्थमुक्तम् ॥ २८ ॥

सजीवानां हि पञ्चानां कर्तृत्वं प्राह माधवः ॥

केवलस्यैव जीवस्य तन्न्यवारपदीश्वरः ॥ २९ ॥

जीवसाहितानां पञ्चानां कर्तृत्वं विधाय केवलस्य जीवस्य कर्तृत्वं
निषिद्धम् ॥ २९ ॥

भगवद्वचनमुदाहरति ।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ॥

साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ ३० ॥

पञ्चेति । मं मत्तः पञ्चैतानि कारणानि निबोध शृणु सेश्वरसां-
ख्ये कृतान्ते वेदान्ते कथितानि ॥ ३० ॥

तान्येवाऽऽह ।

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ॥

विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवाऽत्र पञ्चमम् ॥ ३१ ॥

अधिष्ठानमिति । अधिष्ठानमिन्द्रियाद्याश्रयो देहः । कर्त्ता जीवः ।
करणमिन्द्रियवृन्दं पृथग्विधं ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियादिभेदेन नानाप्र-
कारम् । विविधा नानाप्रकाराः पृथगसङ्कीर्णाश्चेष्टाः प्राणापानव्यानो-
दानसमानादयः । दैवम् । सर्वः परमेश्वरः । यथा चत्वारोऽन्ये क्रियायां
हेतवस्तथा जीवोऽपि न तु केवलो जीव एव कर्त्तैति भावः ॥ ३१ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्राऽऽरभते नरः ॥

न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ ३२ ॥

शरीरादिना न्याय्यं विहितं विपरीतमविहितं निषिद्धं च यत्कर्म
प्रारभते तत्रोक्ताः पञ्चैव हेतवो न केवलो जीव इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

केवलं स्वस्यैव कर्तृत्वाभिमानं निन्दति ।

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः ॥

पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ ३३ ॥

तत्रेति । एवं पञ्चानामेव कारणत्वे सति आत्मानं स्वं केवलं
कर्त्तारं नोक्तहेत्वन्तरसहितं स गुरुपदेशेनाऽसंस्कृतबुद्धित्वात् दुर्म-
तिः सम्यक् न पश्यति हेत्वन्तरं विहायाऽऽत्मन एव कर्तृत्वं जाना-
तीति भावः ॥ ३३ ॥

जीवानां वास्तवं प्रतिदेहं भेदमाह ।

प्रतिदेहं स भिन्नः स्याद्भोगसांकर्यवर्जनात् ॥

भेदस्यौपाधिकत्वं हि श्रुतिपुक्त्यादिषाभितम् ॥ ३४ ॥

प्रतीति । सर्वदेहेषु जीवैक्ये स्वर्गनरकवन्धमोक्षगुरुशिष्यादिव्यवस्थाभङ्गः स्यात् देहेन्द्रियान्तःकरणाद्युपाधिभेदेऽपि कायव्यूहैर्योगिनः सर्वदेहेषु भोगः सुप्रसिद्धः । “शारीरश्चोभये ऽपि हि भेदेनैनमधीयत” इति सूत्रेण शारीरो जीवोऽन्तर्यामी न भवति किंतु ततो वस्तुतो भिन्नो हि यत उभये काण्वा माध्यन्दिनश्चैनं शारीरमन्तर्यामिणः सकाशात् “यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानं यं न वेद य आत्मनि तिष्ठन्नात्मा यं न वेदेत्यादिना” भेदेनैवाऽधीयत इत्यर्थके न विरोधः । विज्ञानात्मशब्दौ जीववाचकौ ॥ ३४ ॥

मोक्षहेतोर्गुर्वाद्युपदेशादेर्मिथ्यात्वे मोक्षोऽपि मिथ्या स्यादित्याह

गुरुशिष्यादिभावादि स्यात् स्वप्नमृषा तव ॥

तदा मोक्षो भवेन्मिथ्या स्वप्नमोक्षो यथा मृषा ॥ ३५ ॥

गुर्विति । स्वाप्तिकश्रवणमनननिदिध्यासनब्रह्मापरोक्षजन्यमुक्तिः यथा स्वाप्ती मिथ्या तथा मिथ्याभूतगुरुश्रवणमनननिदिध्यासनसाक्षात्कारहेतुकमोक्षोऽपि मिथ्या स्यात् मोक्षस्य मिथ्यात्वाङ्गीकारे बौद्धमतप्रवेशः स्पष्ट एव ॥ ३५ ॥

भेदस्यौपाधिकत्वे दोषमाह ।

उपाधेरकदेशेन संबन्धे स्यात् सदेशता ॥

कृत्स्नैव हि संबन्धे न स्याद्भेदकता कचित् ॥ ३६ ॥

उपाधेश्चैतन्यैकदेशसंबन्धे चैतन्यस्य सदेशत्वं स्यात् कृत्स्नचित्सम्बन्धे उपाधेर्भेदकता न स्यात् ॥ ३६ ॥

आगमविरोधमाह ।

अतीतानां च हानं हि मोक्षस्य बोधिका श्रुतिः ॥

व्यर्था स्याद्वन्धमोक्षादिव्यवस्थायाश्च भञ्जनम् ॥ ३७ ॥

अतीतेति । “यथा यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्” “अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः” “नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां”मिति श्रुतीनाम् वहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ॥

ये च मुक्ता भवन्तीह नरा भरतसत्तम ॥
 तेषां लक्षणमेतद्यच्छ्वेतद्वीपनिवासिनाम् ॥
 ततस्त्रैगुण्यहीनास्ते परमात्मानमञ्जसा ॥
 विशन्ति विप्रप्रवराः सांख्या भागवतैः सहेत्यादिस्मृतीनां बहूनां
 मुक्तिं वदन्तीनां वैयर्थ्यापत्तेः ॥ ३७ ॥

जीवानामणुपरिमाणं निरूपयति ।

सच्चिदानन्दरूपास्ते परिमाणेन चाऽणवः ॥

तदुक्तान्त्यादिवाक्यानामन्यथा स्याद्विरोधिता ॥ ३८ ॥

सदिति । “अणुर्ह्येष आत्मा यं वा एते सिनीतः पुण्यं च पापं च”

“वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽऽनन्त्याय कल्पते ।

इत्यादिश्रुतेः । “सोऽस्माच्छरीरादुक्तम्याऽमुल्लोकमभिगच्छति
 अमुष्मादिमं लोकमागच्छती”त्यादिश्रुतिभिः

तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ।

इत्यादिस्मृतिभिश्च गमनमुक्तं तच्च विभोर्न संभवति म-
 ध्यमपरिमाणत्वे त्वनित्यत्वापत्तिरिति जीवस्याऽणुत्वसिद्धिः ।
 न च गमनादिश्रुतिर्बुद्धिविषया । “नाकस्य पृष्ठे सुकृते तेऽनु
 भूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ते अशुभमनुभूयाऽऽवर्त्तन्त ”
 इत्यादिश्रुतौ गतेः सुखदुःखाद्यनुभवरूपसंसारसामानाधिकरण्यो-
 क्तेः, न च दुःखानुभवरूपसंसारो बुद्धेः मोक्षस्य चैतन्यधर्मत्वेन
 तत्रैव संसारौचित्यात् अन्यथा बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः “स
 एतान् ब्रह्म गमयती”त्यादिश्रुतौ

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।

इत्यादिस्मृतौ च मुक्तिसामानाधिकरण्योक्तेश्च “तेन प्रद्योतेनैव
 आत्मा निष्कामती”त्यात्मनिष्ठत्वश्रुतेश्च न च बुद्ध्युपाधिकमात्मनि
 गमनं “तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवाऽयं शारीर
 आत्मा प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जघातीति” स्वाभाविकगत्या-
 श्रयशकटदृष्टान्तोक्तेः “स न उदक्रामन्मीलित इवाऽश्नन्निषण्णास्ते वे-
 त्यादि”श्रुतौ मनसः उक्रमणेऽप्यात्मनस्तदभावश्रवणाच्च “तदा वि-
 द्वाभ्यामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यमित्यादिश्रुतौ ” ना-

मरूपविमोक्षोत्तरमपि गतिश्रवणाच्च “परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपे-
णाऽभिनिरूप्यते” “स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाण ” इत्या-
दिश्रुतौ स्वरूपाविर्भावरूपपरममोक्षेऽपि गत्युक्तेश्च ॥ ३८ ॥

ननु जीवस्याऽणुत्वे युगपत्सर्वाङ्गतदुःखाद्यनुभवो न स्यादित्या-
शङ्क्य तस्य देहैकदेशस्थत्वेऽपि तदीयज्ञानादिगुणस्य देहव्यापकत्वा
द्युक्तो युगपत्सर्वाङ्गेषु दुःखानुभव इत्याह ।

एकदेशस्थदीपस्य प्रभा स्याद्यापिनी यथा ॥

तथा जीवगुणव्याप्तिस्ततः सर्वाङ्गभोजनम् ॥ ३९ ॥

एकेति । यथा गृहैकदेशस्थदीपस्य प्रभा गृहव्यापिनी तथा
देहैकदेशस्थजीवस्य ज्ञानादिगुणो व्यापकस्ततो दुःखादिभोग
इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

गुणिन एकदेशस्थत्वेऽपि गुणस्य व्याप्तिः संभवतीत्यत्र दृष्टान्ता-
न्तरमाह ।

यथा चन्दनविन्दुर्हि देहैकदेशसंस्थितः ॥

विधत्ते शैत्यमङ्गेषु तथा जीवस्य भोजनम् ॥ ४० ॥

यथेति । देहैकदेशपतितश्चन्दनविन्दुः सर्वाङ्गेषु शैत्यं करोति
यथा तथा देहैकदेशस्थस्य जीवस्य गुणो देहव्याप्तः ॥ ४० ॥

अवच्छेदकमङ्गुयादि क्षेत्रं बुद्धिरुदीरिता ॥

दुःखादीनां भवेद्भोक्ता स्वामितादितया नरः ॥ ४१ ॥

दुःखादीनामुत्पत्तौ हस्तपादादिकमवच्छेदकं जलूकावत्संकोचवि-
काशशीलमन्तःकरणं क्षेत्रम् अविद्यासहकृतस्वामित्वादिसंबन्धेन
जीवगतदुःखादिकं जीवेनाऽनुभूयते । यथा क्षेत्रे कुसूले च मम धन-
महं धनीति क्षेत्रकुसूलाद्यवच्छेदेन स्वामित्वसंबन्धेन पुरुषे वसंते
तथा संकोचविकाशशालिन्यन्तःकरणे हस्तपादाद्यवच्छेदेनोत्पन्नो
दुःखाद्यनुभवः स्वामित्वादिसंबन्धेन जीवे सूषण्ण एव ॥ ४१ ॥

ननु देशान्तरीयस्य चैत्रभोगसाधनाङ्कुरादेश्चैत्रादृष्टजन्यत्वमा-
वश्यकं कार्यं प्रत्यदृष्टस्य हेतुत्वात् यदङ्कुरादिर्यदीयभोगहेतुः स त-
दीयादृष्टजन्य इति नियमात् असन्निकृष्टस्याऽजनकत्वेन सबन्धो वा-

च्य आत्मनिष्ठादृष्टस्याऽङ्कुरादौ साक्षात् संवन्धासंभवेनाऽऽत्मद्वारकः
स्वाश्रयसंयोगो वाच्यः स चाऽऽत्मनो व्यापकत्व एधोपपद्यते भणो-
र्वैशान्तरीयाङ्कुरादौ संयोगाभावादित्याशङ्कनमपाकरोति ।

श्रुत्याद्येन स्फुटं तेषामणुत्वं प्रतिपादितम् ॥

तन्निष्ठादृष्टसंवन्धो दूरस्थेनाऽङ्कुरादिना ॥ ४२ ॥

श्रुत्याद्येनेति । श्रुत्यादिना तेषां जीवानामणुत्वं स्फुटं प्रतिपादितं
दूरस्थेनाऽङ्कुरादिना तस्य जीवनिष्ठादृष्टस्य संवन्धः कल्प्यते ॥ ४२ ॥

विप्रकृष्टानामपि संबन्धमुदाहरति ।

यथा दूरस्थवाच्येन पदानां विषयेण च ॥

ज्ञानेच्छाभावनादीनां सम्बन्धो जायते तथा ॥ ४३ ॥

यथेति । वाच्यवाचकज्ञानक्षेयेच्छेद्यमाणादीनां विप्रकृष्टानामपि
संबन्धस्तथाऽदृष्टाङ्कुरयोः संबन्धः ॥ ४३ ॥

आत्मद्वारकसम्बन्धो व्यापकत्वनये सदा ॥

सर्वेषामात्मनामस्ति विद्यते न नियामकम् ॥

एतस्याऽदृष्टजन्यं स्यादिदं नाऽन्यस्य भुक्तये ॥ ४४ ॥

आत्मनो व्यापकत्वनये आत्मद्वारकसंबन्धः सर्वेषामात्मनामदृष्टा-
नामङ्कुरादौ संबन्धोऽस्ति चैत्रभोगसाधनमेवेदं न मैत्रस्येति निया-
मकं न विद्यते चैत्रादृष्टजन्यमिति चैत्रभोगसाधनं न मैत्रादृष्टजन्यं-
न वा तद्भोगसाधनमिति नियामकं नाऽस्तीत्यर्थः किञ्च चैत्रभोगहेतु-
शब्दस्याऽपि चैत्रादृष्टजन्यत्वं वाच्यं तच्च विभुद्वयसंयोगासम्भवात्स्वा-
श्रयसंयोगादभ्यः संबन्धस्तथाऽप्यावश्यकः ॥ ४४ ॥

सर्वगत्ववचो ह्येषां श्रूयते यत्कचित् स्फुटम् ॥

तत्सर्वत्रैव कालादौ सर्वयोनिषु वै क्रमात् ॥ ४५ ॥

सर्वत्र काले सर्वासु योनिषु चाऽणूनामप्यात्मनां क्रमाश्रमनं घृतं
इत्युत्तरेणाऽन्वयः ॥ ४५ ॥

गतिं ब्रूते सदैतेषां न तु व्यापकतामणोः ॥

कायव्यूहोऽपि केषां चित् तथा सामर्थ्यशालिनाम् ॥ ४६ ॥

अणोरणुत्वेनाऽऽगमादिसिद्धस्य व्यापकतां न श्रूते सामर्थ्यविशेष-
वतां केषां चिद्योगिनां कायव्यूह उपपद्यते तदीयान्तःकरणस्य ता-
वदेहेषु वैपुल्यस्याऽन्तःकरणभेदे तु तावदन्तःकरणस्वामित्वस्य तत्र
सम्भवात् अविद्यासहकृतस्वामित्वादिकमेव भोगनियामकः सम्ब-
न्धः स नानाऽन्तःकरणनिरूपितो योगिन्यस्तीति तत्त्वम् ॥ ४६ ॥

सामर्थ्यं विद्यते तेषामावृतं तदविद्यया ॥

आविर्भूतं भवेद्विष्णोः प्रसादात्सुधियां क्वचित् ॥ ४७ ॥

तेषां तादृशसामर्थ्यमविद्ययाऽऽवृतं सर्वदैवाऽस्ति तच्छ्रीहरेः
प्रसादादाविर्भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

अणोरपि युगपद्विप्रकृष्टानेकदेहगतसुखदुःखाद्यनुभवं प्रागुक्तं
स्पष्टयति ।

वैपुल्यं प्राप्नुयाच्चित्तं तत् क्षेत्रं सुखदुःखयोः ॥

तत्रोत्पन्नसुखादीनां सम्बन्धोऽस्ति हि चेतने ॥ ४८ ॥

वैपुल्यमिति । यावन्तो देहास्तत्पर्याप्तमन्तःकरणं प्राप्नोति तत्त-
देहावच्छेदेनाऽन्तःकरणे जातं दुःखादिकं स्वामित्वादिसम्बन्धेन
जीवे विद्यमानं यावदविद्यं तेनाऽनुभूयते । अन्तःकरणस्य प्रतिदेहं
भेदेऽपि तावदन्तःकरणानामविद्यासहितस्वामित्वं योगिनोऽस्तीति
तत्सम्बन्धेन सूपपन्नो भोगः ॥ ४८ ॥

ननु जीव एव दुःखादि सम्भवतीत्यत आह ।

न ह्यस्माकं नये जीवः क्षेत्रं दुखादितो भवेत् ॥

स स्वाम्येव परं भोक्ता स्वामी स्याद्धनवान्यथा ॥ ४९ ॥

नहीति । यतोऽस्माकमौपनिषदानामारम्भवादं समवायं चाऽन-
ङ्गीकुर्वतां प्रकृतिपरिणामवादिनां नये दुःखादितो दुःखादेः क्षेत्रं
जीवो न भवति किन्तु स्वाम्येव स परं केवलं भोक्ता । यथा क्षेत्रो-
त्पन्नधनेन पुमान् धनवान्स्तद्वत् ।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते,

इत्याद्यागमेन जीवस्य निर्विकारत्वं सिद्धं तच्च परिणामि-
त्वविरुद्धम् ।

जाग्रत्स्वप्नःसुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः ।

तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः ॥

इत्याद्यागमेन जाग्रदादीनामन्तःकरणोपादेयत्वोक्तेः ॥ ४९ ॥

जागरावस्थामाह ।

देहादीन् प्राप्य भुङ्क्ते ना शब्दादीन्विषयान्वुधः ॥

पुण्यपापादिकर्माणि जागरे कुरुते तथा ॥ ५० ॥

देहादीनिति । देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि प्राप्य ना पुमान् पुण्य-
पापफलं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धादिकं भुङ्क्ते तथा तादृशानि पुण्य-
पापरूपाणि कर्माणि कुरुते ॥ ५० ॥

स्वप्नावस्थामाह ।

समनस्केन्द्रियैः सूक्ष्मैः संयुक्तो रमते तथा ॥

स्वप्ने वासनयोत्पन्नान् संगृह्णन् विषयान्पुमान् ॥ ५१ ॥

सेति । मनोयुक्तसूक्ष्मेन्द्रियैर्वासनयोत्पन्नान् शब्दादीन्विषयानि-
ष्टानिष्टान् गृह्णन्सन् तथा जाग्रद्वदेव रमते ॥ ५१ ॥

पुण्यपापाधिकारो न भोग एव हि केवलः ॥

तदा नाऽतः कृतब्रह्महननादेः फलं भजेत् ॥ ५२ ॥

तदा स्वप्नावस्थायां पुण्यपापाधिकारो नाऽस्त्येव किन्तु प्राची-
नकर्मफलभोग एव नाऽतस्तदानीं कृतपुण्यपापफलभोगः । केषाञ्चि-
द्वेतःस्खलननिमित्तकप्रायश्चित्तं तु वाचनिकम् ॥ ५२ ॥

ननु स्वाप्नानां पदार्थानां मिथ्यात्वान्नाऽर्थक्रियाकारित्वं तत्राऽऽह ।

स्वामिकानां न वस्तुनां सर्वेषां हि मृषात्मता ॥

केषां चित्स्यात्तदानीं चेद्येषामर्थविपर्ययः ॥ ५३ ॥

स्वामिकानामिति । स्वाप्नवस्तूनां सर्वेषां मिथ्यात्वं नाऽस्त्येव केषां-
चित्तदानीं लब्धमन्त्रादीनां फलसंवादित्वात् फलसंवादिनां सत्य-
त्वानियमात् । केषाञ्चिन्मिथ्यात्वं स्यात् येषामर्थस्य विपर्ययो बाधः ।
यथा स्वप्ने जागरणं स्वशिरश्छेदो हिमालयादौ समुद्रारोहणादिकम्
मिथ्याभूतमेव स्वप्ने परेशेनोत्पादितान् गजरथतुरगादीन्सत्यानेष-

तादृशदेहोन्द्रियादिसाधनैः जीवोऽनुभवति तत्रत्यदेहादिकं सत्यमे-
वाऽदृष्टवशात्प्राप्यते भोगावसाने च त्यज्यते अतश्चक्षुषा रूपं प-
श्यामि श्रवणेन शब्दं शृणोमीति चाक्षुषाद्यनुभवः सूपपन्नः । साक्षि-
णो योग्यास्तेनैवाऽनुभूयन्ते स्वाप्नानां गजादीनामुपादानं वासना
सूक्ष्मा ईश्वरेच्छयाऽभिव्यक्तानां तासान्तदुपादेयानां च तद्वहण-
योग्येन्द्रियैर्ग्रहणमिति विवेकः ॥ ५३ ॥

सुषुप्त्यवस्थामाह ।

भ्रमणेन परिश्रान्तः सुप्तिं गच्छति निष्क्रियः ॥

नाडीस्थाच्युतरूपेण प्राज्ञेनाऽऽलिङ्गितः सुखम् ॥ ५४ ॥

भ्रमणेनेति जागरस्वप्नयोः परिभ्रमणेन श्रान्तो जीवः श्रमाप्लोदाय
सुषुप्तिं प्राप्य तत्र नाडीस्थाच्युतस्य हररूपेण मूर्त्याऽऽलिङ्गितः सन्
निष्क्रियः स्वरूपसुखमनुभवति “यथाऽस्मिन्नाकाशे द्येनो वा सुपर्णो
वा परिकृत्य श्रान्तः संहत्य पक्षान् सँल्लापैर्वा ध्रियते यथा प्रियया
सम्परिष्वक्तो न बाह्यं वेद नाऽन्तरमेवमेवाऽयं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मना
सम्परिष्वक्तो न बाह्यं नाऽन्तरमित्यादि” श्रुतेः । बाह्यं रूपादिकम्
आन्तरं दुःखादिकं स्वरूपसुखमिदं न किञ्चिद्वेदेत्यर्थः ॥ ५४ ॥

ननु स्वरूपसुखस्याविद्यावृतत्वाद्वैषयिकसुखस्य तदानीं साम-
ान्यभावात्किंसुखानुभवस्तदाह ।

आविर्भूतं हरेर्योगादविद्याया विरामतः ॥

स्वरूपेणैव गृह्णातीन्द्रियाणां वर्जनात्तदा ॥ ५५ ॥

आविरिति । हरेर्मूर्त्तैर्योगादविद्याया विरामतिरोभावे सत्या-
विर्भूतं स्वरूपसुखं स्वरूपेणैव गृह्णातीत्यर्थः । सुप्तौ स्वरूपसु-
खमेवाऽनुभूयते न तु विषयोत्थं “न बाह्यं वेद नाऽन्तरमिति”
श्रुतेः । न च सौषुप्तिकानुभवस्य नित्यत्वात्तज्जन्यसंस्कारास-
म्भवेन कथं जागरे सुखमस्वाप्समिति स्मृतिरिति वाच्यम् ।
विषयानुभवसम्बन्धनाशस्यैव संस्कारहेतुत्वात् ज्ञानस्वरूपसुखयो-
र्नित्यत्वेऽपि विषयताख्यतत्सम्बन्धप्रयोजकनाडीस्थभगवन्मूर्त्तिसम्ब-
न्धस्य जागरादावभावाद्विषयतानाशसम्भवात् न च स्वरूपानुभव-
स्याऽन्तःकरणासम्बद्धत्वात्कथं तत्र संस्कारस्मरणयोः सम्भवः सम-

वायस्याऽनङ्गीकारेण फलबलकल्प्यो हि स्वरूपानुभवसम्बन्धोऽवि-
द्यासहजतस्वामित्वादिरूपोऽन्तःकरणेऽप्यस्ति अत एवाऽतीतसु-
खदुःखादीनां स्मृतिरपि सूपपन्नेति विवेकः ॥ ५५ ॥

मूर्च्छामाह ।

हरिसंश्लेषराहित्यात्सुखलेशो न विद्यते ॥

मूर्च्छायां दुःखसम्भूतिस्तन्मुखे न सुखं कियत् ॥ ५६ ॥

हरीति । मूर्च्छायां हरिमूर्तिसंश्लेषराहित्यात्तस्या मुखे आरम्भे
दुःखसम्भवः न सुखं कियत्किञ्चिदपि ॥ ५६ ॥

योगावस्थामाह ।

योगः प्रोक्तो द्विधा तज्ज्ञैः पुरुषार्थस्य साधनम् ॥

सम्प्रज्ञाताभिधो ह्यको ऽसम्प्रज्ञाताभिधोऽपरः ॥ ५७ ॥

योग इति । सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातभेदेन द्विधा पुरुषार्थचतुष्टयसाधनं
तज्जानन्तीति तज्ज्ञाः शेषादयस्तैः ॥ ५७ ॥

सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातयोः स्वरूपमाह ।

सम्प्रज्ञातसमाधौ हि चित्तादिर्विद्यते नृणाम् ॥

तत्राऽऽनन्दस्य सम्भूतिर्जीवो भोक्ता भवेत् तदा ॥ ५८ ॥

सम्प्रज्ञातेति । ध्येयाकारचित्तवृत्तयः ताभिर्ध्येयं विषयीकरोति ।
जन्यसुखमप्यनुभवति ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्व-
रूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्यु-
च्यत इति योगोक्तेः ॥ ५८ ॥

असम्प्रज्ञातसमाधिमाह ।

असम्प्रज्ञातयोगे तु चित्तादिः प्रलयं व्रजेत् ॥

आविर्भूतस्वरूपेण ज्ञानेनाऽनुभवेन्नरः ॥ ५९ ॥

असम्प्रज्ञातेति । असम्प्रज्ञातसमाधौ चित्तादेर्लयो जायते हरिप्र-
सादादाविर्भूतस्वरूपज्ञानेनैव स्वयोग्याशेषहरिनिष्ठा धर्मास्तैराढ्यं
युक्तं हरिं स्वकं स्वीयं पूर्णसुखं चाऽनुभवोदित्यन्वयः ॥ ५९ ॥

नन्वविद्यावरणस्य सत्त्वात् कथं तथाऽनुभवस्तत्राऽऽह ।

स्वयोग्याशेषधर्माढ्यं हरिं पूर्णसुखं स्वकम् ॥

अविद्यायाश्च सङ्कोचान्नाशाद्वाऽत्यन्ततस्तदा ॥ ६० ॥

अविद्यायाइति । मुक्तियोग्यस्याऽविद्याया नाशोऽन्यादृशस्य सङ्कोचोऽतः स्वरूपानन्दानुभवः सूपपन्नः ॥ ६० ॥

उक्तार्थे स्मृतिमुदाहरति ।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ॥

यत्र चैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ ६१ ॥

यत्रेति । यत्राऽवस्थाविशेषेऽसम्प्रज्ञाते योगसेवया योगाभ्यासेन निरुद्धं सच्चित्तम् उपरमते लीयते तत्र चित्तोपरमे सति आत्मना स्वरूपेणाऽऽत्मानं स्वरूपानन्दं पश्यन्नपरोक्षीकुर्वन् तुष्यति ॥ ६१ ॥

नन्वसम्प्रज्ञातसमाधौ न सुखोपलम्भः किन्तु दुःखाभाव एव तस्यैव पुरुषार्थत्वादित्यत आह

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥

वेत्ति यत्र नचैवाऽयं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ ६२ ॥

सुखमिति । आत्यन्तिकं निरतिशयं यत्तदाश्चर्यरूपं बुद्ध्या-
ऽऽविर्भूतस्वरूपज्ञानेनैव ग्राह्यम् अतीन्द्रियं हरिप्रसादहीनचित्ता-
ऽगम्यं तत्प्रसादयुत एव पुमान् स्वरूपज्ञानेन वेत्त्यनुभवति
अयं यत्र स्थितोऽनेकान्तरायैस्तत्त्वतो न चलति सुखमेव पुमर्थं
न तु दुःखाभावमात्रं तस्याऽऽत्मनाशेमाऽपि सम्भवात् बौद्धाभि-
मतमोक्षस्याऽपि पुमर्थत्वापत्तेः “रसो वै स रसं लब्ध्वाऽऽनन्दी भव-
तीति श्रुत्या” रसपदार्थस्य सुखस्याऽवाप्त्युक्तेः ॥ ६२ ॥

एतदेव स्पष्टयति

यं लब्ध्वा चाऽपरं लाभं मन्यते नाऽधिकं ततः ॥

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥ ६३ ॥

यमिति । यं सुखविशेषं लब्ध्वा ततोऽधिकं पुमान् न
मन्यते यस्मिन् पूर्णानन्दे स्थित आप्नुतो गुरुणाऽपि
दुःखेन ततो न विचाल्यते यद्यपि योगिनां मते ऽयमस्पर्श

दुःखाभाव एव न सुखानुभवस्तन्मते आत्मनो ज्ञानानन्दरूपत्वाभावात्
 तथाऽप्यौपनिषद्वैर्वादरायणीयैस्तन्मतस्य तदंशे उपेक्षणीयत्वात् । “स
 तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाण” इति “विहारोपदेशादिति” श्रुतिसू-
 त्राभ्यां मोक्षेऽपि विहारोक्तेः “योऽयं विज्ञानघनः” “विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे”-
 त्यादि श्रुत्याऽऽत्मनां ज्ञानानन्दरूपत्वोक्तेः ईश्वरस्य ज्ञानानन्दरूपत्वो-
 क्त्यैव तत्सदृशजीवस्याऽपि तत्सिद्धेः । अत्र सम्प्रज्ञातसमाधौ चित्त-
 वृत्तिभिर्ध्येयरूपं स्वस्वरूपं च विषयीकरोति तदतिरिक्तविषयिकाणां
 योगविरुद्धानाम् वृत्तीनामेव निरोधः । योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति
 सूत्रं योगविरोधिचित्तवृत्तिनिरोध इति व्याख्येयम् असम्प्रज्ञातसमाधौ
 तु चित्तवृत्तिमात्रस्य लयः । सूत्रं वृत्तिमात्राभावपरं मुख्यार्थमेव । आ-
 विर्भूतस्वरूपज्ञानेन ध्येयं परेशं स्वरूपानन्दं चाऽनुभवतीति तत्त्वम् ६३
 स्थूलदेहादिकं हेतुः सर्वत्राऽमुक्तिगे सुखे ।

न चाऽतः प्रलये भोगो जीवानां जायते क्वचित् ॥ ६४ ॥
 मुक्तिव्यतिरिक्तकाले जीवसुखाद्यनुभवं प्रति स्थूलदेहेन्द्रियादिकं हे-
 तुरतः प्रलये क्वचित् किमपि सुखादिकं नाऽनुभूयते मुक्तौ तु स्वरूपे-
 णैवाऽऽनन्दमनुभवतीति तत्त्वम् ॥ ६४ ॥

जीवपदार्थमाह

अल्पशक्तिरसार्वश्यं पारतन्त्र्यं सदैव हि ॥

एतज्जीवत्वमीशत्वं विपरीतमितो मतम् ॥ ६५ ॥

अल्पेति । इतो जीवलक्षणाद्विपरीतं पूर्णानन्तशक्तिमत्त्वादि-
 रूपम् ॥ ६५ ॥

अध्यायान्ते स्वेष्टदेवं नमस्करोति

यस्याऽविद्याख्यशक्त्या हि पूर्णानन्दावृत्तिश्चिताम् ॥

सर्ववस्तुनियन्तारं वन्दे श्रीहयकन्धरम् ॥ ६६ ॥

इति श्रीवनमालिविरचिते वेदान्तसिद्धान्तसंग्रहे जीव-

स्वरूपवर्णनं नाम तृतीयोऽध्यायः ।

यस्येति । चितां जीवानाम् ॥ ६६ ॥

इति तृतीयोऽध्यायः ।

भलौकिकस्य वस्तुनो लक्षणं विना ज्ञानं न संभवतीत्यसाधार-
णलक्षणपूर्वकं स्वेष्टदेवं स्मरति ।

गुरुरुवाच ।

यतो भूतानि जायन्ते येन जीवन्ति सर्वदा ॥

लीयन्ते यत्र सर्वाणि ह्यग्रीवोऽस्तु मे गतिः ॥ १ ॥

यत इति । “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जी-
वन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति” श्रुत्या वि-
श्वोदयादिकर्तृत्वमेवाऽसाधारणं लक्षणमुक्तम् ॥ १ ॥

ननु विश्वसृष्टौ कालादृष्टप्रकृत्यादेरपि हेतुत्वात्कथमीशस्यैव
तदसाधारणलक्षणमत आह ।

स्वाधीनसत्तं समुपेत्य कालं जीवान् प्रधानं घटयन् स्वतन्त्रः ॥

विश्वोदयादीनि करोति तथ्यं सत्यैरनन्तैर्हि गुणैरुपेतः ॥ २ ॥

स्वाधीनेति । यथा स्वयं गन्तुं समर्थोऽपि लीलया यष्टिमा-
ददानो न सामर्थ्यहीनो भवति तथा सकलनिरपेक्षतया जग-
त्सर्जनादौ शक्तोऽपि लीलैव स्वाधीनसत्ताककालादृष्टप्रकृ-
त्यादिकमाददानो नाऽसमर्थो भवति घटयन्प्रेरयन् तथ्यं यथा स्या-
त् तथा करोति न त्वैन्द्रजालिकवन्मिथ्यावस्तु प्रदर्श्य प्रतारयति स-
त्यैस्त्रिकालावाधितदोषासहकृतैरुपेतो यतः स्वतन्त्रः लोके यः स्वत-
न्त्रः समर्थः प्रेक्षावान् स स्वेष्टसर्वोपेतो भवति ॥ २ ॥

उक्तार्थं वैष्णवमुदाहरति ।

प्रकृतिं पुरुषं चाऽपि प्रविश्याऽऽत्मेच्छया हरिः ॥

क्षोभयामास संप्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ ॥ ३ ॥

प्रकृतिमिति । व्यया सविकारा प्रकृतिरव्ययो निर्विकारो जीव-
स्तौ अन्तर्यामितया प्रविश्य क्षोभयामास परस्परं संयोज्य कार्यो-
न्मुखौ कृतवानित्यर्थः ।

यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ

इति स्मृत्या विश्वसृष्टौ जीवप्रकृतिसंयोगस्य हेतुत्वोक्तेः ॥ ३ ॥

नन्वीश्वरेच्छादीनामपि नित्यत्वात्सदा सृष्ट्याद्यापत्तिरित्याशङ्कं
वैष्णवेन परिहरति ।

द्विपरार्द्धात्मकः कालः कथितो हि मया तव ॥

तदहस्तस्य मैत्रेय विष्णोरीशस्य कथ्यते ॥ ४ ॥

द्विपरार्द्धेति । अहर्दिनम् ॥ ४ ॥

व्यक्ते च प्रकृतौ लीने प्रकृत्यां पुरुषे तथा ॥

तत्र स्थिते निशा चाऽन्या तत्प्रमाणा महामुने ॥ ५ ॥

व्यक्ते महदादिस्थूले प्रकृतौ प्रधाने पुरुषे हरौ प्रकृतौ लीनायां
सत्यां तत्र स्थिते काले दिवसादन्या तत्प्रमाणा द्विपरार्द्धात्मिका वि-
ष्णोर्निशा ॥ ५ ॥

ननु विष्णोरप्यहोरात्रादिनाऽऽयुःपरिच्छेदः स्यात्तत्राऽऽह ।

नैवाऽहस्तस्य मैत्रेय न निशा परमात्मनः ॥

उपचारस्तथाऽप्येष तस्य परं द्विजोच्यते ॥ ६ ॥

नैवेति । तस्याऽचिन्त्यशक्तेः परमस्वतन्त्रस्याऽहोरात्रादिकं
नाऽस्ति परं चतुर्मुखायुस्तदभावंयोस्तदहोरात्रादिकमुपचर्यते ।
एकैवेच्छा सृष्टिकालयुक्ता सिसृक्षा प्रलयकालयुक्ता च जिहीर्षा
भवति “वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वादिति” सूत्रेण “पुण्येन पुण्यं
लोकं नयति पापेन पापमिति” श्रुत्या च विषमसृष्टिनिमित्त-
कवैषम्यदोषनिरासाय जीवादृष्टापेक्षाया ईश्वरस्योक्तत्वात् नच “स
एव साधु कर्म कारयतीत्यादिश्रुत्या” विषमकर्मकारयितृत्वं तस्यैवो-
क्तमिति वैषम्यतादवस्थामिति वाच्यम् पूर्वपूर्वकर्मापेक्षयोत्तरोत्तर-
कर्मकारयितृत्वादवैषम्योपपत्तेः कर्मणां च प्रवाहानादित्वात् न च
स्वातन्त्र्यहानिः लीलयाऽदृष्टाद्यङ्गीकारेऽपि स्वातन्त्र्योपपत्तेः ॥ ६ ॥

ननु चतुर्मुखः स्रष्टा रुद्रश्च नाशकः कथमेक एव हरिस्त्रयाणां
कर्त्तृति तत्राऽऽह ।

सदोपगीतो निगमैश्च सर्वैरचिन्त्यशक्तिर्गुणसागरो ऽसौ ॥

सदोज्झितावद्य उदारकीर्तिः श्रियः पतिर्विश्वसृजां हि कर्त्ता ॥७॥

सदेति “असौ हरिः नारायण एवाऽग्र आसीन्न ब्रह्मा न शङ्करः”

“यो ब्रह्माणं विदधाति” “यस्य त्र्यक्षात् शूलपाणिरजायत” इत्यादि निगमैर्हि प्रसिद्धं चतुर्मुखादिकर्तृत्वेनोपगीतो न तु कस्मिंश्चित्कल्पे हरिर्जगत्कर्त्ता कस्मिंश्चित्चतुर्मुखादिरिति पर्यायेण च पुनः सर्वैर्निगमैरुपगीतो वाच्य इति यतो गुणसागरः सर्वशब्दप्रवृत्तिनिमित्तधर्मवानतः सर्वशब्दवाच्यः । “सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति” “नामानि सर्वाणि यमाविशन्ती”त्यादिश्रुतेः ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ।

इत्यादिस्मृतेश्च ।

नन्वेकस्य कथं विचित्रसृष्टिकर्तृत्वं तत्राऽऽह अचिन्त्यशक्तिरिति । “अचिन्त्यशक्तिः पुरुष” इत्यादिश्रुतेः “आत्मनि चैवं विचित्राश्च हीति” सूत्राच्च । ननु विश्वकर्तृत्वे परिश्रमादिदोषः स्यात्तत्राऽऽह । सदोज्झितावद्य इति । अवद्यैः दोषैः सदोज्झितोऽस्पृष्टः जगत्स्रष्टृत्वं चाऽऽनन्दोद्रेकाल्लालैव “कोह्येवाऽन्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यादित्यादिश्रुतेः” आकाशः परमात्मा यदुद्रिकानन्दो न स्यात् तदा विश्वप्राणनादिकं कः कुर्यादित्यर्थः उदारा वदान्या कीर्त्तिर्यस्य अतः श्रियः पतिः कीर्त्तिमन्तमेव हि सा वृणुते ननु मरीच्यादीनां स्रष्टा ब्रह्मा प्रसिद्ध इति कथं सर्वस्रष्टा हरिस्तत्राऽऽह विश्वसृजामिति तत्राऽपि चतुर्मुखाद्यन्तर्गतः कार्यमात्रं प्रति मुख्यः कर्त्ता ॥ ७ ॥

चतुर्मुखादिरूपेण हरिरेव सर्गादिकर्त्तृत्याह ।

प्रजाः ससर्ज भगवान् ब्रह्मा नारायणात्मकः ॥

नारायणः परो ऽचिन्त्यः परेषामपि स प्रभुः ॥ ८ ॥

प्रजा इति । नारायण आत्माऽन्तर्यामी यस्य ॥ ८ ॥

ब्रह्माऽन्तर्यामी हरिर्ब्रह्मेत्याह ।

ब्रह्मस्वरूपी भगवाननादिः सर्वसम्भवः ॥

सर्गस्थितिविनाशांस्तु भगवान्मधुसूदनः ॥

तैस्तैरूपैरचिन्त्यात्मा करोत्यव्याहतान् विभुः ॥ ९ ॥

जुषन् रजोगुणं तत्र स्वयं विश्वेश्वरो हरिः ॥

ब्रह्मा भूत्वाऽस्य जगतो विसृष्टौ सम्प्रवर्त्तते ॥ १० ॥

सृष्टं च पात्यनुयुगं यावत् कल्पविकल्पना ॥

सत्त्वभृग्भगवान् विष्णुरप्रमेयपराक्रमः ॥ ११ ॥

ब्रह्मेति ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

तमोद्रेकी च कल्पान्ते रुद्ररूपी जनार्दनः ॥

मैत्रेयाऽखिलभूतानि भक्षयत्यतिभीषणः ॥ १२ ॥

रुद्ररूपी रुद्राऽन्तर्यामी ॥ १२ ॥

भारतमुदाहरति ।

बुद्धिर्मनोमहद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या ॥

चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ १३ ॥

चतुर्विधानां भूतानां त्रिषु लोकेषु माधवः ॥

प्रभवश्चैव सर्वेषां निधनं च युधिष्ठिर ॥ १४ ॥

बुद्धिरिति ॥ १३ ॥ १४ ॥

ननु रुद्रादेरपि कचित्पुराणादौ जगत्कर्तृत्वमुक्तमिति तस्याऽपी-
शत्वं स्यादिति चेत् यत्र सामान्यतः प्रश्नो विशेषेणोत्तरं तत्रैव सर्व-
ेश्वरत्वनिर्णयः क्वाचित्कं पौराणिकवाक्यं शिवादिस्तावकमित्याशयेन
सामान्यप्रश्नविशेषोत्तराभ्यां हरेः सर्वोत्तमत्वं प्रतिपादयन्महाभार-
तमुदाहरति ।

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ॥

य इच्छेत्सिद्धिमास्थातुं देवतां कां यजेत सः ॥ १५ ॥

कुतो ह्यस्य ध्रुवः स्वर्गः कुतो निःश्रेयसं परम् ॥

विधिना केन जुहुयादैवं पित्र्यं तथैव च ॥ १६ ॥

गृहस्थ इति ॥ १५ ॥ १६ ॥

मुक्तश्च कां गतिं गच्छेन्मोक्षश्चैव किमात्मकः ॥

स्वर्गतश्चैव किं कुर्यात् येन न च्यवते दिवः ॥ १७ ॥

स्वः स्वर्गे गतः किं कुर्याद्येन ततो न पतेत् ॥ १७ ॥

दैवतानां च को देवः पितृणां च पिता तथा ॥

तस्मात्परतरं यच्च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १८ ॥

युधिष्ठिरेण सामान्यतः सर्वेश्वरः पृष्टः ॥ १८ ॥

नारायणीयाख्यानेन विशेषेण सर्वोत्तमतया हरिं निर्धारयति ।

सिद्धा ह्येते महाभागाः पुरा ह्येकान्तिनोऽभवन् ॥

तमोरजोभिर्निर्मुक्ता मां प्रवेक्ष्यन्त्यसंशयम् ॥ १९ ॥

सिद्धा इति । भगवता मुक्तप्राप्यत्वं स्वस्योक्तम् ॥ १९ ॥

न दृश्यश्चक्षुषा योऽसौ न स्पृश्यः स्पर्शनेन च ॥

न घ्रेयश्चैव गन्धेन रसेन च विवर्जितः ॥ २० ॥

हरेः सर्वेन्द्रियागम्यत्वेनौपनिषदत्वं द्योतितम् ॥ २० ॥

सत्त्वं रज स्तमश्चैव न गुणास्तं भजन्ति वै ॥

यश्च सर्वगतः साक्षी लोकस्याऽऽत्मेति कथ्यते ॥ २१ ॥

प्राकृतगुणारूपृष्टत्वेन तस्य नैर्गुण्यं प्रतिपादितम् ॥ २१ ॥

पुरुषो निष्क्रियश्चैव ज्ञानदृश्यश्च कथ्यते ॥

यं प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता वै द्विजसत्तमाः ॥ २२ ॥

ज्ञानैकगम्यत्वमुक्तप्राप्यत्वादिकमसाधारणमीश्वरलक्षणमुक्तम् ॥ २२ ॥

नाम्ना तं निर्दिशति ।

स वासुदेवो विज्ञेयः परमात्मा सनातनः ॥

न च जीवं विना ब्रह्मन्वायवश्चेष्टयन्त्युत ॥ २३ ॥

स इति । चेष्टकोऽन्तर्यामी जीवयतीति जीवः संकर्षणो हरिः ॥ २३ ॥

स मनः सर्वभूतानां प्रद्युम्नः परिपठ्यते ॥

तस्मात्प्रसूतो यः कर्त्ता कारणं कार्यमेव च ॥ २४ ॥

परितः सम्यक् ख्यातः कथितः शेषो जगत्प्रलयेऽप्यविकृततया-
ऽवशिष्टः स संकर्षण एव मनोनियामकः प्रद्युम्नरूपोऽवततार तस्मा-
त्प्रद्युम्नात्कार्यकारणनियामकोऽनिरुद्धरूपो हरिरवततार ॥ २४ ॥

तस्मात्सर्वं सम्भवति जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥

सोऽनिरुद्धः स ईशानो व्यक्तः सर्वेषु कर्मसु ॥ २५ ॥

तस्मादनिरुद्धरूपाद्धरेः सर्वकर्मस्वभिव्यक्तः प्रकटः ॥ २५ ॥

अघतारावतारिणोरभेदमाह

यो वासुदेवो भगवान् क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः ॥

ज्ञेयः स एव राजेन्द्र जीवः संकर्षणः प्रभुः ॥ २६ ॥

सङ्कर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूतः स उच्यते ॥

प्रद्युम्नाच्चाऽनिरुद्धः स ईश्वरः प्रभुरव्ययः ॥ २७ ॥

ललाटाच्चैव मे रुद्रो देवः क्रोधाद्दिनिःसृतः ॥

मया सृष्टः पुरा ब्रह्मा मां यज्ञमयजत्स्वयम् ॥ २८ ॥

ततस्तस्मै वरान्प्रीतो दद्यामहमनुत्तमान् ॥

त्वत्कृतां च मर्यादां नाऽतिक्रमिष्यति कश्चन ॥ २९ ॥

त्वं चैव वरदो ब्रह्मन् वरेष्पूनां भविष्यसि ॥

विविधानां च भूतानां त्वष्टृपास्यो भविष्यसि ॥ ३० ॥

य इति ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

प्रादुर्भावं गतश्चाऽहं सुरकार्येषु नित्यदा ॥

अनुशास्यस्त्वया ब्रह्मन्नियोज्यश्च सुतो यथा ॥ ३१ ॥

एतांश्चान्यांश्च रुचिरान् ब्रह्मणे ऽमिततेजसे ॥

अहं दत्त्वा वरान्प्रीतो वै निवृत्तिपरोऽभवम् ॥ ३२ ॥

अनुशास्यः शिक्षणीयः नियोज्यः प्रवर्त्तनीयः ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

अस्मन्मूर्तिश्चतुर्थी या सा ऽसृजच्छेषमव्ययम् ।

स हि सङ्कर्षणः प्रोक्तः प्रद्युम्नं सोऽप्यजीजनत् ॥ ३३ ॥

चतुर्थी वासुदेवाख्या ॥ ३३ ॥

प्रद्युम्नादनिरुद्धोऽहं सर्गो मम पुनः पुनः ।

अनिरुद्धात्तथा ब्रह्मा तन्नाभिकमलोद्भवः ॥ ३४ ॥

हरेः सर्गः प्राच्यामिन्दुरिवाऽऽविर्भाव एव । नारदं प्रति स्वस्य
सर्वोत्तमत्वं स्पष्टमुक्तम् ॥ ३४ ॥

अनिरुद्धरूपाद्धरेर्विद्वत्सृष्टिमाह ।

अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोकानां प्रभवाध्ययः ।

ब्राह्मे रात्रिक्षये प्राप्ते तस्य ह्यमिततेजसः ॥ ३५ ॥

प्रसादात्प्रादुरभवत्पद्मं पद्मनिभेक्षणात् ।

ब्रह्मा समभवत्तस्मात्स तस्यैव प्रसादजः ॥ ३६ ॥

अहः क्षये ललाटाच्च सुतो देवस्य वै तदा ।

क्रोधाविष्टस्य सअज्ञे रुद्रः संहारकारकः ॥ ३७ ॥

अनिरुद्ध इति ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधजाबुभौ ।

तदादेशितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारकौ ।

निमित्तमात्रं तावत्र सर्वप्राणिवरप्रदौ ॥ ३८ ॥

एवं ब्रह्मरुद्रादिजनकत्वं हरेः स्पष्टमुक्तम् ॥ ३८ ॥

तथा रुद्रं प्रति ब्रह्मोक्तिः ।

अहं प्रसादजस्तस्य कस्मिंश्चित्कारणान्तरे ।

त्वं चैव क्रोधजस्तात पूर्वसर्गे सनातनः ॥ ३९ ॥

मया च सार्द्धं वरदं विबुधैश्च महर्षिभिः ।

प्रसादयाऽऽशु लोकानां शान्तिर्भवतु मा चिरम् ॥ ४० ॥

॥ ४९ ॥ ४० ॥

ब्रह्मणा त्वेवमुक्तस्तु रुद्रः क्रोधाग्निमुत्सृजन् ।

प्रसादयामास ततो देवं नारायणं प्रभुम् ॥ ४१ ॥

अहो नारायणं तेजो दुर्दर्शं द्विजसत्तम ।

यत्राऽऽविशन्ति कल्पान्ते सर्वे ब्रह्मादयः सुराः ॥ ४२ ॥

कस्मिंश्चिन्निमित्ते हरिहरयोर्युद्धे प्रवृत्ते ब्रह्मणा ऽऽगत्य हरेरैश्वर्यं

रुद्राय बोधितं रुद्रस्तु तद्विज्ञाय क्रोधं विहाय हरिं प्रसादयामासेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

सात्त्विकस्यैव हरेराराधने प्रवृत्तिर्नेतरस्येति प्रतिपादायितुमाह ।

एवं बहुविधं धर्मं प्रतिबुद्धैर्निषेवितम् ।

न कुर्वन्ति कथं विप्रा अन्ये नानाव्रतस्थिताः ॥ ४३ ॥

एवमिति । अवैष्णवेषु नानाव्रतेषु स्थिता वैष्णवैभ्योऽन्ये केचन विप्राः प्रतिबुद्धैर्नारदादिभिर्निषेवितमपि वैष्णवं धर्मं न कुर्वन्ति कथमिति जनमेजयस्य प्रश्नः ॥ ४३ ॥

उत्तरमाह वैशम्पायनः ।

तिस्रः प्रकृतयो राजन् देहबन्धेषु निर्मिताः ।

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चैव भारत ॥ ४४ ॥

तिस्र इति ॥ ४४ ॥

देहबन्धेषु पुरुषः श्रेष्ठः कुरुकुलोद्बह ।

सात्त्विकः पुरुषव्याघ्र भवेन्मोक्षाय निश्चितः ॥ ४५ ॥

देहबन्धेषु देहसम्बन्धेषु यः सात्त्विकः पुरुषः स श्रेष्ठः मोक्षाय निश्चितो भवेत् ॥ ४५ ॥

अत्राऽपि स विजानाति पुरुषं ब्रह्मचित्तमम् ।

नारायणपरो मोक्षस्ततो वै सात्त्विकः स्मृतः ॥ ४६ ॥

पुरुषं सर्वान्तर्यामिणं ब्रह्मचित्तमं सर्वदाऽकुण्ठितस्वरूपज्ञानं हरिम् अत्र मर्त्यादिदेहेऽपि यः सर्वोत्तमतया प्रीतिपूर्वकं जानाति स सात्त्विकः स्मृतः नारायणः परः प्राप्यो यत्र स तथा मोक्षः ॥ ४६ ॥

नारायणपरायणस्यैव मोक्ष इत्युक्त्वा हरिमायामोहितानां हरौ भक्तिर्न भवतीत्याह ।

इत्थं हि दुश्चरो धर्म एष पार्थिवसत्तम ।

यथैव त्वं तथैवाऽन्ये भवन्तीह विमोहिताः ॥ ४७ ॥

य एष नारायणाराधनरूपः पञ्चरात्राद्युक्तः हरिप्रसादहीनानां दुश्चरोऽनुष्ठातुमशक्यः ॥ ४७ ॥

तदनुगृहीतानां ज्ञेयं भगवद्भूयमाह ।

कृष्ण एव हि लोकानां भावनो मोहनस्तथा ।

संहारकारकश्चैव कारणं च विशां पते ॥ ४८ ॥

कृष्ण इति भावनः उत्पादकः मोहनो विद्यानियामकः इति विश्वो-
दयादिकर्तृत्वेन हरिं तदनुगृहीताः सात्त्विका एव जानन्तीति
भावः ॥ ४८ ॥

एवं स्थलान्तरेऽपि सामान्यतः प्रश्नानन्तरं विशिष्योत्तरेण हरि-
रेव सर्वोत्तमतयोदित इत्याह ।

वहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताऽहो एक एव तु ।

को ह्यत्र पुरुषः श्रेष्ठः का वा योनिरिहोच्यते ॥ ४९ ॥

वहव इति । जनमेजयेन सामान्यतः सर्वोत्तमः पुरुषः पृष्ठः ॥ ४९ ॥
ब्रह्मरुद्रसंवादेन सर्वोत्तमतया हरिं निर्धारयितुमारभते ।

बहूनां पुरुषाणां च यथैका योनिरुच्यते ।

तथा तं पुरुषं चैव व्याख्यास्यामि गुणाधिकम् ॥ ५० ॥

बहूनामिति ॥ ५० ॥

एकदा रुद्रः क्षीरोदमध्यस्थे वैजयन्तपर्वते समाधिस्थं ब्रह्माणं
प्राप्य नमस्कृत्य तेनाऽभिनन्दितः सन्नुवाच ।

वहवः पुरुषा ब्रह्मंस्त्वया सृष्टाः स्वयम्भुवा ।

सृज्यन्ते चाऽपरे ब्रह्मन् स वै कः पुरुषो विराट् ॥ ५१ ॥

कोऽसौ हि चिन्त्यते ब्रह्मंस्त्वयैकः पुरुषोत्तमः ।

एतं हि संशयं ब्रूहि महत्कौतूहलं हि मे ॥ ५२ ॥

वहव इति ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

पृष्ठो ब्रह्मा चोवाच ।

वहवः पुरुषाः पुत्र ये त्वया समुदाहृताः ।

एवमेतदतिक्रान्तं द्रष्टव्यं नैवमित्युत ॥ ५३ ॥

शृणु पुत्र यथा ह्येष पुरुषः शाश्वतोऽव्ययः ।

अक्षयश्चाऽप्रमेयश्च सर्वगश्च निरुच्यते ॥ ५४ ॥

बहव इति । सर्वपुरुषातिक्रान्तं यथा स्यात्तथा द्रष्टव्यम् । एव-
मन्यपुरुषसाधारणं न द्रष्टव्यम् ॥ ५३ ॥ ॥ ५४ ॥

न हि शक्यस्त्वया द्रष्टुं मयाऽन्यैर्वाऽपि सत्तम ।

स गुणैर्निर्गुणैर्विश्वो ज्ञानदृश्यो ह्यसौ स्मृतः ॥ ५५ ॥

तत्प्रसादं विना तद्दर्शनं दुर्लभमित्यर्थः निर्गुणैः प्राकृतगुणासं-
स्पृष्टैरलौकिकैर्गुणैर्विश्वः पूर्णः स्नेहसन्ततियुतज्ञानेन दृश्यः स्मृतः ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवाविधोऽर्जुन ।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपेति

स्मृत्या कथितम् ॥ ५५ ॥

एवं हि परमात्मानं के चिदिच्छन्ति पण्डिताः ।

एकात्मानं तथात्मानमपरे ज्ञानचिन्तकाः ॥ ५६ ॥

के चित्पण्डिता एकात्मानमेव परमात्मानं सर्वोत्तमतयेच्छन्ति मु-
क्तावपि जीवानां तत्साम्यं नेच्छन्तीत्यर्थः अपरे ज्ञानचिन्तका यथा
परमात्मा तथाऽऽत्मानं जीवमपि मुक्ताविच्छन्ति “निरञ्जनः परमं
साम्यमुपैतीति” श्रुतेः ॥ ५६ ॥

परमात्मनो नामाऽऽह ।

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यं निर्गुणः स्मृतः ।

स हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मा पुरुषो हि सः ॥ ५७ ॥

न लिप्यते फलैश्चाऽपि पद्मपत्रमिवाऽम्भसा ।

कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ॥ ५८ ॥

ऋग्वेदे स यजुर्वेदे तथैवाऽथर्वसामसु ।

पुराणे सोपनिषदे तथैव ज्यौतिषेऽर्जुन ॥ ५९ ॥

तत्रेत्यादिना । विश्वोदयादिकर्मफलैर्न लिप्यते कर्मात्मा कर्मण्यहं
कर्त्तव्यभिमानो जीवः मोक्षबन्धैर्युज्यते इत्यर्थः हरेर्निगुणत्वं तु
प्राकृतगुणशून्यत्वम् ।

सत्त्वाद्यो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः

इति वैष्णवोक्तेः ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

सांख्ये च योगशास्त्रे च आयुर्वेदे तथैव च ।

वहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभिः ॥ ६० ॥

सन्ध्यभाव आर्षः । भारते सर्वशब्दवाच्यत्वं हरेः स्पष्टमुक्तम् ॥ ६० ॥

उपक्रमोपसंहारादिलिङ्गैर्वेदादीनां तात्पर्यं हरावेवेति भारतवा-
क्येन निर्धारयति ।

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।

आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ॥ ६१ ॥

वेद् इति । सर्वोत्तमतया गीयते इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

यत्तु श्रीकृष्णेनाऽध्वतारान्तरेण च रुद्रादिः पूज्यते तत्तु पृथ्वादा-
विव तत्र जीवविशेषे स्वांशावेशाभिप्रायेण, शिवादेः कचिन्नारायणा-
भेदोक्तिरपि तदभिप्राया । पुत्रादीनि फलानि कामयमानान् जनान्
रुद्रादिपूजायां प्रवर्त्तयितुं च कचित्पूज्यते इत्येतदर्थकभगवद्वचनान्यु-
दाहरति ।

अहमात्मा हि लोकानां विश्वानां पाण्डुनन्दन ।

तस्मादात्मानमेवाऽग्रे रुद्रं सम्पूजयाम्यहम् ॥ ६२ ॥

अहमिति । विश्वानां सर्वेषामात्मानन्तर्यामी आत्मानं रुद्रान्त-
र्यामिणं रुद्रान्तःस्थमदंशावतारं वा पूजयामि ॥ ६२ ॥

लोकशिक्षार्थं पूजयामीत्याह ।

मया कृतं प्रमाणं हि लोकः समनुवर्त्तते ।

प्रमाणानि हि पूज्यानि ततस्तं पूजयाम्यहम् ॥ ६३ ॥

मयेति । रुद्रादयो देवाः पूज्या इति प्रमाणं मया कृतं तत्कथं
निर्वहेत् यदि रुद्रादिर्मया न पूज्येतेति रुद्रादिर्मया पूज्यते यथा
नारदादयो विप्राः पूज्यन्त इत्यर्थः ॥ ६३ ॥

स्वोत्तमस्याऽभावात्तद्वबुद्ध्या ऽहं कं चिन्न भजामीत्याह ।

न हि विष्णुः प्रणमति कस्मै चिद् विबुधाय च ।

अत आत्मानमेवेति ततो रुद्रं भजाम्यहम् ॥ ६४ ॥

सब्रह्मकाः सरुद्राश्च सेन्द्रा देवा महर्षिभिः ।

अर्चयन्ति सुरश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम् ॥ ६५ ॥

भविष्यतां वर्त्तताश्च भूतानां चैव भारत ।

सर्वेषामग्रणीर्विष्णुः सेव्यः पूज्यश्च नित्यशः ॥ ६६ ॥

नहीति । आत्मानं स्वांशावतारम् ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

युधिष्ठिरेण रुद्रस्य माहात्म्यं विशिष्य पृष्टं पुत्रकामेन श्रीकृष्णेन रुद्र आराधित इति तदाराध्यत्वरूपं रुद्राङ्गेषु सर्वदेवानामवस्थानादिकं च सकामानामुपासनादाढ्याय वर्णितम् एवं क्वचित्पुराणादौ रुद्रादेः सर्वेश्वरत्ववर्णनं तदपि तदुपासकांस्तत्र प्रवर्त्तयितुं स्तवनमेव न तु वस्तुतत्त्वं तथा साधारण्येन प्रवृत्ते महाभारते पञ्चमवेदे सामान्यतः प्रश्नस्य विशेषेण रुद्रादिसर्वेश्वरत्वप्रतिपादकं प्रतिवचनं नाऽस्त्येव हरेस्तथा प्रतिपादकं भारतमसकृदुदाहृतं पुनरप्युदाहरति ।

किमेकं दैवतं लोके किं वाऽप्येकं परायणम् ।

स्तुवन्तः कं कमर्चन्तः प्राप्नुयुर्मानवाः शुभम् ॥ ६७ ॥

को धर्मः सर्वधर्माणाम्भवतः परमो मतः ।

किञ्चपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात् ॥ ६८ ॥

किमिति । दैवतं जगदाराध्यम् । एकं मुख्यं परमुत्कृष्टमयनमाश्रयः ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

सामान्यतः प्रश्नस्य विशेषेण विष्णुं निर्धारयन्नुत्तरमाह ।

जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम् ।

स्तुवन्नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः ॥ ६९ ॥

तमेव चाऽर्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम् ।

ध्यायंस्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च ॥ ७० ॥

जगदिति ॥ ६९ ॥ ७० ॥

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।

लोकाध्यक्षं सुराध्यक्षं धर्माध्यक्षं कृताकृतम् ॥ ७१ ॥

न आदिनिधने यस्य तम् ॥ ७१ ॥

जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम् ।

योगो ज्ञानं तथा साख्यं विद्या शिल्पादिकर्म च ।

वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत्सर्वं जनार्दनात् ॥ ७२ ॥

विश्वोदयादिकर्तृत्वेन हरेरेव सर्वोत्तमत्वं व्यवस्थापितम् ॥ ७२ ॥

मत्तः परतरं नाऽन्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७३ ॥

भगवता स्वोत्तमत्वं स्पष्टं निषिद्धम् ॥ ७३ ॥

सर्वप्राणिहृदयनिष्ठतया नियामकत्वरूपान्तर्यामित्वं हरेरेवेत्यर्थे स्मृतिमुदाहरति ।

सर्वस्य चाऽहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाऽहम् ॥ ७४ ॥

सर्वस्येति। स्मृतिरतीतस्याऽनुसंधानं ज्ञानम् अनुभवोऽपोहनं ज्ञानाभावो मत्तः सकाशादेव मम कार्यमात्रं प्रति जनकत्वात् वेदैश्चेत्यनेन सर्वशब्दवाच्यत्वं समन्वयाध्यायप्रतिपाद्यं हरेरेव सिद्धं वेदानामन्तःफलं तत्कृतस एव वेदविदित्यनेन तस्याऽऽप्तत्वं सिद्धम् ॥ ७४ ॥

आप्तत्वमेव स्पष्टयति ।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ ७५ ॥

भोक्तारमिति । भोक्तारं भक्तार्पितोपहारस्वीकर्तारं पालकं वा महेश्वरमित्यनेन भ्रमप्रमादकरणापाटवादिदोषा निराकृताः सुहृदमित्यनेन विप्रलिप्साद्यभावो निरुपध्युपकारकत्वं च सिद्धम् । एतादृशानन्तगुणविशिष्टस्य हरेश्चानं मोक्षहेतुरित्यपि सिद्धम् ॥ ७५ ॥

“शास्त्रयोनित्वादिति” सूत्रेण “तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति” श्रुत्या चेश्वरस्य शास्त्रैकगम्यत्वमुक्तं शास्त्रं च वेदस्तदुपबृंहकं पञ्चरात्रादिकं चास्तः पञ्चरात्राद्युपबृंहितवेदेनैवेश्वरो ज्ञेयो न तु पाशुपत-

तामसपुराणाद्युपबृंहितेनेत्याशयेन पञ्चरात्रस्य प्रमाणश्रेष्ठत्वप्रतिपा-
दकं भारतमुदाहरति ।

सांख्यं योगः पाशुपतं वेदारण्यकमेव च ॥

ज्ञानान्येतानि भिन्नानि उताऽहो नेति चोच्यताम् ॥ ७६ ॥

सांख्यमिति । वेदारण्यकं पञ्चरात्रं भिन्नानि विरुद्धानि उताऽवि-
रुद्धानि ॥ ७६ ॥

एतेषां परस्परविरोधमाह ।

सांख्यं योगः पाशुपतं वेदारण्यकमेव च ॥

ज्ञानान्येतानि भिन्नानि नाऽत्र कार्य्या विचारणा ॥ ७७ ॥

सांख्यमिति । ज्ञायते यैस्तानि ज्ञानसाधनानि शास्त्राणि भि-
न्नानि विरुद्धानि ॥ ७७ ॥

अन्योन्यं विरोधमुक्त्वा पञ्चरात्रस्य श्रेष्ठत्वमाह ।

पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम् ।

ज्ञानेष्वेतेषु राजेन्द्र सर्वेष्वेतद्विशिष्यते ॥ ७८ ॥

पञ्चरात्रस्येति । एतेषु प्रागुक्तेषु शास्त्रेषु एतत्पञ्चरात्रं विशिष्यते
श्रेष्ठं भवति यतोऽत्याप्तो नारायणोऽस्य वक्ता चतुर्मुखादयश्च श्रो-
तारः ॥ ७८ ॥

पञ्चरात्रोपबृंहितवेदोक्तमार्गेणेश्वरमाराधयन्तो मुक्ता भवन्ती-
त्याशयेनाऽऽह ।

पञ्चरात्रविदो मुख्या यथाक्रमपरा नृप ।

एकान्तभावोपगता वासुदेवं विशन्ति ते ॥ ७९ ॥

पञ्चरात्रेति । पञ्चरात्रवेदितारो मुख्याः श्रेष्ठाः यतो यथाक्रमपराः
मोक्षमार्गे यः क्रमस्तत्परायणास्त एव न तु पाशुपतादयः एका-
न्तभावः पञ्चरात्रोक्तरीत्या भक्तिस्तत्पराः ॥ ७९ ॥

पञ्चरात्रस्य वेदात्मकत्वमाह ।

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम् ।

सांख्ययोगकृतान्तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम् ॥ ८० ॥

इदमिति । चतुर्वेदैः समन्वितं तदर्थप्रतिपादकत्वात् पञ्चरात्रसं-
ज्ञकं सांख्यादिकं तत एवोद्भूतं तत्र कारणात्मना वर्त्तत इत्यर्थः
कृतान्तो वेदान्तः उत्तरमीमांसा तत एवाऽर्थं ज्ञात्वा सांख्यादीनि
सच्छास्त्राणि मुनिभिः कृतानीति भावः ॥ ८० ॥

मानवादिस्मृतयोऽपि पञ्चरात्रमूलिका इत्याह ।

अस्मात्प्रवक्ष्यते धर्मान्मनुः स्वायम्भुवः स्वयम् ॥

वेदैश्चतुर्भिः समितं कृतं मेरौ महागिरौ ॥ ८१ ॥

अस्मादिति । समितं मिलितं प्रमाणतायां तुल्यं च ॥ ८१ ॥

उक्तमर्थं संगृह्याऽऽह अग्रइत्यादिना लोकान् शिक्षयितुमित्यन्नेन ।

अग्रे नारायणो ह्यासीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः ।

ब्रह्मा प्रजायते विष्णोः प्रतिसर्गं शिवस्तथा ॥ ८२ ॥

अग्रे सृष्टेः पुरा ब्रह्मा नाऽऽसीत्किं तु हरिरेवाऽऽसीत् विष्णोः
सकाशाद्ब्रह्मा शिवश्च प्रतिसर्गं जायते “ नारायणाद्ब्रह्मा जायते
नारायणादुद्रो जायते ” इति श्रुतेः ॥ ८२ ॥

सात्त्विकेषु पुराणेषु भारते वेदे रामायणादौ सृष्टिप्रकरणे ब्रह्माशि-
वादीनामिव श्रीविष्णोरुत्पत्तिर्नास्तीति नित्यविग्रहोऽयम् । अवतारस्तु
नित्यविग्रहस्याऽऽविर्भाव एव न च नूतनदेहलाभोऽतो निरतिशयै-
श्वर्यं तस्येत्याशयेनाऽऽह ।

न विष्णोः काऽपि जन्मोक्तिः पुराणे सात्त्विके तथा ।

भारते पञ्चमे वेदे सृष्टिप्रकरणे क्वचित् ॥ ८३ ॥

नेति । देवक्यादावाविर्भावस्तु प्राच्यामिन्दोरिव नाऽपकर्ष-
हेतुः ॥ ८३ ॥

यत्त्वौपमन्यवाख्याने भारते श्रीकृष्णेन पुत्रार्थं रुद्र आराधित-
स्तत्र रुद्राङ्गेभ्यो विष्णुसहितानामुत्पत्तिवर्णनं तत्तूपासनादाढ्याय स-
कामांस्तत्र प्रवर्त्तयितुं च विशेषेण प्रश्नोत्तराभ्यां स्तुतिरूपतया त-
दैश्वर्यवर्णनं कृतं न तु सामान्यप्रश्नविशेषोत्तराभ्यां विष्णोरिव शि-
वादेरैश्वर्यं भारतादौ काऽपि वर्णितं क्वचित्तामसपुराणादौ तद्वर्णनं
तदुपासनार्थं लोकव्यामोहनाय चेत्याशयेनाऽऽह ।

यत्र सामान्यतः प्रश्नः स्याद्विशेषत उत्तरम् ।
 तेन सर्वेश्वरत्वस्य निःशङ्कं निर्णयो भवेत् ॥ ८४ ॥
 न तूपासनादाढ्यार्थं यत्पृष्टं तस्य चोत्तरात् ।
 यथौपमन्यवाख्याने प्रश्नोत्तरप्रवर्त्तनम् ॥ ८५ ॥

यत्रेति ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

विष्णुविषयकौ तथोत्तरौ प्रागुदाहृतौ स्त इत्याह ।

विष्णौ सामान्यतः प्रश्ने विशेषतस्तथोत्तरम् ।
 विद्यते भारते नाऽस्ति रुद्रादिविषये क चित् ॥ ८६ ॥

विष्णाविति ॥ ८६ ॥

उपक्रमादिलिङ्गैर्महातात्पर्यतो हरिं ज्ञापयन्ति वेदा इत्याशये-
 नाऽऽह ।

ज्ञापयन्ति हरिं वेदा लिङ्गैरुपक्रमादिभिः ।
 भारतोपकृताः सर्वे पञ्चरात्रोपवृंहिताः ॥ ८७ ॥

ज्ञापयन्तीति ॥ ८७ ॥

पञ्चरात्रस्य मानेषु श्रेष्ठ्यमुक्तं हि भारते ।
 नारायणकृतत्वाद्धि तद्विषयत्वतस्तथा ॥ ८८ ॥

नारायणेनाऽत्याप्तेन कृतत्वात् सत्यानन्तगुणस्य तस्यैव प्रतिपा-
 दकत्वाच्च श्रेष्ठ्यं पञ्चरात्रस्य नारायणीयाख्यानेनोक्तम् ॥ ८८ ॥

कुत्र चिदवतारे हरिणा रुद्रादिपूजनं लोकशिक्षार्थमित्याह ।

लोकान् शिक्षयितुं विष्णुरवतारेषु कुत्रचित् ।
 आराधयति रुद्रादीन् सदाऽऽप्तकाम एव सन् ॥ ८९ ॥

लोकानिति ॥ ८९ ॥

हरिभिन्नानां सर्वेषामुत्पत्तिः सा त्रिधेत्याह ।

स्वरूपदेहधर्माणामुत्पत्तिस्त्रिविधा मता ।
 लाभो विशेषरूपस्य तुरीयोत्पत्तिरीर्यते ॥ ९० ॥

स्वरूपेति ॥ ९० ॥

त्रैविध्यं निरूपयति ।

महदादेः स्वरूपस्य चितो देहस्य सम्भवः ।

आनुपूर्व्यादिधर्मस्य लाभः शब्दादिकस्य हि ॥ ९१ ॥

महदिति । महदादेर्जडस्य स्वरूपेणैवोत्पत्तिः चितो वद्धजीवस्य देहलाभ एवोत्पत्तिः नित्यस्य वर्णात्मकशब्दस्याऽऽनुपूर्व्यादिधर्म लाभ एवोत्पत्तिः पराधीनत्वं सर्वत्र विवक्षितं तेन मुक्तानां स्वेच्छया देहलाभेऽपि न तन्निबन्धनोत्पत्तिः ॥ ९१ ॥

मुक्तसाधारणीमुत्पत्तिमाह ।

मुक्तानां निजरूपस्य लाभो भगवदिच्छया ।

प्रकृत्याद्यभिमानादेर्लाभः श्रियस्तथोच्यते ॥ ९२ ॥

मुक्तानामिति । प्रागनाद्यविद्यावृतपूर्णानन्दलाभः एवं पराधीन-विशेषावाप्तिरूपोत्पत्तिर्मुक्तानां सृष्टिकाले प्रकृत्याद्यभिमानित्वरूपपराधीनविशेषावाप्तिरूपोत्पत्तिः श्रियः ॥ ९२ ॥

पारतन्त्र्यम्परं ज्ञेयं निदानं वस्तुसम्भवे ।

विनाशोऽपि चतुर्था स्याद्वस्तूनामच्युतेच्छया ॥ ९३ ॥

वस्तूनां सम्भवे कथितोत्पत्तौ पारतन्त्र्यं परेशाधीनत्वं परं केवलं कारणम् । वस्तूनामच्युतस्य हरेरिच्छया विनाशोऽपि चतुर्विधः । यद्यपि जडस्य स्वरूपेण नाशो वद्धजीवानां देहनाशो रमायाः प्रलये प्रकृत्याद्यभिमानत्यागरूपो नाशः संभवति मुक्तजीवानामाविर्भूतपूर्णानन्दस्य वियोगाभावान्नाशो न सम्भवति तथापि मुक्ताः स्वेच्छया प्राप्तं विग्रहं बाह्यलीलां च स्वेच्छयैवाऽनायासेन विहाय परानन्दानुभवा-प्लुताः सन्तो भगवदुदरे स्वच्छन्दाः सावकाशास्तिष्ठन्तीति भवति तेषामपि बाह्यलीलादित्यागरूपो विनाशः पराधीनत्वं चतुर्थो नाशः सर्वसाधारणः ॥ ९३ ॥

अध्यायान्ते स्वेष्टदेवं नमस्करोति ॥

श्रीब्रह्मेशसुरेशाद्या यस्याऽऽङ्गां शिरसा सदा ।

वहन्ति प्रयता वन्दे श्रीहयकन्धरं हि तम् ॥ ९४ ॥

इति श्रीवेदान्तसिद्धान्तसंग्रहे वनमालिविरचिते हरिसर्वो-
त्तमत्ववर्णनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

श्रीति । श्री रमा ब्रह्मा चतुर्मुखः ईशो रुद्रः सुरेशः शक्रः आदिप-
दान्मुनिगन्धर्वमनुष्यदानवदैत्ययक्षराक्षसाः प्रयताः सावधानाः ॥९४॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

प्राक् पृष्टं हरेरद्भुतमहिमानं लब्धावसरो वर्णयति ॥
अध्यायादौ स्वेष्टं स्मरति ॥

गुरुवाच ।

कुतर्कास्पृष्टधामा ऽसावचिन्त्यानन्तशक्तिमान् ।

जयति श्रीहयग्रीवो भक्तानुग्रहतत्परः ॥ १ ॥

“तर्काप्रतिष्ठानादिति”न्यायेनवेदाननुकूलतर्कैरस्पृष्टं धाम स्वरूपं लोकवैभवादिक्तं यस्य तत्र हेतुरचिन्त्येति “विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराण” इति श्रुतेः “आत्मनि चैवं विचित्राश्च हीति”सूत्रात् भक्तानुग्रहे तत्परः उद्युक्तः ॥ १ ॥

स्वप्रत्यक्षयोग्याशेषविशेषविशेषस्य हरेरापरोक्ष्यं मोक्षे तु “तरति शोकमात्मविदित्यादि” श्रुतेः

“ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरमिति

स्मृतेश्च “तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति” श्रुतिसिद्धाऽतीन्द्रियस्वरूपस्य हरेर्ज्ञानं लक्षणज्ञानार्थमिति तल्लक्षणं वक्तव्यं तच्च “जन्माद्यस्य यत” इति सूत्रेणाऽस्य विश्वस्य जन्म त्राणं नाशश्च यतो हरेरेव तानि प्रत्येकं लक्षणत्रयं कृतम् “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति श्रुतेः” तद्वर्णितं, प्राक्सूत्रस्थादिपदगृहीतलक्षणान्तरमाह ॥

बन्धस्य मोक्षस्य तथाऽज्ञताया

ज्ञानस्य कर्त्ता नियतेश्च विष्णुः ।

ध्येयः सदाऽतो भवतापतप्तै

र्ज्ञैश्च मुक्तैः सुखविग्रहो ऽसौ ॥ २ ॥

बन्धस्येति । बन्धस्याऽनादेरपि तत्सङ्कल्पाधीनत्वात्तं प्रति क्षेमसाधारणी कारणता ऽस्त्येव लोके यो बन्धकः स एव मोचयितुं क्षमो दृष्ट इति “तेषामहं समुद्धर्त्ते”त्यागमोक्तमोचकत्वाऽन्यथानुपपत्त्या बन्धकत्वं सिद्धम् । अज्ञत्वं ज्ञानाभावः सोऽपीशात् “मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्चेति स्मृतेः” अपोहनं नाशः तत्त्वज्ञानमपि तत एव “ददामि बुद्धियोगन्तमिति” स्मृतेः बन्धमोक्षयोः परस्परविरुद्धस्वभावस्याऽ-

ज्ञाननिष्ठावरणस्वभावस्य ज्ञाननिष्ठाऽज्ञाननिवर्त्तनस्वभावस्य चाऽन्ये-
पां वस्तूनां स्वभावस्य च या नियतिर्नियमनं तस्याः कर्त्तव्यार्थः
तथा च सूत्रेणाऽष्टौ स्वरूपलक्षणानीति सिद्धम् ॥ २ ॥

विविधविचित्रसत्यविश्वोदयादिकर्तृत्वमानन्दोद्रेकादेय हरेरि-
त्याशयेन तस्य निर्दुष्टानन्दरूपत्वमाह ।

सच्चिदानन्दरूपोऽसौ तद्गुणकस्तथा विभुः ।

तस्य गुणायभेदेऽपि विशेषो वर्त्तते सदा ॥ ३ ॥

सदिति । “ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति ”
श्रुत्या हरेः सच्चिदानन्दरूपत्वोक्तेः “ आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् ”
“ यः सर्वज्ञ ” इत्यादिना तस्य तद्धर्मकत्वोक्तेश्च । नन्वेवं “ ध-
र्मान्पृथक्पथ्यंस्तानेवाऽभिधावतीति ” श्रुत्या गुणानां धर्मिपार्थ-
क्यनिषेधात्कथं धर्मा हरेरभिन्नाश्चेद्धर्मधर्मिभावहानिः “ स-
त्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे ” त्यादीनां पर्यायतापत्तिश्चेत्यत आहातस्य गुणा-
द्यभेदेऽपीति भेदाभावेऽपि भेदप्रतिनिधिर्विशेषोऽङ्गीक्रियते तेन धर्म-
धर्मिभावाऽपर्यायत्वाद्युपपत्तिः ॥ ३ ॥

तदेवाऽऽह ।

भेदप्रतिनिधिः स स्यात् व्यवहारस्य साधकः ।

के चिद्भेदं हि वाच्छन्ति गुणिगुणादिवस्तुनः ॥ ४ ॥

भेदेति । विशेषो गुणिगुणयोरभेदेऽपि भेदाभावेऽपि भेदकार्य-
स्य धर्मधर्मिव्यवहारस्याऽपर्यायत्वादेष्व निर्वहकः मायिनामपि
विशेषाङ्गीकार आवश्यकः अन्यथा “ विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ” “ सत्यं ज्ञान-
मनन्तं ब्रह्मे ” त्यादौ पर्यायता स्यात् भ्रमाधिष्ठानत्वादिना चैतन्यस्य
सदा भानेऽपि तदभिन्नानन्दस्य दानीमप्रकाशानुपपत्तिश्च ज्ञानानन्दयो-
रेकतरपरिशेषे च मोक्षे आनन्दप्रकाशो न स्यात् । न च कल्पितसत्य
त्वादिविशिष्टस्य वाच्यत्वादपर्यायत्वाद्युपपत्तिः लक्ष्यं त्वखण्डं ब्रह्मेति
वाच्यम् । गङ्गापदलक्ष्यतीरस्याऽगङ्गात्ववत्सत्यादिपदलक्ष्यस्याऽस-
त्यत्वाऽज्ञानत्वपरिच्छिन्नत्वाऽब्रह्मत्वापत्तेः न च जहदजहल्लक्षणायां
नाऽसत्यत्वाद्यापत्तिः वाच्यात्सत्यादेरधिकस्याऽर्थस्य लाक्षणिकबोधे
ऽभाने लक्षणाचैयर्थ्यापत्तेः नहि वाच्य एवाऽर्थे पदस्य लक्षणा दृष्टा युक्ता

वा । तत्त्वमसीत्यत्र शोधितात्तत्पदार्थात् वाक्यार्थस्यैक्यस्य न ता-
वत्तन्मते भेदो भेदाभेदौ वैक्यस्य मिथ्यात्वाद्यापत्तेः तत्र विशेषो न
चेत् कथं स्वप्रकाशचैतन्यप्रकाशेऽप्यैक्यस्याऽप्रकाशः चित्रप्रकाशस्य
भेदभ्रमाविरोधित्वेऽपि तदभिन्नैक्यप्रकाशस्य तद्विरोधः चितो निरपे-
क्षत्वेऽप्यैक्यस्य सापेक्षत्वादिकम् । समवायः संबन्धः सत्तासती भेदो
भिन्नः अन्त्यविशेषो व्यावृत्तः कालः सदाऽस्ति देशः सर्वत्रेत्यवा-
धितव्यवहारार्थं विशेषोऽङ्गीकार्यः प्रमेयत्वं प्रमेयं घटाभावो घटो ना-
ऽस्तीत्यादावभेदेऽपि धर्मधर्मिभावाधाराधेयभावादविशेषानङ्गीकारे
ऽनुपपत्तेः स च विशेषो वस्त्वभिन्नः स्वनिर्वाहकश्चेति नाऽनवस्था
तस्य तथात्वं धर्मिग्राहकमानसिद्धं यत्र भेदाभावो भेद-
कार्यं च प्रमितं तत्रैव विशेषः कल्प्यत इति न प्रमितभेदघटपटेश-
जीवादिषु विशेषमादाय भेदत्यागः नहि सोमलताभावे तत्प्रति-
निधिः पूतीक इति स तल्लाभेऽपि । मतान्तरमाह । केचिदिति ।
नच गुणगुणिनोर्भेदेऽनवस्थादोषः प्रामाणिकानवस्थाया अदो-
षत्वात्कचित्स्वनिर्वाहकत्वाद्वा नच ब्रह्मणो ज्ञानादिधर्मकत्वे
जडत्वाद्यापत्तिः ज्ञानादिस्वरूपत्वस्याऽप्यभ्युपगमात् न च
ज्ञानादिद्वयवैयर्थ्यं प्रमाणेन प्रयोजनमुखानिरीक्षणात् नच स्वरूप
धर्मयोर्ज्ञानादिरूपत्वे भेदानुपपत्तिः दण्डी पुरुष इत्यत्र दण्डपुरुषयो
पार्थिवयोर्दण्डत्वपुरुषत्वाभ्यां यथा भेदस्तथा स्वरूपधर्मयोर्ज्ञानान-
न्दादिरूपयोर्द्रव्यत्वगुणत्वाभ्यां हि भेदः न चोक्तश्रुतिविरोधः तथा
ब्रह्मगुणानां यावद्द्रव्यभावित्वप्रतिपादनात् ब्रह्मगुणविषयकानि-
त्यत्वज्ञानस्यैव निन्दितत्वात् द्रव्ये विद्यमानेऽपि पाकादिना रूपादयो
गुणा नश्यन्ति न तथा हरौ विद्यमाने तद्गुणा ज्ञानादयो नश्यन्ती-
त्यर्थे श्रुतेस्तात्पर्यम् ॥ ४ ॥

हरिज्ञानेच्छादीनां नित्यत्वेऽपि न सदा सृष्टिस्तत्कालस्य सहका-
रिणः सदाऽभावादित्याह ।

स्वेच्छया स प्रविश्याऽऽदौ प्रधानं पुरुषं तथा ।

क्षोभयत्यागते काले जीवादृष्टमुपेत्य च ॥ ५ ॥

स्वेति । सृष्टिकाले आगते सति हरिः स्वेच्छया प्रधानं
पुरुषं चाऽऽदौ प्रथमं प्रविश्य द्वौ क्षोभयति विषमसृष्टिकर्तृत्वेन

प्रसक्तवैषम्यनिरासायाऽऽह । जीवेति । विस्तृतं चैतत्प्राक् ॥ ५ ॥
सृष्टिक्रममाह ।

महदादीनि तत्त्वानि सर्वशः सृजतीश्वरः ।

प्रविश्याऽनेकधा रूपैः स्यात्सर्वेषां नियामकः ॥ ६ ॥

महदिति सर्वशः सर्वाणि आदौ प्रधानान्महत्तत्त्वं ततो ऽहङ्कारः
स त्रिविधः सात्त्विको राजसस्तामसश्च सात्त्विकान्मन इन्द्रिया-
धिष्ठातृदेवाश्च राजसाद् बुद्धीन्द्रियाणि चित्तस्य मनस्यन्तर्भावः
तामसाद् भूततन्मात्रा इयं प्रक्रिया पुराणादौ स्पष्टा ईश्वरः अघट-
नघटनापटोयस्सामर्थ्यः ननु जडानां कथं प्रवृत्तिस्तत्राऽऽह । अन्त-
र्यामिवहुरूपैरन्तः प्रविश्य सर्वेषां नियामकः प्रवर्त्तकः स्यात् ॥ ६ ॥

ननु विरुद्धानामग्निजलादीनां कथं परस्परं मेलनं तत्राऽऽह ।

मेलयित्वा ततस्तानि सृजत्यण्डं दयानिधिः ।

ब्रह्मादीन्स्तम्बपर्यन्तान् सृजति प्राणिनस्ततः ॥ ७ ॥

मेलयित्वेति । ततः प्रवेशानन्तरं तानि विरुद्धान्यपि स्वसाम-
र्थ्याधानेनाऽविरोधं सम्पाद्य मेलयित्वाऽण्डं ब्रह्माण्डं सृजति दया-
निधिः सन्नेष म तु सप्रयोजनः ततो ऽनन्तरं ब्रह्मरुद्रादीन्स्तम्बपर्य-
न्तान्प्राणिनः सृजति ॥ ७ ॥

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदिति श्रुतिं व्याख्याति ॥

एकधा मूलरूपेणाऽन्तर्यामी बहुधा हरिः ।

बहुधेति श्रुतावुक्तोऽवतारादितया तथा ॥ ८ ॥

एकधेति । यथाऽऽकाशे चन्द्र एको जलेऽनेकधा दृश्यते । तथा
मूलरूपेणैकोऽपि हरिरचिन्त्यशक्त्याऽन्तर्यामिरूपै रामकृष्णाद्यवतार-
रूपैश्च बहुधा श्रुत्यादिना प्रतीयते ॥ ८ ॥

एतदेव स्पष्टयति ॥

तत्तत्कार्येष्वचिन्त्यात्मा ऽऽविर्भूतोऽन्तर्नियामकः ।

बहुभवनं हि तस्योक्तमिदं चाऽविकारिणः ॥ ९ ॥

तदिति । तत्तन्महदादिपृथिव्यन्तेष्वचिन्त्यात्मा नियामकः आवि-

भवति । “एकोऽहं बहु स्यामिति” श्रुत्युक्तं बहुभवनमिदमेवाऽन्तर्या-
मिरूपेणाऽविकारिणः ॥ ९ ॥

“सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय स तपो ऽतप्यत स तप-
स्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत तत्सृष्ट्वा सदेवाऽनुप्राविशत्तदाऽनुप्रविश्य
सद्याऽसद्याऽभवदिति” श्रुत्यर्थमाह ।

सदादिभवनं तस्याऽन्तर्यामिरूपतोऽन्यथा ।

प्रवेशः कार्यजातेषु सृष्टुश्चत्तरं कथं हरेः ॥ १० ॥

सदादीति । सदादीनां स्थूलसूक्ष्माणां वस्तूनां नियामकरू-
पैराविर्भावः सदादिभवनम् । अन्यथा यथाश्रुतसदादिभावाङ्गीकारे
क्लाप्रत्ययान्तसृजतिनोक्तं पूर्वकाले सर्जनं तदुत्तरं प्रवेशस्तदुत्तरं
सदादिभवनामिति श्रुत्यर्थो बाधितः स्यात् नहि सृदादेर्घटाद्युत्पत्त्य-
नन्तरं घटादौ प्रवेशः ॥ १० ॥

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्नीः प्रजाः सृजन्तीमिति श्रुत्यु-
क्तप्रकृतिरुपादानं हरिः कर्त्तैव सन्निमित्तकारणं नोपादानमित्यर्थक-
स्मृतिमुदाहरति ।

निमित्तमात्रमेवाऽसौ सृज्यानां सर्गकर्माणि ।

मया ऽध्यक्षेण प्रकृतिः स्रूयते सचराचरम् ॥ ११ ॥

निमित्तमात्रमिति । एवकारेणोपादानत्वव्यवच्छेदः सृज्यानां का-
र्याणाम् अध्यक्षेण स्वामिना ॥ ११ ॥

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ १२ ॥

महद्वस्तु प्रधानाख्यं कार्यमात्रस्य योनिरुपादानकारणं मम मदधी
नं तस्मिन्नीक्षणाख्यं गर्भं दधामि सृदो घटादेरिव ततः सर्वभूतानाङ्गा-
र्याणां सम्भवः ॥ १२ ॥

“सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं-
प्रत्यस्तं यन्तीति” ब्रह्मण्येव सृष्टिलयोक्त्या तस्योपादानत्वमित्याश-
ङ्कां निराकरोति ।

सृष्टिर्नाशश्च जालानामूर्णनाभेर्निमित्ततः ।

तस्यानाशे ऽन्यथा तेषां स्थितिः कथं भवेच्चिरम् ॥ १३ ॥

सृष्टिरिति । जालानां लयादिनिमित्ततः निमित्तहेतौ लूतायां दृष्टः अन्यथा तस्या उपादानत्वाङ्गीकारे लूताया नाशेऽन्यत्र गमने तेषां जालानां चिरं दीर्घकालस्थितिः कथं स्यात् नहि तन्त्वादिविनाशे पटादिस्थितिर्दृष्टा । केपाश्चिन्नये तन्तुनाशेऽपि विनश्यदवस्थस्य पटस्य क्षणमवस्थानमतश्चिरमिति ॥ १३ ॥

भेदाभेदौ हि सिद्धान्ते कार्यकारणयोर्मतौ ।

स्याद्भेदे गुरुताधिक्यमभेदे कार्यनिहवः ॥ १४ ॥

कार्यकारणयोर्भेदे कपालादिगुरुत्वमेकमन्यच्च घटादेरिति तुला-
रोपणे द्विगुणं स्यात् अभेदे जलाद्याहरणादिकार्यस्याऽपह्नवः स्यात् ।
घटादिजनककारककलापवैयर्थ्यापत्तेश्च नच भेदाभेदौ विरुद्धौ
एकरूपेण तयोर्विरोधेऽपि भिन्नरूपेण तयोरविरोधात् मृत्त्वादिना-
ह्यभेदः भेदस्तु घटत्वकपालत्वादिना महत्त्वाहङ्कारत्वमृत्पिण्डत्व-
घटत्वाद्याः प्रकृतिनिष्ठा धर्मा अवस्थापदवाच्याः कारणविशेषेण द-
ण्डादिना घटत्वाद्यभिव्यक्तिः पिण्डत्वानभिव्यक्तिरेव घटाद्युत्पत्तिः
मुद्गरादिना घटत्वाद्यनभिव्यक्तिरेव घटादिनाश इति ॥ १४ ॥

भूतग्रामः स एवाऽयं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १५ ॥

स एव पूर्वकल्पीयः कारणात्मना स्थितः भूत्वा भूत्वा रात्र्यागमे
प्रलीयतेऽहरागमे प्रभवति प्रजापतेः रात्र्यहः शब्दौ प्रलयसृष्टि-
कालपरौ ॥ १५ ॥

ब्रह्मणो विश्वोपादानत्वे तदभिन्नत्वापत्त्या जडत्वाद्यापत्त्या कर्तृ-
त्वानुपपत्तिरित्याशयेनाऽऽह ।

उपादानत्वकर्तृत्वे लोके विरोधिनी मते ।

नाऽतो द्रव्यं प्रतीशस्योपादानता भवेत् क्वचित् ॥ १६ ॥

उपादानेति । चेतनस्य द्रव्योपादानत्वे कर्तृत्वं न स्यात् मृदादि-
वत् । आत्मघटसंयोगं प्रत्यात्मनः समवायिकारणत्वमतेऽपि न द्रव्यं
प्रीत तत्त्वम् ॥ १६ ॥

विकारित्वं तथात्वे स्यान्मृदादिवच्चितः कचित् ।

पारिभाषिकमेव स्यादुपादानत्वमन्यथा ॥ १७ ॥

विकारित्वमिति । तथात्वे चेतनस्योपादानत्वे विकारित्वं स्यात् अन्यथा विकारं विनाऽप्युपादानत्वाङ्गीकारे पारिभाषिकमेवोपादानत्वमनुपादानतायामेव पर्यवस्येत् यत्तु शून्यस्य विवर्त्तो विश्वमिति माध्यमिकमतमाश्रित्य अतास्विकोऽन्यथाभावरूपो विवर्त्तो विश्वं ब्रह्मण इति विवर्त्ताधिष्ठानरूपमुपादानत्वं तस्य सिद्धमिति नवीनाः प्रलपन्ति तदप्यनेनैव निरस्तम् नहि शुक्तीरूप्यस्योपादानं मृदा घटस्याऽधिष्ठानमिति व्यवहियते । रूप्यं प्रति शुक्तेरिव ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वानुपपत्तेश्च ॥ १७ ॥

ब्रह्मण उपादानत्वे बाधकमुक्त्वा साधकाभावमाह ।

प्रत्याख्यातं फणीन्द्रेण प्रकृतेः सूत्रणं स्फुटम् ।

अपाये ध्रुवमित्येतत्सूत्रं संज्ञाविधायकम् ॥ १८ ॥

प्रत्याख्यातमिति । “ जनिकर्त्तुः प्रकृतिरिति ” सूत्रमपादानसंज्ञाविधायकं तच्च फणीन्द्रेण महाभाष्यकृता प्रत्याख्यातं “ ध्रुवमपाये ऽपादानमिति ” सूत्रेणैवाऽपादानसंज्ञासिद्धेः अपाये विश्लेषे यद्ध्रुवमवधिभूतं ततः पञ्चमीति विश्लेषावधावेव सर्वत्र पञ्चमी वृत्तौ पुत्रात्प्रमोदो जायत इत्यनुपादाने पञ्चमीदर्शनात्प्रकृतिपदं हेतुमात्रपरमित्युक्तम् । न्यासेऽपीदमेवाऽऽश्रित्याऽसति प्रकृतिग्रहणे उपादानस्यैवाऽपादानसंज्ञा स्यात् प्रत्यासत्तेः नेतरस्य प्रकृतिग्रहणात्कारणमात्रस्य भवतीति प्रकृतिपदमनुपादानेऽप्यपादानसंज्ञासिद्धयर्थमित्युक्तम् मृदो घटो जायत इत्यत्राऽपि बौद्धो विश्लेषोऽस्त्येवं न काऽप्युपादानार्थिका पञ्चमी यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते आकाशादेव समुत्पद्यन्ते इत्यादौ विश्लेषावधावेव पञ्चमीति ॥ १८ ॥

तदात्मानमेवाऽकरोदिति श्रुतिं व्याख्याति ।

आत्मनः करणं विष्णोराविर्भावो न चोदयः ।

निर्विकारगिरां कोपोऽन्यथाऽनीश्वरता तथा ॥ १९ ॥

आत्मन इति । तत्तत्कार्यनियामकरूपैराविर्भाव एवाऽऽत्मनः

स्वस्य करणम् । अन्यथा महदादिरूपेणाऽऽत्मनः करणे निर्विकारश्रु-
तिविरोधः स्यात् जगन्निरीश्वरं च स्यात् ॥ १९ ॥

आविर्भावस्वरूपां हि स्वयोनिं पार्थसारथिः ।

यादृशीमुक्तवानीशस्तादृशी प्रकृते जनिः ॥ २० ॥

“यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्”

मित्याविर्भावलक्षणां स्वस्य जनिं पार्थसारथिरुक्तवान् प्रकृते
“तदात्मानमेवाऽकरोदिति” श्रुतौ तादृश्येव जनिर्न तु महदादिरूपेण
भवनमित्यर्थः ॥ २० ॥

“एकोऽहंवहु स्या”मित्यन्तर्यामितयैव बहुभवनमित्याह ।

अन्तर्यामितया स्वस्य बहुभवनमिच्छता ।

सृज्यन्ते बहवो भावाः सत्यसङ्कल्पशालिना ॥ २१ ॥

अन्तरिति । अन्तर्यामितया स्वस्य बहुभावं सङ्कल्प्य महदादयः
सृज्यन्त इत्यर्थः ॥ २१ ॥

ननु स्वस्याऽनन्तरूपैर्बहुभावं सङ्कल्प्य इदं सर्वमसृजतेति जग-
त्सर्जनानुपपत्तिस्तत्राऽऽह ।

गुरुत्वं स्वस्य सङ्कल्प्य शिष्यसम्पादनं गुरोः ।

यथा तथा विरोधो न सङ्कल्पस्य कचिद्विभोः ॥ २२ ॥

गुरुत्वमिति । नियामकरूपैर्बहुभावस्य नियम्यसापेक्षत्वान्नियम्यं
सृष्ट्वा नियामकरूपैः प्रवेशोपपत्तेः यथा गुरुत्वसङ्कल्पेन शिष्यसर्जनं
न विरुद्धं शिष्यसर्जनस्य गुरुत्वोपपादकत्वेन तत्सङ्कल्पविषयत्वात्त-
था विश्वसर्जनस्य स्वीयानन्तरूपोपपादकत्वेन तस्याऽपि स्वीयानन्त-
रूपसङ्कल्पविषयत्वेन सङ्कल्पसर्जनयोर्वैयधिकरण्याभावात् ॥ २२ ॥

तात्पर्यनिर्णये वीजैरुपक्रमादिलिङ्गकैः ।

सिद्धोत्समन्वयो विष्णावार्पवाचां गुणालये ॥ २३ ॥

तात्पर्येति । समन्वयाधिकरणोक्तरीत्योपक्रमादिलिङ्गैः शब्दता-
त्पर्यनिर्णायकैरार्पवाचां वेदानां विष्णावेव सम्यगन्वयो मुख्यवृत्त्या

सिद्ध्यतीति सत्यानन्तगुणार्चिर्विष्णुर्मुमुक्षूणां ध्येयो ज्ञेयश्च सि-
द्ध्यति ।

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् ।

अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गन्तात्पर्यनिर्णय —

इत्यत्रोपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्यमेकं लिङ्गमिति न लिङ्गानां स-
त्त्वम् ॥ २३ ॥

ननु भवेद्ब्रह्मणि सर्वशब्दानां मुख्यवृत्त्या समन्वयो यदि वाच्यं
स्यात्तदेव तु न सम्भवति

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेति

श्रुत्या तस्य वाच्यत्वनिषेधादित्याशङ्क्याऽऽह ॥

अवाच्यत्वं परेशस्य साकल्यादद्भुतत्वतः ।

अवाच्यपदवाच्यत्वावाच्यत्वाभ्यां दृढं भवेत् ॥ २४ ॥

अवाच्यत्वमिति । साकल्यादद्भुतत्वाच्चेष्टस्याऽवाच्यत्वम् ।
अवाच्यपदेन वाच्यं चेत्तेनैव वाच्यता नो चेत्तदन्यशब्दैः सुतरां
वाच्यता ॥ २४ ॥

माता बन्ध्या तथा मूकोऽहमिति स्यात् विरोधिता ।

वैयर्थ्यं ब्रह्मवाक्यानां वाच्यार्थशून्यता भवेत् ॥ २५ ॥

मातेति । मम माता बन्ध्याऽहं मूक इत्यादिकं यथा व्याहतं तथा
यतो वाच इत्यत्र यच्छब्देन वाच्यत्वे सर्वशब्दावाच्यत्वव्याहतिः ।
तदवाच्यत्वे ब्रह्मण औपनिषदस्य तदुद्दिश्य वाच्यत्वाभावविधानास-
म्भवेन व्याहतिः “ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे ” त्यादिवाक्यानां वैयर्थ्यं
स्यात् न हि वाच्यार्थशून्यं वाक्यं पदं वा कचित्सार्थकं दृष्टं
युक्तं वा ॥ २५ ॥

ननु शक्यार्थाभावेऽपि लक्षणया ब्रह्मवाक्यानां सार्थक्यं तत्राऽऽह
वाच्यार्थोऽज्ञितशब्दानां लक्षणाऽपि न युज्यते ।

ब्रह्मादिपदलक्ष्यस्याऽब्रह्मत्वादिकमापतेत् ॥ २६ ॥

वाच्यार्थहीनानां शक्यसम्बन्धादिरूपलक्षणा न संभवति निर-
र्थकपदघटितवाक्यं च निरर्थकं स्यात् ॥ २६ ॥

ब्रह्मादिपदलक्ष्यस्याऽब्रह्मत्वादौ दृष्टान्तः ।

अगङ्गादि यथा तीरं गङ्गादिपदलक्षितम् ।

अशक्यार्थागृहीतौ स्याल्लक्षणा हि वृथा गिराम् ॥ २७ ॥

अगङ्गादीति । यथा गङ्गादिपदलक्षितं तीरादिकं गङ्गादिभिन्नं भवति । तथा सत्यादिपदलक्षितं ब्रह्माऽसज्जडपरिच्छिन्नाब्रह्मादिकं स्यात् । ननु जहल्लक्षणायां भवेद्गङ्गादिपदलक्ष्यस्याऽगङ्गात्वादिकं प्रकृते तु जहदजहल्लक्षणाङ्गीकाराच्चाऽसत्यत्वाद्यापत्तिरित्यत आह । अशक्येति । लक्षणाजन्यबोधे शक्यादधिकस्याऽर्थस्याऽगृहीतावभावे लक्षणावैयर्थ्यं नहि घटपदस्य घट एव लक्षणा काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्र दध्युपघातकत्वेन लक्षणाऽपि काकत्वत्यागेन व्यक्तेर्लाभे भवति जहदजहत्स्वार्था, तत्र यथा दध्युपघातकत्वेन मार्जारादिव्यक्तिः भासते तथा लक्षणासार्थक्यायाऽब्रह्मासत्यत्वाद्यंशभानाऽऽवश्यकम् ॥ २७ ॥

“यदूर्ध्वं गार्गि दिवा यदर्वाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते तदेतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घमलोहितमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचभुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणमसुखमनामाऽगोत्रमनन्तरमवाह्यं न तदश्नाति किं च नेति” श्रुतिम्

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथेत्यादि-

स्मृतिं चाऽक्षरस्य परब्रह्मणो वाच्यत्वं बोधयन्तीं संगृह्णाति ।

वाच्यत्वमक्षरस्याऽऽहुः श्रुतयः स्मृतयस्तथा ।

प्राकृतानां निषेधोऽत्र स्थौल्यादीनां हि कथ्यते ॥

अन्यथा प्रतिपिद्धं स्यात्सुखरूपत्वमात्मनः ॥ २८ ॥

वाच्यत्वमिति । प्राकृतवस्तुस्वभावानामेव स्थूलत्वादीनामक्षरे निषेधः अन्यथा यथाश्रुतनिषेधाङ्गीकारे असुखमित्यनेन सुखरूपताया निषेधः स्यात् ॥ २८ ॥

ईक्षत्यधिकृतौ विष्णोरवाच्यत्वं निराकृतम् ।

श्रीवादरायणेनाऽद्धा तद्गुणानन्त्यलिप्सया ॥ २९ ॥

तस्य श्रीहरेर्गुणानामानन्त्यस्य लिप्सया वाच्यत्वमीक्ष्यत्यधिकरणे “ ईक्षतेर्नाशब्दमिति ” ब्रह्म शब्दावाच्यं न ईक्षतेः स तस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरि शयं पुरुषमीक्षत इति तद्विषयकेक्षणश्रवणात् । इक्षणं त्वौपनिषदस्य शब्देनैव तच्च ब्रह्मणः सर्वशब्दावाच्यत्वे ऽनुपपन्नं स्यादिति हि तदधिकरणार्थः ॥ २९ ॥

ननु विशिष्टं वाच्यं शुद्धं लक्ष्यन्तत्राऽऽह

दर्शनं ह्यात्मनः प्रोक्तं तज्ज्ञानादेव मोचनम् ।

तत्र हेयनिषेधाच्च वाच्यत्वं शुद्धचिद्वतम् ॥ ३० ॥

दर्शनमिति । “ आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ” “ ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति तरतिशोकमात्मवित् ” “ यदापश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति ” श्रुतिभिः

शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्दिते ।

मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणम्—

इत्यादिस्मृत्या च शुद्धस्यैव ज्ञेयत्वमुक्तम् । नह्यशुद्धज्ञानात् मोक्षो भवेत् अतःशुद्धमेव ब्रह्म मुमुक्षुज्ञेयं ध्येयं वाच्यं चेति सिद्धम् ३०

चतुर्विधगिरां विष्णौ समन्वयः प्रकीर्त्यते ।

आद्याध्यायेन वृत्त्या हि मुख्यया हरिणा स्फुटम् ॥ ३१ ॥

चतुरिति । हरिणा श्रीव्यासेनाऽऽद्येन समन्वयाध्यायेन मुख्यया वृत्त्या चतुर्विधशब्दानां विष्णौ समन्वयः प्रकीर्त्यते ॥ ३१ ॥

चातुर्विध्यमाह ।

तत्राऽन्यत्रोभयत्रैव चाऽन्यत्रैव प्रसिद्धकाः ।

विष्ण्वानन्दमयाधारबोधकाधारवाःस्मृताः ॥ ३२ ॥

तत्रेति । तत्र हरौ प्रसिद्धा विष्णुनारायणादयस्तेषां सुप्रसिद्धत्वात्समन्वये यत्तो नाऽपेक्षितः अन्यत्र प्रसिद्धा अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाद्या रुद्रेन्द्रादिदेवताः प्राणाकाशज्योतिर्गार्ग्याद्याश्च सर्वगतत्वसर्वभक्षकत्वगुहाप्रविष्टत्वाऽऽदित्यादिस्थत्वा ऽर्प्यन्तामित्वदृश्य

त्वादिगुणकत्वादिवोधकाश्चाऽन्यत्रप्रसिद्धाः दुभ्वाद्यायतनत्वभूमत्वा-
क्षरत्वादिवोधका उभयत्र प्रसिद्धाः प्रधानादेर्ज्योतिष्टोमादिकर्मणां च
धाचकाः प्रकृतिशून्यवद्धाःसदाद्याः अन्यत्रैव प्रसिद्धानां समन्वयस्य
चतुर्मुख एवोपासकोऽन्येषां समन्वयस्य यथायोग्यं सर्वे चिन्तकाः॥३२॥
अन्यत्र प्रसिद्धानां लक्षणमाह ।

येषां ब्रह्मण्यप्रसिद्धिः प्रसिद्धिश्चाऽन्यवस्तुषु ।

विरोधिन्यौ हि तेऽन्यत्र प्रसिद्धाः कथिता इह ॥ ३३ ॥

येषामिति । अन्नमयादीनां मयडन्तानां निर्विकारे ब्रह्मणि लोकतोऽ-
प्रसिद्धिः सविकारे वस्त्वन्तरे प्रसिद्धिश्च हरौ समन्वयस्य विरो-
धिनीति तेऽन्यत्र प्रसिद्धाः ॥ ३३ ॥

येषां प्रसिद्धिरन्यत्र केवलैव विरोधिनी ।

समन्वयस्योभयत्र प्रसिद्धास्ते प्रकीर्तिताः ॥ ३४ ॥

“दुभ्वाद्यायतनत्वादिवोधका रुद्रो वा व लोकाधारः प्राणानां-
ग्रन्थिरसि रुद्रः भूतश्च भवश्च भविष्यश्चेत्याचक्षते आकाश एव तदोतं
वायुना वै गौतमसूत्रेणाऽयश्च लोकःपरश्च लोकःसर्वाणि च भूतानि संह-
धानीत्याद्याः समाख्यानादिनाऽन्यत्र प्रसिद्धाः लोकाश्च लोकिनश्च
विष्णावेवौताश्च प्रोताश्चेत्याद्याः” श्रुतयः

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव

इत्याद्याः स्मृतयश्च विष्णौ दुभ्वाद्यायतनत्वबोधिकाः प्र-
सिद्धाः ॥ ३४ ॥

येषामुक्तद्वयं ब्रह्मपरत्वस्याऽत्यशक्यता ।

इति तिस्रो विरोधिन्यस्तेऽन्यत्रैव प्रसिद्धकाः ॥ ३५ ॥

येषां शब्दानां ब्रह्मान्यत्र लोकात् श्रुत्या च प्रसिद्धिर्ब्रह्मणि चा-
ऽत्यप्रसिद्धिः समन्वयविरोधिनी तेऽन्यत्रैव प्रसिद्धाः प्रधानबुद्ध्या-
दयः ॥ ३५ ॥

सङ्क्षेपेण समन्वयप्रकारं वक्तुमन्नमयादीनान्तावत्तमाह ।

अन्नमयः स एवाऽस्ति तथा प्राणमयो हरिः ।

मनोमयोऽपि सर्वेशो हि विज्ञानमयस्तथा ॥ ३६ ॥

अन्नमय इति ॥ स हरिरेवाऽन्नमयादिरूपः ॥ ३६ ॥

अन्नमयादीनां ब्रह्मत्वे हेतुमाह ।

स आनन्दमयोऽप्यस्ति ब्रह्मशब्दप्रयोगतः ।

मुक्तप्राप्यत्वमन्नादेरेवं हि सूपपद्यते ॥ ३७ ॥

स इत्यादिना । येऽन्नं ब्रह्मोपासते ये प्राणं ब्रह्मोपासते आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेदेत्याद्यन्नमयादिविषयतया ब्रह्मशब्दसमभिव्याहारादन्नमयादयो ब्रह्मैव, न चाऽन्नं ब्रह्मेत्यन्नादीनां ब्रह्मशब्दसमभिव्याहारादस्तु ब्रह्मत्वं अन्नमयादीनां च तदभावात्कथंतत्त्वमिति वाच्यम् । यथाहि ज्योतिष्टोमाधिकारे वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेतेत्यत्र ज्योतिःपदमेव ज्योतिष्टोमाभ्यासकालपरं तथाऽन्नमयाद्यधिकारे पठितमभ्यस्यमानं ब्रह्मविधानपरं तथा चैतदन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्येत्यन्नमयादेर्मुक्तप्राप्यत्वादन्नमयादिकं लक्ष्यत इत्यर्थः “आनन्दमयोऽभ्यासादिति” सूत्रे चाऽऽनन्दमयपदमन्नमयाद्युपलक्षकं स यश्चाऽयं पुरुषे यश्चाऽसावादित्ये स एकः स य एवंवित् अस्माल्लोकात्प्रेत्य एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य इमांल्लोकान् कामरूप्यनुसंचरन् एतत्साम गायन्नास्त इति ब्रह्मविदोऽन्नमयादिप्राप्तिरेषा ब्रह्मत्वे सूपपन्ना भवेत् न हि ब्रह्मविदो ऽब्रह्मप्राप्तिर्युक्ता ॥ ३७ ॥

ननु विकारार्थकमयडन्तैः कथं ब्रह्म वाच्यं तत्रयोगरूढयोरभावाच्चेत्यत आह ।

प्राचुर्ये मयडत्राऽस्ति न विकारार्थकः क्वचित् ।

अन्नत्वमुपजीव्यत्वाद्भक्षयितृत्वतो हरेः ॥ ३८ ॥

प्राचुर्य इति । प्राचुर्य एवाऽन्नमयत् न विकारेऽन्यथा बहुचक्षाभ्यां विज्ञानानन्दप्राप्तिपदिकाभ्यां विकारार्थकमयडनुपपत्तेः “मयड्वैतयोर्भाषायामिति” लोक एव विकारार्थकमयड्विधानात् “द्व्यचक्षुन्दसी”त्यनेन द्व्यच्चादेव विकारार्थकमयड्विधानात् । ततोऽर्थान्तरे मयडङ्गीकारे वैरूप्यापत्तेः

“अद्यतेऽस्ति च भूतानि तस्मादन्नमित्युच्यते” इति श्रुत्या सर्व-

- (७) न्यायरत्नमाला-श्रीपार्थसारथिमिश्र वि० सं० (मीमांसा) २
- (८) ब्रह्मसूत्रभाष्यम्-बादरायणप्रणीत-
वेदान्तसूत्रस्य यतीन्द्र श्रीमद्विज्ञान-
मिश्रकृत व्याख्यानम् । सम्पूर्णम् । } (वेदान्तः) ६
- (९) स्याद्वादमञ्जरी-मल्लिलपेणानिर्मिता सम्पूर्णा । (जैनदर्शनम्) २
- (१०) सिद्धित्रयम्-विशिष्टाद्वैत-ब्रह्मनिरूपण-
परम्-श्रीभाष्यकृतां परमगुरुभिः श्री ६
श्रीयामुनमुनिभिर्विरचितम् । सम्पूर्णम् } (वेदान्तः) १
- (११) न्यायमकरन्दः । श्रीमदानन्दबोधभट्टा-
रकाचार्यसंगृहीतः । आचार्यचित्सुख-
मुनिविरचितव्याख्योपेतः } (वेदान्तः) ४
- (१२) विभक्त्यर्थनिर्णयः न्यायानुसारिप्रथमादि-
सप्तविभक्तिविस्तृतविचाररूपः म० म०
श्रीगिरिधरोपाध्यायविरचितः । सम्पूर्णः } (न्यायः) ५
- (१३) विधिरसायनम् । श्रीअण्णयदीक्षितकृतम् । सं० (मीमांसा) २
- (१४) न्यायसुधा (तन्त्रवार्तिकटीका) भट्ट-
सोमेश्वरविरचिता । } (मीमांसा) १६
- (१५) शिवस्तोत्रावली । उत्पलदेवविरचिता ।
श्रीक्षेमराजविरचितवृत्तिसमेता । } (वेदान्तः) २
- (१६) मीमांसावालप्रकाशः (जैमिनीयद्वादशा-
ध्यायार्थसंग्रहः) श्रीभट्टनारायणात्मज-
भट्टशङ्करविरचितः । } (मीमांसा) २
- (१७) प्रकरणपञ्चिका (प्रभाकरमतानुसारि-मीमांसादर्शनम्) महामहो-
पाध्यायश्रीशालिकनाथमिश्रविरचितं, श्रीशङ्करभट्टकृतो मीमांसा-
सारसंग्रहश्च सम्पूर्णः (मीमांसा) ३
- (१८) अद्वैतसिद्धिसिद्धान्तसारः । पण्डितप्रवरश्रीसदानन्दव्यासप्रणीत-
स्तत्कृतव्याख्यासमलङ्कृतश्च । (वेदान्त) ३
- (१९) कात्यायनश्रौतसूत्रम् । महामहोपाध्यायश्रीकर्का-
चार्यविरचितभाष्यसहितम् । १३
- (२०) ब्रह्मसूत्रभाष्यम् । श्रीभास्कराचार्यविरचितम् (वेदान्तः) १
- (२१) श्रीहर्षप्रणीतं खण्डनखण्डखाद्यम् । आनन्दपूर्ण-
विरचितया खण्डनफक्त्रिकाविभजनाख्यया व्या-
ख्यया (विद्यासागरी) ति प्रसिद्धया समेतम् । } (वेदान्तः) १३
- (२२) आख्यातचन्द्रिका श्रीभट्टमल्लविरचिता । १
- (२३) श्रीलक्ष्मीसहस्रम्-बालबोधिनीव्याख्यया-
ऽवतरणिकया च सहितम् । ८

| | | |
|----|---|----|
| २४ | ब्रह्मसूत्रवृत्तिः मरीचिका श्रीव्रजनाथभट्टकृता (वेदान्त) | २ |
| २५ | क्रोडपत्रसंग्रहः । अत्र श्रीकालीशङ्करसिद्धान्तवागीशविरचितानि अनुमानजागदीश्याः प्रत्य- चानुमानगादाधर्याः प्रत्यक्षानुमानमाथुर्या व्युत्पत्तिवादस्य शक्तिवादस्य मुक्तिवादस्य शब्द- शक्तिप्रकाशिकायाः कुसुमाञ्जलेश्च क्रोडपत्राणि । (न्यायः) | २ |
| २६ | ब्रह्मसूत्रम्, द्वैताद्वैतदर्शनम् । श्रीसुन्दरभट्टरचितसिद्धान्तसेतुकाऽभिधट्टीकासहितश्रीदेवाचार्यप- णीतसिद्धान्तजाह्नवीयुतम् | २ |
| २७ | षड्दर्शनसमुच्चयः । बौद्धनैयायिककापिलजैनवैशेषिकजैमिनीयदर्शन संचेपः । माणभद्रकृत- टीकया सहितः । हरिभट्टमुरिकृतः । | १ |
| २८ | शुद्धद्वैतमार्तण्डः प्रकाशव्याख्यासहितः । प्रमेयरत्नार्णवश्च | १ |
| २९ | अनुमानचिन्तामणिव्याख्यायाः शिरोमणिंकृतदोधित्याजागदीशी टीका । | १३ |
| ३० | वीरमित्रोदयः । महामहोपाध्यायश्रीमित्रमिश्रविरचितः परिभाषा सस्कारप्रकाशात्मकः । | ९ |
| ३१ | वीरमित्रोदयः । महामहोपाध्यायश्रीमित्रमिश्रविरचितः आह्निकप्रकाशः | ५ |
| ३२ | स्मृतिसारोद्धारः विद्वद्भारविश्वम्भरत्रिपाठिसंकलितः । | ४ |
| ३३ | वेदान्तरत्नमञ्जूषा । श्रीभगवत्पुरुषोत्तमाचार्यकृता । | २ |
| ३४ | प्रस्थानरत्नाकरः । गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमजी महाराजविरचितः | २ |
| ३५ | वेदान्तपरिजातसौरभं नाम ब्रह्ममीमांसाभाष्यं श्रीनिम्बार्काचार्यविरचितम् । | १ |
| ३६ | योगदर्शनम् । परमहंसपरिव्राजकाचार्य-नारायणतीर्थविरचित-योगसिद्धान्तचन्द्रिका-समा- ख्यया संवलितम् । | २ |
| ३७ | वेदान्तदर्शनम् । परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीरामानन्दसरस्वती स्वामिकृत ब्रह्माऽमृतवर्षिणी समाख्य व्याख्यासंवलितम् । | ४ |
| ३८ | विश्वप्रकाशः । कोशः । विद्वद्भार श्रीमहेश्वरसुरिविरचितः । | २ |
| ३९ | श्रीसुबोधिनी । श्रीवलभाचार्यवेनिर्मिता । श्रीमद्भागवतव्याख्या गोस्वामीश्रीविठ्ठलनाथदीक्षि- तविरचित टिप्पणीसहिता । | २ |
| ४० | वीरमित्रोदयः । महामहोपाध्यायश्रीमित्रमिश्रविरचितः पुजाप्रकाशः । | ३ |
| ४१ | वेदान्तसिद्धान्तसंग्रहः । श्रुतिसिद्धान्तापरनामकः । श्रीब्रह्मचारिवनमालिमिश्रविरचितः । द्वैता- द्वैतदर्शनानुगतः । | १ |

पत्रादिप्रेषणस्थानम् }

हरिदास गुप्तः,
चौखम्बा, बनारस, सिटी.

THE

CHOWKHAMBÀ SANSKRIT SERIES;

A

COLLECTION OF RARE & EXTRAORDINARY SANSKRIT WORKS.

NO. 170.

वेदान्तसिद्धान्तसंग्रहः ।

श्रुतिसिद्धान्तापरनामकः ।

श्रीब्रह्मचारिवनमालिमिश्रविरचितः ।

द्वैताद्वैतदर्शनानुगतः ।

तद्दर्शनीयतात्पर्यकतत्कृतपद्यकदम्बव्याख्यानरूपः श्रीयुत-

कान्यकुब्ज कवीन्द्रवर-दुःखभञ्जनशर्मन्तनूजनुषा-

साहित्यसाङ्ख्योगाद्यनेकशास्त्रध्यापकेन-

देवीप्रसादशर्मकविना

संशोधितः ।

VEDÂNTASIDDHÂNTASANGRAHA,

WITH A COMMENTARY

BY

ŚRÎ BRAHMACHÂRI BANAMÂLI MÎSRA,

Edited by

Devi Prasada Sarma Kavi.

FASCICULUS II.

PUBLISHED AND SOLD BY THE SECRETARY

CHOWKHAMBÀ SANSKRIT BOOK-DEPOT.

BENARES.

AGENTS:- OTTO HARRASSOWITZ . LEIPZIG:

PANDITA JYESHTHÂRÂMA MUKUNDAJI BOMBAY:

PROBSTHAIN & CO., BOOKSELLERS, LONDON.

Printed by Jai Krishna Dasa Gupta,

AT THE VIDYÂ VILASA PRESS

BENARES.

Price Rupee one.

॥ श्रीः ॥

-*-

आनन्दवनविद्योतिसुमनोभिः सुसंस्कृता ॥

सुवर्णाऽङ्कितभव्याभशतपत्रपरिष्कृता ॥ १ ॥

चौखम्बा-संस्कृतग्रन्थमाला मञ्जुलदर्शना ॥

रसिकालिकुलं कुर्यादमन्दाऽऽमोदमोहितम् ॥ २ ॥

स्तवकः— १७०

- १ अस्यां चौखम्बा-संस्कृतग्रन्थमालायां प्रतिमासं पृष्ठशतके सुन्दरैः सीसकाक्षरैरुत्तमेषु पत्रेषु एकःस्तवको मुद्रयित्वा प्रकाश्यते । एकस्मिन् स्तवके एक एव ग्रन्थो मुद्र्यते ।
- २ प्राचीना दुर्लभाश्चामुद्रिता मीमांसावेदान्तादिदर्शनव्याकरण धर्मशास्त्रसाहित्यपुराणादिग्रन्था एवात्र सुपरिष्कृत्य मुद्र्यन्ते ।
- ३ काशिकराजकीयप्रधानसंस्कृतपाठशालाऽध्यापकाः पण्डिता अन्ये च शास्त्रदृष्टयो विद्वांस एतत्परिशोधनादिकार्यकारिणो भवन्ति ।
- ४ भारतवर्षीयैः, ब्रह्मदेशीयैः, सिंहलद्वीपवासिभिश्च एतद्ग्राहकैर्देयं वार्षिकमग्रिमं मूल्यम्-मुद्राः ७ आणकाः ८
- ५ अन्यैर्देयं प्रतिस्तवकम् " " १ " ०
- ६ प्रापणव्ययः पृथग् नास्ति ।
- ७ साम्प्रतं मुद्र्यमाणा ग्रन्थाः— मुद्रिताः स्तवकाः
- (१) संस्काररत्नमाला । गोपीनाथभट्टकृता (संस्कारः) २
- (२) शब्दकौस्तुभः । भट्टोजिदीक्षितकृतः (व्याकरणम्) १०
- (३) श्लोकवार्तिकम् । भट्टकुमारिलविरचितम् पार्थसारथिमिश्रकृत-न्यायरत्नाकराख्यया व्याख्यया सहितम् । सम्पूर्णम् । } १०
- (४) भाष्योपबृंहितं तत्त्वत्रयम् । विशिष्टाद्वैतदर्शनप्रकरणम् । श्रीमल्लोकाचार्यप्रणीतम् । श्रीनारायण तीर्थ विरचित भाट्टभाषा प्रकाशसहितम् । सं० } (वेदान्त) २
- (५) करणप्रकाशः । श्रीब्रह्मदेवविरचितः सम्पूर्णः (ज्योतिषः) १
- (६) भाट्टचिन्तामणिः । महामहोपाध्याय- श्रीगागाभट्ट विरचितः । तर्कपादः } (मीमांसा) २

द्वा एतस्मादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः तस्माद्वा एतस्मादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तस्माद्वा एतस्मादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय ” इत्युक्तमन्यत्वान्तरत्वादिकमेकस्मिन् स्वगतभेदहीने ब्रह्मणि कथं युज्येतेत्यत आह ।

अन्यत्वान्तरताद्यं हि कोशानां विद्यते ततः ।

तन्नियामकरूपाणां पञ्चानां व्यपादिश्यते ॥ ४२ ॥

अन्यत्वेति । अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया मे शुद्ध्यन्तामिति श्रुत्युक्तानां पञ्चानां कोशानामन्यत्वान्तरत्वात्तन्नियामकभगवद्रूपाणां तथा व्यवहारः यथा तैत्तिरीयोक्तान्नमयादीनां ब्रह्मशब्दसमभिव्याहारमुक्तप्राप्यत्वादिकमीश्वरलिङ्गमस्ति तथा श्रुत्यन्तरोक्तानां तेषां तन्नाऽस्ति प्रत्युत शुद्धिप्रार्थनारूपमनीश्वरलिङ्गमस्तीति ते कोशास्तन्नियामको हरिरप्येकरूपोऽचिन्त्यशक्त्या पञ्चधा व्यवहियते तत्राऽन्नमयः स्थूलदेहादिः प्राणमयः प्राणेन्द्रियादिः मनोमयः सङ्कल्पविकल्पादिवृत्तिविशिष्टं मनः विज्ञानमयोऽध्यवसायादिरूपवृत्तिविशिष्टा बुद्धिः आनन्दमयः सम्प्रज्ञातसमाधिस्थायिसुखैकवृत्त्युपेतं चित्तमिति विवेकः अनिरुद्धप्रद्युम्नसङ्कर्षणवासुदेवनारायणरूपैरन्नमयतयोच्यते ऽचिन्त्यशक्तिर्हरिरित्याकरे स्फुटम् ॥ ४२ ॥

उक्तार्थे भारतसंमतिमाह ।

अनिरुद्धादिमूर्त्तीनामभिन्नानां परस्परम् ।

परापरत्वमप्युक्तं यथैव प्रकृते भवेत् ॥ ४३ ॥

अनिरुद्धादीति । मुक्तिं गच्छन्तः सूर्यादूर्ध्वमनिरुद्धं प्राप्नुवन्ति ततः प्रद्युम्नं ततः सङ्कर्षणं ततो वासुदेवमित्यर्थकभारतवाक्यान्युदाहृतानि प्राक् । यथैकस्याऽनिरुद्धादिरूपेण परत्वादिकमचिन्त्यशक्त्या तथा प्रकृतेऽपीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

महायोगादिना सर्वे शब्दा वदन्ति माधवम् ।

मुख्यतोऽन्यपदार्थाश्च व्यवहर्त्तुममुख्यतः ॥ ४४ ॥

आ समन्तात्काशते प्रकाशतइत्याकाशो हरिः वशब्दो बलवाची आयुरिति ज्ञानम् अयतेर्गत्यर्थत्वाद्व्यर्थस्ते ज्ञानार्थाः वश्चाऽसावायुश्च

वायुर्वल्लभानरूपो हरिः न गच्छति स्वतो न प्रवर्त्तते इत्यगं विश्वं
 अगशब्दे कर्मण्युपपदे नयतेः किप् बहुलत्वात् नियोगे उपपदलोपः
 धातोश्च ह्रस्वता निर्वचनत्वात् अग्निः आप्रोतीत्यापः सर्वव्यापक इत्यर्थः
 बहुवचनम् अन्तर्यामित्वादिना बहुरूपाभिप्रायेण प्रथयति विस्तारय-
 तीति पृथिवी जठराग्निनोष्ठा दग्धा ओषाः कर्मणि घञन्तात् दधातीत्यो-
 षधीः भुक्तस्य परिणतस्य चाऽन्नस्य सर्वनाडीषु धारक इत्यर्थः अन्नपदं
 व्याख्यातं प्राक् पुरुषशब्दस्तु हरौ सुप्रसिद्ध एव । तस्माद्वा एतस्मादा-
 त्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी
 पृथिव्या ओषध्य ओषधीभ्योऽन्नमन्नात्पुरुष इति श्रुत्युक्ताकाशादिकं च-
 तुर्विधम् । तथाहि । भूतं भूताभिमानी तच्छरीरं तदन्तर्यामी चेति चतु-
 ष्यमाकाशपदवाच्यम् । एवं चतुर्विधादाकाशाच्चतुर्विधो वायुस्त-
 तश्चतुर्विधं तेजस्ततश्चतुर्विधं जलं ततश्चतुर्विधा पृथिवी ततश्चतु-
 र्विधा ओषधी ततश्चतुर्विधमन्नं ततः शरीरं तदभिमानी तदन्तर्यामी
 चेति त्रिविधः पुरुषः हरेः सर्वत्र कार्ये अन्तर्यामितयाऽऽविर्भाव एव न
 त्वन्येषामिवाऽवस्थान्तरप्राप्तिरूपा पराधीनविशेषावाप्तिरूपा चोत्पत्तिः
 निर्विकारत्वात्पूर्णत्वात्स्वतन्त्रत्वाच्च एवं ब्रह्मातिरिक्तजडानां स्व-
 रूपेणैवोत्पत्तिर्जीवानां देहलाभरूपोत्पत्तिर्लक्ष्म्यादीनां प्रकृत्याद्यभि-
 मानित्वादिरूपपराधीनविशेषावाप्तिरूपोत्पत्तिरिति हरिभिन्नस्य सर्व-
 स्य कार्यत्वात्तन्नियामकतयाऽऽविर्भूतो हरिरपि तत्तत्पदैर्वाच्य इति-
 सिद्धम् ॥ ४४ ॥

प्रसिद्धा अधिदेवादौ लोकादिन्द्रादयो रवाः ।

पौष्कल्यात्ते निमित्तानां मुख्यतो हरिवाचकाः ॥ ४५ ॥

इन्द्राद्यधिदेवतावाचकतया ये लोके प्रसिद्धाः शब्दास्ते मुख्यत-
 या हरिमेव वदन्ति प्रवृत्तिनिमित्तानां परमैश्वर्यादीनां तत्र पौष्कल्या
 त् । अल्पशाब्दबहुशब्दे विद्वच्छब्दस्य मण्डलाधिपात्सार्वभौमे भूपशब्दस्य
 मुख्यत्वं हि दृष्टम् ॥ ४५ ॥

अध्यात्मादिरवा विष्णुं मुख्यतः प्रवदन्ति हि ।

छन्दोवाचस्तथा प्राहुर्गायत्र्याद्या महेश्वरम् ॥ ४६ ॥

अध्यात्मादिशब्दाः प्राणादिषु लोकतः प्रसिद्धास्तेऽपि मुख्यतो वि-

ष्णुं वदन्ति प्रवृत्तिनिमित्तस्य तत्र पौष्कल्यात् । “प्राणस्य प्राणमुत च-
क्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमुत मनसो मन” इति श्रुत्या प्राणादीनां प्रा-
णदत्वादेर्हरावेवोक्तेः गायत्री वा इदं सर्वमित्यादिशब्दाल्लोकतद्व-
न्दसि प्रसिद्धाः मुख्यतया हरिं वदन्ति गानत्राणकर्तृत्वस्य प्रवृत्तिनि-
मित्तस्य तत्रैवोपदेष्टरि पालके च मुख्यत्वात् गायति त्रायते चेति
श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशादित्याद्यधिकरणेन प्रतिपाद्यं सर्वव्यापकं ह-
रिमाह ।

सर्वत्र प्रथितो विष्णुर्वेदान्तेष्वितिहासके ।

पुराणादौ तथोदितः सर्वव्यापक ईश्वरः ॥ ४७ ॥

सर्वत्रेति । “तदेव ब्रह्म परमं कवीनामि” ति श्रुतेः ।

परं ब्रह्म परं धाम प्रवित्रं परमं भवानितीतिहासाच्च ॥

यन्न देवा न मुनयो न चाऽहं न च शङ्करः ।

जानन्ति देवदेवस्य तद्विष्णोः परमं पद—

मिति पुराणाच्च ॥ ४७ ॥

एतं बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महा-
व्रते छान्दोगा एतमप्स्वेतं दिव्येतं वायावेतमाकाश एतमोषधीष्वेतं-
वनस्पतिष्वेतञ्चन्द्रमस्येतं नक्षत्रेष्वेतं सर्वेषु भूतेष्वेतमेव ब्रह्मेत्याचक्ष-
त इत्यैतरेयश्रुत्युक्तं सर्वव्यापकं हरिमाह ।

मीमांसन्ते सदोक्थेष्वेतं बह्वृचाश्च याजुषाः ।

अग्नौ वै सामगा एतं दिवि वायौ तथा हरिम् ॥ ४८ ॥

मीमांसत इति । बह्वृचा ऋग्वेदिनः याजुषा यजुर्वेदिनः उक्था-
दिषु मीमांसन्ते विचारयन्ति ॥ ४८ ॥

तस्य सर्वव्याप्तिमाह ।

आकाशे चैतमोषध्यां हि वनस्पतिचन्द्रयोः ।

नक्षत्रेषु तथैतं हि सर्वभूतेषु सर्वदा ॥ ४९ ॥

आकाशइति । सर्वभूतेष्वेतं व्यापकतयान्तऽर्यामितया च वर्त-
मानं ब्रह्मेत्याचक्षत इत्यर्थः ।

सर्वस्य चाऽहं हृदि सन्निविष्टः ।

सर्वभूतस्थितं यो मामित्यादि—

स्मृतेश्च ॥ ४९ ॥

“स योऽतोऽश्रुतोऽगतोऽमतोऽदृष्टोऽविज्ञातोऽनादिष्टः श्रोता द्रष्टा घोषा विज्ञाता प्रज्ञाताऽऽत्मा सर्वेषां भूतानामन्तरः पुरुष” इत्यादि-
श्रुतिप्रतिपाद्यमश्रुतत्वानन्तगुणालयं हरिस्वरूपमाह ।

अश्रुतत्वादिकैर्धर्मैः सर्वद्रष्टृत्वमुख्यकैः ।

सर्वान्तर्गतताद्यैश्च युक्तो जीवेतरो हरिः ॥ ५० ॥

अश्रुतत्वादिकैरिति । जीवादिष्वसंभावितैः साकल्येनाऽश्रुतत्वावि-
ज्ञातत्वाद्यैः सर्वभूतान्तःस्थत्वाद्यैश्च धर्मैर्युक्तो हरिर्जीवादितरो भिन्नो
यस्मात्स एवभूतो मुमुक्षुज्ञेयः ॥ ५० ॥

हरेः सर्वव्यापकतायां स्मृतिमप्युदाहरति ।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ॥ ५१ ॥

अहमिति ॥ ५१ ॥

“य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यस्मश्रुर्हिरण्यके
शस्तस्य पुण्डरीकमेवाऽक्षिणी यथा कप्यासं य एषोऽन्तराक्षिणि पुरुषो
दृश्यते एष आत्मेति होवाचैतदमृतमयमेतद्ब्रह्मेत्यादि” श्रुतिं संगृह्णाति

आदित्यादौ सदा विष्णुर्दृश्यते गुणसागरः ।

प्रकाशात्मककेशादिः प्राकृतास्पृष्टविग्रहः ॥ ५२ ॥

आदित्येति । आदित्यादिषु वर्त्तमानस्तत्प्रसादयुतैर्दृश्यते ।

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती ।

नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टः ।

केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटीति—

स्मृत्या पुण्डरीकाक्षसमाख्ययाऽऽदित्यस्थस्य विष्णुत्वनिर्णयः कञ्ज-
लम्पिवतीति कपिः नालन्तदेवाऽऽसनं यस्य तत्कप्यासञ्जलनाले विद्य-
मानं ततो विच्छिन्नं प्रफुल्लं पुण्डरीकं रक्ताम्भोजं यथा तद्ब्रह्माक्षिणी यस्य
हिरण्यवत् स्पृहणीयाः केशादयः यस्य नतु प्राकृततैजसाः तमसः पर-

स्तादिति तमःशब्दवाच्यप्रकृतेः सदा परत्वोक्तेः ।

सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः ।

समस्तहेयरहितं विष्णवाख्यं परमं पद मित्यादि-

स्मृतेश्चेत्याह । प्राकृतैः सदाऽस्पृष्टो विग्रहो यस्य सः ॥ ५२ ॥

अन्तर्यामिब्राह्मणार्थमाह ।

अन्तर्यामिगिरो विष्णुं जडजीवविलक्षणम् ।

तन्नियन्तृत्वतश्चाऽऽहुस्तदज्ञेयत्वतस्तथा ॥ ५३ ॥

अन्तर्यामीति । यः “पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽऽत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्याऽऽत्मा शरीरं”मित्यन्तर्यामिब्राह्मणेन जडजीवनि-
यामकतया तदज्ञेयतया च ततोऽत्यन्तविलक्षणः सर्वोत्तमः सर्वान्त-
र्यामी मुमुक्षुज्ञेयो हरिः प्रतिपादितः ॥ ५३ ॥

“अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते यत्तददेश्यमग्राह्यमगोत्रमव-
र्णमचक्षुश्श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सूक्ष्मं तदव्ययं यद्-
भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णीते च यथा पृथि-
व्यामोषधयः सम्भवन्ति यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरा-
त्सम्भवतीह विश्वः”मिति श्रुतिं व्याख्याति ।

अदृश्यत्वं हि साकल्यादवर्णत्वमनेत्रता ।

अपाणिपादता विष्णोः प्राकृतांशविवर्जनात् ॥ ५४ ॥

अदृश्यत्वमिति । यथा श्रुतादृश्यत्वे परिपश्यन्तीति विरोधः स्यात् ।
अपाणिपादस्याऽशरीरस्योर्णनाभिवत्सर्जनानुपपत्तिश्च । अतः प्राकृत-
नामरूपादिरहितोऽप्राकृतानन्तगुणो हरिः सिद्धः ॥ ५४ ॥

महातात्पर्यतो विष्णुर्यदा वेदेन बोध्यते ।

तदा विद्या परा सा स्यादपरा त्वन्यबोधने ॥ ५५ ॥

यदा समस्तो वेदो मुख्यतात्पर्यतो विष्णुं बोधयति तदा तस्यैव
परविद्यात्वं यदा तु तदन्यकर्मादिकं बोधयति तदा तस्यैवाऽपरावि-

द्यात्वं विषयपरत्वापरत्वाभ्यामेवैकस्यैव वेदस्य परविद्यात्वापरविद्यात्वे
स्यातां न तु ग्रन्थभेदेन ॥ ५५ ॥

शुभ्वाद्याधिकरणार्थमाह—

द्युभ्याद्यायतनो विष्णुर्मुक्तप्राप्योऽखिलेश्वरः ।

जीवादिभ्यः सदा भिन्नः सत्यानन्तगुणालयः ॥ ५६ ॥

द्युभ्वेति । “अमृतस्यैव सेतुः ब्रह्मविदाप्नोति परं एतमानन्दम-
यमात्मानमुपसंक्रामतीत्यादि” श्रुतिभिः “मुक्तोपख्यव्यपदेशादिति”
सूत्रेण च

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ॥

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।

ततस्त्रैगुण्यहीनास्ते परमात्मानमञ्जसा ॥

समाहितमनस्काश्च नियताः संयतेन्द्रियाः ।

एकान्तभावोपगता वासुदेवं विशन्ति ते-

इत्यादिस्मृतिभिश्च विष्णोर्मुक्तप्राप्यत्वमुक्तम् ॥ ५६ ॥

विष्णोर्विश्वायतनत्वे स्मृतिमुदाहरति—

यत्रौतमेतत्प्रोतश्च विश्वमक्षरसंज्ञके ।

आधारः सर्वभूतानां स प्रसीदतु मे हरिः ॥ ५७ ॥

यत्रेति । यथा कन्थोतप्रोतसूत्रैर्धियते तथा हरिणेदं विश्वं धृत-
मित्यर्थः ॥ ५७ ॥

यस्मिन्नित्ये ततेऽनन्ते दृढे स्रगिव तिष्ठति ।

सदसद्ग्रथितं विश्वं विश्वाङ्गे विश्वकर्मणि ॥ ५८ ॥

ततो व्याप्ते अनन्ते देशकालगुणापरिच्छिन्ने दृढे अचिन्त्यानन्त-
शक्तिमति विश्वमङ्गे एकदेशे यस्य विश्वव्याप्तं कर्म यस्य विश्वेषां
सर्वेषां कर्म चेष्टा यत्रेति वा ॥ ५८ ॥

यस्मिन् भूतानि विश्वानि तिष्ठन्ति च विशन्ति च ।

गुणभूतानि भूतेशे सूत्रे मणिगणा इव ॥ ५९ ॥

प्रलये मुक्तौ विशन्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या ।

चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ ६० ॥

चतुर्विधं जरायुजस्वेदजाण्डजोद्भिज्जरूपम् ॥ ६० ॥

ननु रुद्रो लोकाधारः प्राणानां ग्रन्थिरसि रुद्र इत्यादिना रुद्रादे-
रपि विश्वाधारत्वोक्तेः कथं विष्णोरेव तदित्याद्याशङ्का श्रुत्यर्थनिर्णा-
यकैर्भारतादिवाक्यैः परिहृताऽपि ब्रह्माण्डपुराणीयनिरुक्त्या परि-
हरति—

रुजं द्रावयते यस्माद्बुद्रस्तस्माज्जर्नादन ।

ईशनादेव चेशानो महादेवो महत्त्वतः ॥ ६१ ॥

रुजमित्यादिना । रुजमाश्रितानां व्यथाम् ॥ ६१ ॥

पिबन्ति ये नरा नाकं मुक्ताः संसारसागरात् ।

तदाधारो यतो विष्णुः पिनाकीति ततः स्मृतः ॥ ६२ ॥

नाकं दुःखासम्भिन्नसुखं ये मुक्ताः पिबन्ति ते विद्यन्ते यस्मिन्स
मुक्तानामाधारः ॥ ६२ ॥

शिवः सुखात्मकत्वेन शर्वः शंरोधनाद्धरिः ।

कुर्यात्मकमिदं देहं यतो वस्ते प्रवर्त्तयन् ॥ ६३ ॥

शंरोधनाद्वैत्यादीनां सुखस्य विघटनादित्यर्थः देहं जीवानामिति-
शेषः कृत्तिवासास्तत इत्युत्तरेणाऽन्वयः ॥ ६३ ॥

कृत्तिवासास्ततो देवो विरिञ्चश्च विरेचनात् ।

वृहद्गुणत्वाद्ब्रह्माऽसावैश्वर्यादिन्द्र इत्यपि ॥ ६४ ॥

एवं नानाविधैः शब्दैरेक एव त्रिविक्रमः ।

वेदेषु च पुराणेषु गीयते पुरुषोत्तमः ॥ ६५ ॥

विरेचनात्प्रवर्त्तनात् ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ-
नाऽन्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नाऽन्यदतोऽस्ति श्रोतृ नाऽन्यदतोऽस्ति मन्त्र

नान्यदतो विज्ञात्रेतस्मिन् खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेत्यादि”
श्रुत्यर्थमाह—

साकल्येन हरिर्द्रष्टा नान्यस्तथाविधोऽपरः ।

अदृश्योऽपि प्रमाणैः स साकल्येन जनार्दनः ॥ ६६ ॥

साकल्य इति । सर्वेषां वस्तूनां साकल्येन सर्वप्रकारेण द्रष्टा हरिरेव
ततोऽन्यत्तादृशं द्रष्टादिकं नास्तीति तत्तुल्यद्रष्टादीनामेव निषेधो न तु
द्रष्टादिमात्रस्य “यदापश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं ब्रह्मयोनिं
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति” । “ब्रह्मविदा-
प्नोति परमित्यादि” श्रुतिभिः

पश्य मे पार्थ रूपाणि—

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन—

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वे—

त्यादिस्मृतिभिश्च विरोधापत्तेः अत एवाऽदृष्टत्वमपि तस्य
साकल्येनैव अन्यथा “दृश्यते त्वग्रया बुद्धे ” त्यादिश्रुतिविरोधा-
पत्तेः ॥ ६६ ॥

दहराधिकरणार्थमाह—

दहरे हृदयाकाशे वर्त्तते विश्वसंश्रयः ।

मुमुक्षूपास्यपादाब्जः सत्यसङ्कल्प ईश्वरः ॥ ६७ ॥

दहर इति । सूक्ष्मे एतस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेदम दहरोऽ-
स्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् “यदन्तस्तदन्वेष्टव्यन्तद्वा व विजिज्ञासितव्य-
मिति तं चेत्त्रयुः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वा व विजिज्ञासितव्य-
मिति सब्रूयाद्यावानयमाकाशस्तावानेपोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मि-
न्धावापृथिवी अन्तरे च समाहिते उभावग्निश्चवायुश्चाऽयमात्माऽपह-
तपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः
सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य” इति श्रुतेः यो भगवानन्वे-
व्यस्तस्याऽन्तर्हृदये यावान्वाऽयमाकाशस्तावानाकाशस्तस्मिन्धावा-
पृथिवी अन्तरे च समाहिते स च भगवानपहतपाप्मेत्यन्वयः अयं
भावः शरीरपुण्डरीकयोः ब्रह्म प्रति पुरत्ववेदमत्वोक्तौवाऽन्वेष्टव्यस्य ब्र-
ह्मत्वसिद्धेः तस्मिन्यदन्तरित्यत्र हृत्पद्मस्थाकाशगतं ब्रह्माऽन्वेष्टव्यमि-

त्युक्ते किं तदित्यत्र तद्ब्रह्म किं प्रकारकमिति पृष्टे यावानिति परिहा-
रवाक्ये यद्ब्रह्माऽन्वेष्टव्यतयोक्तं तस्याऽन्तर्हृदये यावानेष आकाशस्ता-
वान् सर्वो विद्यते द्यावापृथिव्यादिकं चाऽस्मिन्समाहितमिति ब्रह्मण
आकाशादिसर्वाश्रयत्वापहतपाप्मत्वादिप्रकार उक्तः “ य एषोऽन्त
हृदये आकाशस्तस्मिन् शोते सर्वस्य वशी एष सर्वेश्वर एष भूताधिप-
तिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय इति” श्रुत्या
हृत्पद्मस्थस्येश्वरत्वमुक्तम् ।

सर्वस्य चाहं हृदिसनिविष्टः ।

अहमात्मागुडाकेश सर्वभूताशयस्थित-

इति स्मृत्या च तस्य विष्णुत्वनिर्णयः ॥ ६७ ॥

“ सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती”त्यागमोक्त सर्वशब्दवाच्यत्वेन हरे-
र्गुणानन्त्यं सिद्ध्यतीत्याशयेनाऽऽह--

आकाशादिपृथिव्यन्तकार्येष्वविर्भवन् विभुः ।

तत्तच्छब्दाभिधेयः स्यान्न तु सर्वस्वरूपतः ॥ ६८ ॥

आकाशादीति। आकाशादिकार्येषु तन्नियामकरूपैराविर्भवन्नाका-
शादिपदवाच्यो भवति नत्वाकाशादिस्वरूपत्वात्तत्पदवाच्यो जड-
त्वाद्यापत्तेः ॥ ६८ ॥

न केवलं जडनियामकतया तत्पदवाच्यो हरिरपि तु चेतननिया-
मकतया तत्तत्पदवाच्यो भवतीत्याह--

रुद्रेन्द्रादिपदार्थोऽपि भवेत्ततो हरिः सदा ।

सर्वशब्दाभिधेयोऽपि सर्वनियामकत्वतः ॥ ६९ ॥

रुद्रेति । ततो रुद्रादिनियामकत्वाद्गुद्रादिपदवाच्यो हरिः सर्वनि-
यामकत्वात्सर्वशब्दवाच्यः ॥ ६९ ॥

यत्प्रवृत्तिनिमित्तं यदधीनं स तत्पदवाच्य इत्यर्थं सदृष्टान्तमुप-
पादयति

सैन्यकेषु जये जाते राजा जयीति भण्यते ।

निमित्ततादधीन्यं हि शब्दवृत्तिप्रयोजकम् ॥ ७० ॥

सैन्यकेष्विति । प्रवृत्तिनिमित्तस्य जयस्य राजाधीनत्वात्

राजा जयीति लोके व्यवहियतेऽतो निमित्तस्य तादर्थीन्यमपि शब्दप्र-
योजकम् ॥ ७० ॥

रुढियोगो महायोगो विद्वद्रूढिस्तथा क्वचित् ।

निमित्तं सवशब्दानां समन्वये हरौ स्फुटं ॥ ७१ ॥

रुढिरन्यत्र रुद्रादिशब्दानां हरौ रुद्रो बहुशिरा वभ्रुरित्यादि वि-
द्वद्रूढिः अन्यत्र योगो हरौ महायोगः प्रवृत्तिनिमित्तस्य पौष्कल्यात्
केषां चिन्नारायणविष्णुमुकुन्दादिशब्दानां हरावेव योगो रुढिश्च ॥ ७१ ॥

ननु शत्रुमारके बन्धके च राज्ञि राजा मृतो वद्ध इति प्रयोगाप-
त्तिः तत्पदप्रवृत्तिनिमित्तस्य शत्रुमरणबन्धनादे राजाधीनत्वात्तत्राऽऽह-

दृष्ट्वा वृत्तिं हि शब्दानां निमित्तकूल्यते तथा ।

नाऽतो हि मारके राज्ञि मृतादिशब्दसञ्जनम् ॥ ७२ ॥

दृष्टेति तत्गतत्वयोग्यत्वे सति यदोपत्वं तद्रहितं प्रति स्वातन्त्र्यं
शब्दप्रवृत्तौ निमित्तं कार्यवलेन तथा कल्पनात् एवं च जयादेर्व-
न्धनादेश्च राजगतत्वयोग्यत्वेऽपि जयादेर्दोषत्वरहित्यात्तत्प्रति स्वात-
न्त्र्यं राज्ञि जयिशब्दस्य प्रवृत्तौ निमित्तं बन्धनादेस्तु दोषत्वान्नतत्प्र-
ति तन्निमित्तं हराविन्द्रादिशब्दानिमित्तैश्वर्यादेः स्वगतत्वयोग्यत्वेऽपि
दोषत्वरहित्यात् बन्धनादेर्दोषत्वेऽपीश्वरगतत्वयोग्यत्वरहित्यादुभयं
प्रति स्वातन्त्र्यमीश्वरे रुद्रेन्द्रवद्धमृतादिशब्दानां प्रवृत्तौ निमित्तं यद्वा
सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति

नामानि सर्वाणि यमाविशान्ति ।

सर्वान्तर्यामिणि हरावस्मच्छब्दविभक्तयः ॥

युष्मच्छब्दगताश्चैव सर्वास्तच्छब्दगा अपि ॥

सर्वगाश्चैव वचनान्यखिलान्यपि स्वातन्त्र्यात्संप्रवर्तन्त इत्यादि-
श्रुतेः

सर्वस्य तदधीनत्वात्सर्वशब्दाभिधेयता ।

“वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य” इत्यादि स्मृतेश्च स्वातन्त्र्यमात्रं प्रवृत्तिनि-
मित्तम् । ब्रह्मान्यत्र शब्दप्रवृत्तौ क्वचित्तद्रतत्वं क्वचित्स्वातन्त्र्यं क्वचि-
दुभयं दण्डीत्यादौ तद्रतत्वमेव धनीत्यादौ स्वातन्त्र्यमेवाऽतो न
दण्डाद्यनाश्रये तत्स्वामिनि दण्डीति धनवाहके तदस्वामिनिधनीति

च प्रयोगः जायते शब्दस्य चोभयं निमित्तं राज्ञि सैन्यकेषु जयिशब्द-
प्रयोगात् । दुःखिमृतवद्धशब्दानां तद्वतत्वमेव निमित्तं ब्रह्मणि तु
स्वातन्त्र्यं सर्वशब्दानां प्रवृत्तौ निमित्तं “स वद्धः स दुःखी स बन्धय-
ति स दुःखयतीत्यादि” श्रुतेः नचैकशब्दस्यैकत्रैकं निमित्तं चेदन्यत्राऽ
पि तथेति नियमः एकस्यैव धनवच्छब्दस्य धनवत् गृहामित्यादावा-
श्रयत्वनिमित्तकत्वेऽपि धनवान्पुरुष इत्यादौ स्वामित्वनिमित्तकत्वा-
त् । किञ्च यथा मृत्तिकादौ द्रव्यत्वसामान्ये द्वेषादौ च गुणत्वसा-
मान्ये सत्यपि सुवर्णादाविव ज्ञानादाविव द्रव्यमिति गुण इति च न
प्रयोगः यथा च धेनुशब्दनिमित्तस्य धेटइच्चेति व्याकरणोक्तस्य धा-
नकर्मत्वस्य महिष्यादौ सत्त्वेऽपि तत्र तदप्रयोगः यथा च निमित्ते स-
त्यपि कुलाले कुम्भकारशब्दस्येवोदञ्चनकारादिशब्दानामप्रयोगः
यथा च पङ्कजादिशब्दानां यौगिकत्वपक्षे योगरूढत्वपक्षे च कुमुदादौ
योगस्य सत्त्वेऽपि तदप्रयोगः यथा च घटपटसंयोगस्यैकत्वेन घटेऽपि
घटसंयोगसत्त्वेऽपि घटसंयुक्तशब्दाप्रयोगस्तथा राज्ञि सत्यपि निमित्ते
मृतवद्धादिशब्दाप्रयोगः नच विदुषां मृत्तिकादौ द्रव्यादिशब्दप्रयोगो
भवतीति वाच्यं राजादावपि विदुषां वद्धादिशब्दाप्रयोगे क्षतेरभावात्।

यदधीनो गुणो यस्य तद्गुणी सोऽभिधीयत—

इत्यादिस्मृतेः ॥ ७२ ॥

संगृह्याऽऽह—

दुःखादेर्जीविगतस्याऽपि स्वाधीनत्वेन हेतुना ।

दुःखीति गीयते ब्रह्म धनस्वामी धनी यथा ॥ ७३ ॥

दुःखादेरिति । नचैवं सर्वशब्दानां स्वतन्त्र्याश्रयत्वयो-
प्रवृत्तिनिमित्तयोर्भेदान्नानार्थकत्वापत्तिः स्वातन्त्र्याश्रयत्वयोः सं-
बन्धयोर्भेदेऽपि निमित्तस्य दुःखबन्धावरत्वादेरेकत्वात्तदाश्रितेऽपि
स्वाधीनत्वस्याऽनुगतत्वाच्चाऽनानार्थकत्वोपपत्तेः न हि नानार्थेष्वक्षादि
शब्देष्वेकं प्रवृत्तिनिमित्तम् एवं च रूढस्य वा यौगिकस्य वा यस्य श-
ब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् आश्रितत्वेन वा यथेष्टविनियोकतृत्वरूपस्वात-
न्त्र्यविषयत्वेन वा यदधीनं स तस्य वाचकः तत्राऽपि तन्त्रं प्रत्यधी-
नत्वस्य मुख्यत्वात्तद्वाचिता मुख्या । एवं दुःखिवद्धादिशब्दानां स्वा-
तन्त्र्यादेव प्रवृत्तिः अव्यक्तादिशब्दानां त्वाश्रयत्वादपि तन्निमित्ताव्य-

कत्वस्य परमसूक्ष्मब्रह्मण्येव मुख्यत्वात् न च निमित्ताधिक्यात् न मुख्यत्वम् अतिसहनवति पुंसि सिंहशब्दस्याऽल्पपङ्कजादप्यधिकपङ्कजे पक्षे पङ्कजशब्दस्य च मुख्यत्वप्रसङ्गादिति वाच्यम् । तत्र सिंहत्वजातेः पद्मत्वजातेश्च निमित्तत्वेन विवक्षित्वात् तयोश्च तत्राऽतिशयाभावात् । अल्पज्ञादपि बहुज्ञे विद्वच्छब्दस्य मण्डलाधिपादपि सार्वभौमे भूपशब्दस्य मुख्यत्वदर्शनाच्च ॥ ७३ ॥

“सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादिश्रुत्यर्थमाह--

सर्वं खल्विदामित्याद्याः श्रुतयः प्रवदन्ति हि ।

सर्वव्याप्तिनियन्तृत्वेनतुजडादिरूपताम् ॥ ७४ ॥

सर्वमिति । “सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वं” इति स्मृत्या सर्वात्मताबोधकश्रुतिः सर्वव्यापकत्वपरतया व्याख्याता । नियामकत्वे तु राजा जयीत्याद्युक्तेः ॥ ७४ ॥

ननु तत्त्वमसौत्याद्याः श्रुतयो जीवेशाऽभेदं वदन्तीति कथं जीवाभिन्नस्य सर्वनियामकत्वादिकं तत्राऽऽह--

ईशाभेदगिरो जीवे तदधीनत्वतः कचित् ।

तदाधारत्वतो वा स्युर्न जीवाऽभेदतो विभोः ॥ ७५ ॥

धान्यमसि धिनुहि देवानित्यत्र सतुषट्द्रव्यधान्याधीनतण्डुले वि-
तुषे धान्यशब्दप्रयोगो यथा ब्राह्मणो वै सर्वा देवता इत्यत्र सर्वदेव-
ताधारे ब्राह्मणे देवताशब्दप्रयोगो यथा तद्वत् ॥ ७५ ॥

ननु सृष्ट्यादौ प्रधानादिसापेक्षत्वेन स्वातन्त्र्यहानिः स्यात्तत्राऽऽह

स्वतन्त्रोऽचिन्त्यशक्तिर्हि कर्तुं चाऽकर्तुमन्यथा ।

कर्तुं शक्तोऽपि सृष्ट्यादौ यत्सहायमपेक्षते ॥ ७६ ॥

स्वतन्त्र इति ॥ ७६ ॥

तत्तत्तस्य सहायः स्यात् सर्वशक्तिप्रदस्य हि ।

लीला ह्येव परेशस्य स्वेच्छया क्रीडतो विभोः ॥ ७७ ॥

तत्प्रधानादिकं तस्य सहायो न किन्तु तदपेक्षणं विभोर्ली-
लैव ॥ ७७ ॥

सदृष्टान्तमुपपादयति—

स्वयं गन्तुं समर्थस्य यष्ट्यादानं कचिद्यथा ।

लीलयैव तथा विष्णोःप्रधानादेरपेक्षणम् ॥ ७८ ॥

स्वयमिति ॥ ७८ ॥

यथा राजत्वं प्रजापेक्षं पितृगुरुत्वादिकं पुत्रशिष्यादिसापेक्षं तथे-
श्वरत्वं नियम्यप्रधानाद्यपेक्षमिति तदपेक्षणं सार्थकमित्याशयेनाऽऽह—

प्रधानादिनियन्तृत्वात्सिद्ध्यतीश्वरताऽधिका ।

न हि सेनां विना राजा पिताऽपत्यं विना कचित् ॥ ७९ ॥

प्रधानादीति ॥ ७९ ॥

ननु विषमप्रजास्त्रष्टृत्वेन वैषम्यं स्यादीशस्य तत्राऽऽह—

विषमोत्पादनान्नेशे वैषम्यं सज्यते कचित् ।

यतः सोऽपेक्षतेऽदृष्टं जीवानां सर्जने विभुः ॥ ८० ॥

“वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वादिति” सूत्रात् । “पुण्येन पुण्यं लोकं-
जयती” त्यादिश्रुतेः स ईशः विषमविश्वसर्जने जीवानामदृष्टमपे-
क्षते ॥ ८० ॥

नन्वेवं कर्मणां स्वातन्त्र्यं स्यात्तत्राऽऽह—

विषमाण्यप्यदृष्टानि तेन वै कारितानि हि ।

नो चेत्स्वातन्त्र्यमागच्छेज्जीवाऽदृष्टे हि सर्वथा ॥ ८१ ॥

विषमाणीति । विषमादृष्टान्यपीशाधीनान्येव “स एव साधुकर्म
कारयति स एवाऽसाधुकर्म कारयतीत्यादि” श्रुतेः नो चेत् कर्मण
ईशानधीनत्वाङ्गीकारे ॥ ८१ ॥

नन्वेवं विषमकर्मकारित्वाद्वैषम्यतादवस्थं तत्राऽऽह—

कर्म कारितमीशेन यत्तत्प्राचीनकर्मणाम् ।

अनादीनां प्रवाहेण स्वार्थानानामपेक्षया ॥ ८२ ॥

कमेति । ईश्वरेण यत्कर्म कारितं तत्तत्प्रवाहानादिस्वाधीनपूर्वक-
र्मापेक्षयैव ॥ ८२ ॥

नन्वाप्तकामस्य कथं स्रष्टृत्वं न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्र-
वर्तते तत्राऽऽह—

तस्य सृष्ट्यादिकर्तृत्वं लीलैव स्याच्छिशोर्यथा ।

आनन्दोद्रेकतश्चेष्टा न प्रयोजनवाञ्छया ॥ ८३ ॥

तस्येति। यथा शिशोः क्रोडा प्रयोजनेच्छां विनैव तथेशस्य विश्वोदया-
दिकर्तृत्वं प्रयोजनेच्छां विनैव केवलानन्दोद्रेकादेवाकोह्येवाऽन्यात्कः प्रा-
प्याद्यदेव आकाश आनन्दो न स्यादिति श्रुतेः चतुर्विधा हि प्रवृत्तिः
सुखरागाद् दुःखद्वेषात् दुःखोद्रेकात्सुखोद्रेकाच्च आद्या भोजनादावस्म-
दादीनां द्वितीया कण्टकापसारणादौ तृतीया नारकिकानां चतुर्थी वा-
लोन्मत्तादीनां तिसृणां हरौ बाधाच्चतुर्थ्येव भवेत् ॥ ८३ ॥

कृपया वा भवेत्तस्य प्रवृत्तिर्विश्वसर्जने ।

दातुम्भोगं विमोक्षश्च जीवेभ्यः करुणानिधेः ॥ ८४ ॥

संसारयोग्येभ्यः प्रलये लीनेभ्यो जीवेभ्यो धर्माधर्मफलभोगं मु-
क्त्याधिकारिभ्यो विमोक्षं च दातुं करुणानिधेः विश्वसर्जने प्रवृत्तिः स्फु-
टा हि जीवन्मुक्तानां शुकादीनां करुणयोपदेशादौ प्रवृत्तिः ॥ ८४ ॥

ननु कारुणिकश्चेत्कथं कांश्चिज्जीवान् दुःखं प्रापयति तत्राऽऽह—

परार्थास्तस्य सर्वेहाः पूर्णकामस्य सर्वदा ।

जीवादृष्टस्य तत्राऽपि सहकारित्वमिष्यते ॥ ८५ ॥

परार्थेति। यस्य यादृशी योग्यता तादृशं तस्मै फलं प्रयच्छन्नह-
कारुणिको भवति ॥ ८५ ॥

नन्वग्न्यादिशब्दानां सर्वेषां विष्णुवाचकत्वे अन्यव्यवहारविलोपः
स्यात्तत्राऽऽह—

ज्ञानिनो व्यवहारायाऽज्ञानादन्ये जना गिराम् ।

ब्रह्माऽन्यत्र सदा लोके प्रयोगं कुर्वते स्फुटम् ॥ ८६ ॥

ज्ञानिन इति । विद्वद्बुद्धिमहायोगादिना सर्वशब्दानां हरौ समन्व-
येऽपि केवलरुद्धियोगादिना ब्रह्मान्यत्राऽपि ज्ञानिनोऽग्न्यादिशब्दान्

व्यवहारसिद्धये प्रयुज्यते । अज्ञानिनस्तु हरिपरत्वाज्ञानादेवाऽन्यत्र प्रयुज्यत इति न व्यवहारविलोपः ॥ ८६ ॥

नन्वीश्वर एकमेवाऽद्वितीयमिति श्रुतिसिद्ध एक इति कथन्तस्य-
रामकृष्णादिनाऽनेकत्वं तत्राऽऽह--

एकोऽप्यनेकः सुधियाम्प्रकाशते ।

नाऽस्त्येकता तस्य विरोधिनी विभोः ।

स्वानेकतायाः श्रुतिगौरवात्कचित् ।

नैश्वर्यतस्तत्र विरोधचिन्तनम् ॥ ८७ ॥

एक इति । एकोऽप्यचिन्त्यशक्त्याऽनेकः सुधियां तदनुगृहीतानां प्रकाशते तस्यैकता स्वानेकताया विरोधिनी न श्रुतिगौरवात् प्रमाण-
सिद्धत्वादित्यर्थः तदचिन्त्यैश्वर्यात्तत्र विरोधचिन्तनं सुधियां न भवति ॥ ८७ ॥

एतदेव स्पष्टयति--

विरुद्धा लोकतो धर्मा अन्योन्यं ये निसर्गतः ।

नैश्वर्येण विरुद्धास्ते तिष्ठन्ति हि हरौ सदा ॥ ८८ ॥

विरुद्धा इति । ये धर्मा लोकेऽन्योन्यं स्वभावतो विरुद्धा ऐश्वर्येण सहाऽविरुद्धाश्च भवन्ति ते हरौ सदा तिष्ठन्ति ॥ ८८ ॥

विरुद्धानेव गुणानाह--

अणुत्वव्यापकत्वाद्येकानेकत्वादिका गुणाः ।

उदासीनत्वकर्तृत्वे भोक्तृत्वाभोक्तृते तथा ॥ ८९ ॥

अण्विति ॥ ८९ ॥

नन्वेवं दुःखित्वसर्वज्ञत्वासर्वज्ञतादीनां लोके विरुद्धानां हरौ स-
मावेशः स्यात्तत्राऽऽह--

ये चैश्वर्यं विरुन्धन्ति दुःखाज्ञत्वादिका अघाः ।

न स्पृशन्ति कदाचित्तं सदा निर्दोषरूपिणम् ॥ ९० ॥

य इति । ऐश्वर्यविरोधिना दुःखित्वादयो न सन्ति तत्र नित्यनि-
र्दोषत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधापत्तेः ॥ ९० ॥

ननु जीववत्तस्याऽपि दोषित्वं स्यात्तत्राऽऽह—

प्रेक्षावन्तं स्वतन्त्रं हि सर्वसामर्थ्यवृंहितम् ।

सर्वभावनियन्तारं दोषगन्धः कथं स्पृशेत् ॥ ९१ ॥

प्रेक्षावन्तमिति । न हि सर्वसामर्थ्ययुक्तः प्रेक्षावान् अवयवगुणो
दृष्टः ॥ ९१ ॥

तस्याऽचिन्त्यैश्वर्यमाह—

देशाच्च कालाद् गुणतोऽप्यनन्तो-

नित्यान्यनेकानि वपूंषि धत्ते ।

व्योमस्वभावो नितरामसङ्गो-

भक्तानुकम्पी सुरवृक्षशीलः ॥ ९२ ॥

देशादिति । देशापरिच्छिन्नत्वं सर्वदेशनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियो-
गित्वम् । रामकृष्णादिमूर्त्तिः सदा धत्ते । आकाशवदसङ्ग उदासीनो-
ऽपि भक्तानुकम्पी कल्पतरुस्वभावः ॥ ९२ ॥

अवतारस्य रूपाणि नित्यान्येव विभोर्हरेः ।

अभिन्नानि हि सर्वाणि भेदकार्यं कचिद्भवेत् ॥ ९३ ॥

अवतारावतारिणोरवताराणां चाऽभेदेऽपि काचित्कभेदकार्यं भे-
दप्रतिनिधिना विशेषेण भवतीत्यर्थः ॥ ९३ ॥

तदेवाऽऽह—

विभोरचिन्त्यशक्त्यैव भेदस्थानेऽभिषिक्त्या ।

अहिकुण्डलवत्तस्य स्वरूपाभिन्नविग्रहः ॥ ९४ ॥

विभोरिति । भेदप्रतिनिधिरूपया ऽचिन्त्यशक्त्या भेदकार्यं
भवति । यथाऽभेदे सत्यप्यहेः कुण्डलमिति भेदव्यहारस्तद्वत् ॥ ९४ ॥

ननु रामकृष्णादिरूपाणां बाल्ययौवनाद्यवस्थावतां कथं नित्यत्वं
तत्राऽऽह—

वयोवस्थाविशेषा ये प्रदर्श्यन्तेऽवतारतः ।

नित्याः सर्वे कदाचित्तानाविर्भावयतीश्वरः ॥ ९५ ॥

वय इति । सर्वान् वयोविशेषान्नित्यानेव भक्तानुकम्पया मानुषा-
द्यनुकरणेन च कालक्रमेण प्रकटयति चेत्यर्थः ॥ ९५ ॥

लीलाः सर्वा विभोर्दिव्या भक्तानुकम्पया परम् ।

लोकवत्ताः प्रदर्श्यन्ते चिन्तया मुक्तिदायिकाः ॥ ९६ ॥

दिव्या अलौकिका एव भक्तानुकम्पया लोकवत् लौकिक्य इवा-
ऽचिन्त्यया शक्त्या प्रदर्श्यन्ते चिन्तनमात्रेण तन्महाप्रस.दद्वारा मुक्ति-
दायिकाः ॥ ९६ ॥

ननु नित्यानन्दरूपस्य परमकारुणिकस्य भक्तानामतिदुःखं रोद-
नादिकं कचिदवतारे दृश्यमानं कथमुपपद्यते तत्राऽऽह—

रोदनं शोचनं तस्य क्षतदैन्याज्ञतादिकम् ।

अवतारे कचिद्विष्णोर्दैत्यव्यामोहनाय तत् ॥ ९७ ॥

रोदनमिति । श्रीरामस्य सीतादिवियोगानिमित्तकरोदनं तथा शो-
चनं शत्रुशस्त्रेणाऽङ्गेषु क्षतानि दैन्यभाषणं सीताया अन्वेषणेनाऽज्ञत्वं
तथाऽन्यदपि किञ्चिदनीश्वरत्वद्योतकं यत् तदसुराणां व्यामोहायाऽ-
विद्यमानमेव प्रदर्श्यते न च वैषम्यापत्तिः तेषामदृष्टमनुसरतैव तथा-
व्यामोहनात् । न हि यादृशी यस्य योग्यता तस्य तादृशमेवाधिकारं
फलं च प्रयच्छन् विषमो भवति । प्रसिद्धं हि विष्णोर्बुद्धादिरूपेण
दैत्यव्यामोहकत्वम् ॥ ९७ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

योग्यतामनुरुन्धानो मोहयन्नसुरान्समः ।

दोषित्वज्ञानवन्तस्ते विष्णौ दैत्याः सदाऽशुभाः ॥ ९८ ॥

योग्यतेति । यतस्ते सदा निर्दुष्टेऽपि विष्णौ सदोषत्वज्ञानवन्तो
ऽशुभा दुष्टाशया अतस्तान्पापिष्टान्पापफलभुक्तये व्यामोहयन्नपि
सम एव न विषमः कल्पतरुस्वभावत्वात् ।

ये यथा माम्प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहमिति—

स्मृतेः ॥ ९८ ॥

ननु मत्स्यादिवद्बुद्धादिरपि विष्णोरवतारः स्यात्तत्राऽऽह—

ब्रह्मरुद्रादयः सर्वे तत्सृष्टास्तदधीनकाः ।

प्रलये तदभावो हि श्रुत्या स्मृत्या च भण्यते ॥ ९९ ॥

ब्रह्मेति । “नारायण एवाऽग्र आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः ” “ यो-
ब्रह्माणं विदधाति ” “ यस्य व्यक्षात् शूलपाणिरजायते ” त्यादिश्रुत्या
ब्राह्मे रात्रिक्षये प्राप्ते तस्य ह्यमिततेजसः ।
प्रसादात्प्रादुरभवत्पद्मम्पद्मनिभेक्षणात् ॥
ब्रह्मा समभवत्तस्मात्स तस्यैव प्रसादजः ।
अहः क्षये ललाटाच्च सुतो देवस्य वै तदा ॥
क्रोधाविष्टस्य सञ्ज्ञे रुद्रः संहारकारकः ।
इति भारते च सृष्टिसमये ब्रह्माद्युत्पत्त्युक्तेः तथा रुद्रं प्रति
ब्रह्मोक्तिः ॥

अहं प्रसादजस्तस्य कस्मिंश्चित्कारणान्तरे ।
त्वञ्चैव क्रोधजस्तात पूर्वसर्गे सनातनः ॥
मया च सार्द्धं वरदं विबुधैश्च महर्षिभिः ।
प्रसादयाऽऽशुलोकानां शान्तिर्भवतु मा चिरम् ॥
ब्रह्मणा त्वेवमुक्तस्तु रुद्रः क्रोधाग्निमुत्सृजन् ।
प्रसादयामास ततो देवं नारायणं प्रभुम् ॥
शरणं च जगामाऽऽद्यं वरेण्यं वरदं प्रभुमिति ॥
अहो नारायणं तेजो दुर्दर्शं द्विजसत्तम ॥

यत्राऽऽविशन्ति कल्पान्ते सर्वे ब्रह्मादयः सुराः-

इति चाऽतो ब्रह्मरुद्रयोर्जीवत्वमेव नेश्वरत्वम् । ईश्वरावताराणां
मत्स्यादीनामेवंविधोक्तिर्हि श्रुतिर्भारतादौ न विद्यते ॥ ९९ ॥

ननु हरीच्छादिगुणानां जीवेच्छादिवज्जन्यत्वप्रसङ्गेन को विशेषो
जीवेशयोस्तत्राऽऽह-

ज्ञानेच्छाकृतिमुख्या हि गुणा नित्या जगत्पतेः ।

जीवादृष्टस्य सत्त्वेऽपि सदा सृष्ट्यादिकं न हि ॥ १०० ॥

ज्ञानेति ॥ १०० ॥

ननु कारणसाकल्ये सति कथं कार्यानुदयस्तत्राऽऽह-

सृष्ट्यादिकालभेदेन व्यवस्था सूपपद्यते ।

कालेन जायते योगो ज्ञानादेः प्रकृतौ तदा ॥ १०१ ॥

सृष्टीति । सृष्टिकालेन हरिज्ञानेच्छादेः प्रधानादौ सम्बन्धो जायते ततः सृष्टिः प्रलयकालेन युक्तेच्छादिना प्रलयो भवतीति सूपपन्ना व्यवस्था कालभेदस्तूपपादितः प्राक् ॥ १०१ ॥

ननु कार्यमात्रस्य प्रलये नाशादीशस्य देहाभावात्कथं तदानीमिच्छादयो गुणास्तत्राऽऽशङ्कामपाकर्तुमीदवरस्य नित्यविग्रहं व्यवस्थापयति अविग्रहस्येत्यादिना-

अविग्रहस्य कर्तृत्वप्रवेष्टृत्वादिकं तथा ।

न सभाव्यं न दृष्टं हि तस्मान्नित्यवपुर्हरिः ॥ १०२

अविग्रहस्य कार्यानुकूलकृतिमत्त्वादिकर्तृत्वप्रवेष्टृत्वादिकं न दृष्टं न वा युक्तम् अतः कार्यमात्रोत्पत्तेः प्राक् नित्यविग्रहो हरिः सिद्धः ननु भगवद्विग्रहो न नित्यो विग्रहत्वादस्मदादिविग्रहवदित्याद्यनुमानेन तस्याऽनित्यत्वमिति चेत्तत्र प्राकृतत्वस्योपाधित्वात् । भगवद्विग्रह-प्राकृतत्वाभावेनाऽनित्यत्वाभावसिद्धेः ॥ १०२ ॥

हरिविग्रहानित्यतायामागमविरोधमाह-

विग्रहानित्यतायां हि स्याच्छ्रुत्यादिविरोधिता ।

तदुत्पत्तिविनाशादौ प्रमाणं विद्यते न हि ॥ १०३ ॥

विग्रहेति । पुराकल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य शेते-
सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य महात्मनः ॥
परमानन्दसन्दोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वदे-
त्यादिश्रुतिभिः

स सर्गकाले च करोति सर्गं ॥

संहारकाले च स हन्ति भूयः ॥

संहृत्य सर्वं निजदेहसंस्थं ।

कृत्वाऽप्सु शेते जगदन्तरात्मे-

त्यादिस्मृतिभिश्च हरिविग्रहस्य प्रलये स्थितिं प्रतिपादयन्ती-
भिर्विरोधापत्तेः ॥ १०३ ॥

तद्विग्रहानित्यतायां युक्तिविरोधमप्याह-

भोगादृष्टाद्यभावान्न चोत्पत्तिर्युज्यते हरेः ।

न भोगादि विना युक्तो विग्रहादिसमुद्भवः ॥ १०४ ॥

भोगेति । प्रयोजनबीजाभ्यामेव कार्यमात्रं जायते तच्चाऽऽप्तकाम-
स्याऽक्रियस्य नाऽस्तीति कथं विग्रहोत्पत्तिरतो नित्य एव विग्रहो-
ऽङ्गीकार्यः ॥ १०४ ॥

धर्मिग्राहकमानेन नित्यमेव वपुर्हरेः ।

लाघवं च भवेदेवं ध्वंसाद्यङ्गीकृतौ न तत् ॥ १०५ ॥

येन मानेन विग्रहः सिद्धस्तेन नित्य एव सिद्धः तद्धंसप्रागभावा-
द्यङ्गीकारे गौरवम् । अन्यथा तार्किकादीनामिव परकायप्रवेशेनैव-
श्वरस्य लोलोपपत्तौ विग्रहवत्त्वं न सिद्ध्येत् ॥ १०५ ॥

ननु किं धर्मिग्राहकं तत्राऽऽह-

मानं सहस्रशीर्षेति भगवद्विग्रहे दृढम् ।

ततो विराज उत्पत्तिस्तमसः परता ततः ॥ १०६ ॥

मानमिति।सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्रपादित्यादिश्रुतिर्विग्रहे मानम्।
न च विराट्स्वरूपपरेयम्, ततो विराडजायत आदित्यवर्णन्तमसः
परस्तादिति श्रुत्या सहस्रशीर्षत्वादिविशिष्टाद्विराडुत्पत्तेस्तमःपदा-
र्थप्रकृतिपरतायाश्च बोधनात् विराजः प्रकृतिकार्यस्य तत्परत्वास-
म्भवात् ॥ १०६ ॥

भारतमुदाहरति—

हरिं सहस्रशिरसं सहस्रचरणेक्षणम् ।

प्राहुर्नारायणं देवं यं विश्वस्य परायणम् ॥ १०७ ॥

यं वाक्येष्वनुवाक्येषु निषत्सूपनिषत्सु च ।

गृणन्ति विश्वकर्माणं सत्यं सत्येषु सामसु ॥ १०८ ॥

हरिमिति ॥ १०७ ॥ १०८ ॥

अवतारोऽपि नित्यविग्रहस्याऽऽविर्भाव एवेत्याह—

यं देवं देवकी देवी वसुदेवादजीजनत् ।

भौमस्य ब्रह्मणो गुप्त्यै दीप्तमग्निमिवाऽरणिः ॥ १०९ ॥

यमिति । भौमस्य महीयसो ब्रह्मणो वेदस्य गुप्त्यै वेदोक्तधर्मपालनाय ।
यथा सर्वत्र व्यापकोऽप्यग्निररणावाविर्भवति तथा नित्यविग्रहो देव-
क्यादावाविर्भवतीत्यर्थः ॥ १०९ ॥

यस्याऽग्निरास्यं द्यौर्मूर्द्धा खन्नाभिश्चरणौ क्षितिः

सूर्यश्चभ्रुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नम—

इति वैष्णवे लोकात्मकमुक्त्वा दिव्यविग्रहमाह—

तच्च पश्यामि तत्त्वेन यत्ते रूपं सनातनम् ।

द्यौस्त्वया शिरसा व्याप्ता पद्भ्यां देवी वसुन्धरा ।

विक्रमेण त्रयो लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ११० ॥

तच्चेति । तत्त्वेन याथार्थ्येन त्वत्प्रसादात्पश्यामि पुरुषोऽन्तर्यामी ॥ ११० ॥

अतसीपुष्पसङ्काशं पीतवाससमच्युतम् ।

ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम् ॥ १११ ॥

॥ १११ ॥

ततः स तस्मै प्रीतात्मा दर्शयामास तद्गुः ।

शाश्वतं वैष्णवं श्रीमददृशे यद्धनञ्जयः ॥ ११२ ॥

श्रीवैष्णवे शाश्वतत्वं महाप्रसादेनाऽकूराय दर्शितत्वं स्पष्टमु-
क्तम् ॥ ११२ ॥

स ददर्श महात्मानं विश्वरूपं महाभुजम् ।

सहस्रसूर्यप्रतिमं दीप्तिमत्पावकोपमम् ।

तं दृष्ट्वा परमं रूपं विष्णोर्वैष्णवमद्भुतम् ॥ ११३ ॥

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ११४ ॥

सोऽकूरो विश्वरूपं व्यापकन्ददर्श ॥ ११३ ॥ ११४ ॥

मया प्रसन्नेन तवाऽर्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ११५ ॥

भगवता प्रसादेन दर्शितं तेजोमयं प्रकाशरूपं विश्वं व्यापकं स-

र्वस्याऽऽद्यं कारणम् । एतादृशप्रसादं विनाऽर्जुनान्येनाऽदृष्टम् एता-
दृशदर्शनहेतुरेतादृशः प्रसादोऽन्यस्मिन्नाऽस्तीत्यर्थः ॥ ११५ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ ११६ ॥

अवयवावयविनोरभिन्नत्वाद्विग्रहस्य व्यापकत्वेन तदवयवानां
पाण्यादीनां व्यापकत्वोपपत्तिः ॥ ११६ ॥

सविग्रहे हरौ ब्रह्मशब्दो मुख्य इति गारुडेन प्रतिपादयति —

वेदे भूरिप्रयोगाच्च गुणयोगाच्च शार्ङ्गिणि ।

तस्मिन्नेव ब्रह्मशब्दो मुख्यवृत्तो महामुने ॥ ११७ ॥

वेद इति । प्रयोगप्राचुर्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्य असंख्येयकल्याणा-
लौकिकगुणवत्त्वस्य शार्ङ्गिणि विद्यमानत्वेन तत्रैव ब्रह्मशब्दो मुख्य-
वृत्तः ॥ ११७ ॥

ननु ब्रह्मशब्दस्याऽन्यत्राऽपि चतुर्मुखादौ प्रयोगप्राचुर्यमस्तीत्यत आह—

यस्मिन्प्रयुज्यमाने तु गुणयोगः सुपुष्कलः ।

तत्रैव मुख्यवृत्तोऽयमन्यत्र ह्युपचारतः ॥ ११८ ॥

यस्मिन्निति । अन्यत्र प्रयुज्यमानोऽपि न मुख्य इत्यर्थः ॥ ११८ ॥

आश्वमेधिकमुदाहरति—

राजाधिराजः सर्वेषां विष्णुर्ब्रह्ममयो महान् ।

ईश्वरं तं विजानीध्वं कर्तारिमकृतं हरिम् ॥ ११९ ॥

ब्रह्ममयो ब्रह्मस्वरूपो बृहद्गुणकः विष्णुशब्दो विग्रहविशिष्टे
योगरूढः ॥ ११९ ॥

दध्यौ ब्रह्म परं विप्र प्रविश्य यमुनाजले ।

फणासहस्रमालाढ्यं बलभद्रं ददर्श सः ॥ १२० ॥

यमुनाजलेऽधमर्षणं कुर्वन्नकूरः परं ब्रह्म ध्यायन् फणासहस्रमा-
लाढ्यं शेषं तस्योत्सङ्गे घनश्यामं हरिं ददर्शेत्यन्वयः ॥ १२० ॥

तस्योत्सङ्गे घनश्याममाताम्रायतलोचनम् ।

चतुर्बाहुमुदाराङ्गं चक्राद्यायुधभूषणम् ॥ १२१ ॥

आ ईषत्ताम्रे आयते च लोचने यस्य । ब्रह्मध्यानं कुर्वतां ब्रह्मदर्श-
नमेवोचितमिति विग्रहस्यैव ब्रह्मत्वसिद्धिः न हि ब्रह्म ध्यायतो ब्रह्मा-
ऽपरोक्षं युक्तं दध्यौ ब्रह्म परं विप्रेत्यारभ्य सनन्दनाद्यैर्मुनिभिश्च योगै-
रकल्मषैः सञ्चिन्त्यमानं तत्रस्थैर्नासाग्रन्यस्तलोचनैरित्यन्तेन विग्रह-
स्याऽप्राकृतत्वालौकिकत्वप्रसादैकदृश्यत्वादिकं स्पष्टमुपपादितम् । न
हि सनन्दनाद्यैर्मायिकमनित्यमब्रह्मस्वरूपं चिन्तनीयम् ॥ १२१ ॥

पञ्चरात्रमुदाहरति—

सर्वगुणातीताय च षड्गुणायाऽऽदिवेधसे ।

सत्यज्ञानानन्तगुणब्रह्मणे चतुरात्मने ।

तथा पञ्चनवव्यूहद्वादशमूर्त्तये नमः ॥ १२२ ॥

सर्वेति । सर्वप्राकृतगुणराहित्यं सत्याद्यनन्तकल्याणगुणकत्वं
सविग्रहस्य पञ्चरात्रे स्पष्टमुक्तम् ॥ १२२ ॥

नन्वस्तु सहस्रशीर्षेत्याद्युक्तविग्रहोपासनं नचोपासनापरवाक्येन व-
स्तुसिद्धिः उपासनाकर्त्तव्यतायां च तात्पर्यं वाक्यभेदापत्तेस्तत्राऽऽह—

आदित्ये दृशिना प्रोक्ताऽध्यक्षता वर्त्तमानता ।

न योषित्यग्निता नाम्नि ब्रह्मताऽस्तीति कथ्यते ॥ १२३ ॥

आदित्य इति “य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्म-
श्रुर्हिरण्यकेशः आ प्रणखात्सर्व एव सुवर्णः तस्य यथा कप्यासं पु-
ण्डरीकमेवाऽक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः
उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मन्यो य एवं वेदेति श्रुतेः” हिरण्मयः स्पृहणी-
याकारः कपौ नाले आसनं यस्य तत् नालादद्बुटितं रविकरविकसितं
पुण्डरीकं तद्ब्रह्मक्षिणी यस्य आदित्ये दृश्यते इत्यनेन वर्त्तमानतयाऽपरो-
क्षज्ञानविषयो विग्रह उच्यते उपासामात्रार्थत्वे तद्विरुद्धेत । न हि-
योषितमग्निमुपासीत नाम ब्रह्मोपासीत वाचं धेनुमुपासीतेत्यादौ यो-
षित्यग्नित्वं नाम्नि ब्रह्मत्वं वाचि धेनुत्वं च दृश्यते इति काऽप्युच्यते ।
वेदाऽहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसस्तु पारे तमेवं विद्वानमृत-
इह भवति नाऽन्यः पन्था अयनाय विद्यत इति विग्रहस्य महत्त्वं मुक्तज्ञे-
यत्वं चोक्तम् । तमित्यनेनोपक्रान्तस्य सहस्रशीर्षत्वादिषीष्टस्य परा-

मर्शात् सहस्रशीर्षेत्यादिना विग्रहसंस्थानमुपदिश्य “पादोऽस्य विद्वा-
भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवी”ति सर्वभूतानां तदेकदेशस्थत्वमुक्तमत-
स्तस्य महत्त्वसिद्धिः तत्राऽणुत्वाद्यनन्तपरिमाणानां सत्त्वेन गमनाद्युप-
पत्तिः “अणोरणीयान्महतोमहीयानिति” श्रुतेः। अनण्वहस्वमित्यादि श्रु-
त्या तु प्राकृतपरिमाणं निषिद्ध्यते यथाऽन्यत्र सर्वगते प्रतिव्यक्तिसमा-
प्यभावेऽपि सर्वगतजातेः प्रतिव्यक्ति समातिस्तथाऽन्यत्र सर्वगताऽणु-
त्वक्रियावत्त्वाभावे सर्वगते हरौ तदस्तु अङ्गरथादौ स्थितस्य हरेर्मुखे
ब्रह्माण्डं पश्यतां श्रीयशोदाजुनादीनां प्रत्यक्षमपि मानं न हि दिव्यं ददा-
मि ते च श्रुरिति वदता परमाप्तेन हरिणा स्वैकशरणा मायां प्रदर्श्य प्र-
तारणीयाः हरिविग्रहदर्शनं तन्महाप्रसादेनैवेत्युक्तम् ।

ततः स तस्मै प्रीतात्मा दर्शयामास तद्वपुरिति वैष्णवे ॥ १२३ ॥

लोकोऽप्यस्ति हरेर्नित्यः श्रुतिभिः प्रतिपादितः ।

भक्तानाङ्गमलादीनां विहारार्थैव केवलम् ॥ १२४ ॥

आप्तकामस्य व्यापकस्य लोकप्रयोजनाभावेऽपि सदा जनानां
रमादीनां भक्तानां विहारार्थमेव केवलं श्रुतिस्मृतिसिद्धो नित्यो लो-
कोऽस्ति “सहस्रस्थूणे वितते दृढे उग्रे यत्र देवानामधिदेव आस्तेऽक्षयं
तमस्य रजसः पराके योऽस्याऽध्यक्षः परमे व्योमन् तद्विप्राः सोढम-
न्यवो जाग्रवांसः समिन्धते” “यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः” “स्तद्विष्णोः
परमम्पदं सदा पश्यन्ति सूरयः” “सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः
परमम्पदं” मित्यादिश्रुतेः ॥ १२४ ॥

पञ्चरात्रमुदाहरति—

लोकं वैकुण्ठनामानं दिव्यं पाङ्गुण्यसंयुतम् ।

अवैष्णवानामप्राप्यं गुणत्रयविवर्जितम् ॥ १२५ ॥

नित्यं सिद्धैः समाकीर्णं तन्मयैः पाञ्चकालिकैः ।

सभाप्रासादसंयुक्तं वनैश्चोपवनैर्युतम् ॥ १२६ ॥

लोकमिति । कदा द्रक्ष्यामीत्यनेनाऽन्वयः ॥ १२५ ॥ १२६ ॥

वापीकूपतटाकैश्च वृक्षखण्डैश्च मण्डितम्

अप्राकृतं सुरैर्वेद्यमयुतार्कसमप्रभम् ।

प्रकृष्टसत्त्वसङ्कीर्णं कदा द्रक्ष्यामि चक्षुषा ॥ १२७ ॥

प्रकृष्टं विशुद्धमप्राकृतसत्त्वं तेन सङ्कीर्णं युक्तम् । यद्वा प्रकृष्टं
सत्त्वं हरेर्वीर्यं तेन व्याप्तमित्यर्थः ॥ १२७ ॥

भारतमुदाहरति--

ऊर्ध्वोत्तरमृषिभ्यस्तु ध्रुवो यत्र व्यवस्थितः ।

यत्र गत्वा न शोचन्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १२८ ॥

न देवा अपि पश्यन्ति सर्वतेजोमयं शुभम् ।

अत्यर्कानलदीप्तं तत्स्थानं विष्णोर्महात्मनः ।

स्वयैव प्रभया राजन् दुःप्रेक्ष्यं देवदानवैः ॥ १२९ ॥

यत्र भूतेश्वरस्तात सर्वप्रकृतिरात्मभूः ।

भासयन्सर्वभूतानि स्वश्रिया राजते हरिः ॥ १३० ॥

नाऽत्र ब्रह्मर्षयस्तात कुत एव महर्षयः ।

प्राप्नुवन्ति गतिं ह्येतां यतीनां कुरुसत्तम ॥ १३१ ॥

न ज्योतींषि च सर्वाणि प्राप्य भास्वन्ति पाण्डव ।

स्वयं प्रभुराचिन्त्यात्मा तत्र ह्यतिविराजते ॥ १३२ ॥

यतयस्तत्र गच्छन्ति भक्त्या नारायणं हरिम्

परेण तपसा युक्ता भाविताः कर्मभिः शुभैः ।

शान्ताः सिद्धा महात्मानस्तमोमोहविवर्जिताः ॥ १३३ ॥

तत्र गत्वा पुनर्नेमं लोकमायान्ति भारत ।

स्वयंभुवं महात्मानं देवदेवं सनातनम् ॥ १३४ ॥

स्थानमेतन्महाभाग ध्रुवमक्षयमव्ययम् ।

अर्चिरादिमार्गेण तत्प्राप्यते कुरुसत्तम ॥ १३५ ॥

ऊर्ध्व इति ॥ १२८ ॥ १२९ ॥ १३० ॥ १३१ ॥ १३२ ॥ १३३ ॥ १३४ ॥ १३५ ॥

मोक्षधर्मेषु नियतो लब्ध्वाहारो जितेन्द्रियः ।

प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं तत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ १३६ ॥

प्रकृतेः परं तदकार्यं ध्रुवं नित्यम् ॥ १३६ ॥

तस्य लोकादिवैभवं भक्तार्थमेवेत्याह—

लोकरूपादिसंस्थानं प्रायो भक्तार्थमेव हि

अनादित्वादनन्तत्वाद्रमादीनामतस्तथा ।

लोकादिवैभवं नित्यं स्वतन्त्रस्येशितुर्विभोः ॥ १३७ ॥

लोकेति ।

यद्यपि नित्यवस्तूनां न प्रयोजनापेक्षत्वमिति भगवद्रूपलोकादिवैभवस्य नित्यत्वान्न प्रयोजनाधीनत्वं तथाऽपि यदि प्रयोजनचिन्ता तदा रमादीनामनाद्यनन्तानां भक्तानां रमणमेव प्रयोजनमित्याशयेन प्राय इति । नत्वन्यलोकानामिव तल्लोकस्याऽपि कालेनाऽऽक्रमणं स्यात्तत्रोक्तं स्वतन्त्रस्येत्यादि ॥ १३७ ॥

नन्वपाणिपादादिबोधकमानविरोधस्तत्राऽऽह—

अप्राकृतत्वतोऽदेहोऽपाणिपादादिकस्ततः ।

निर्गुणोऽप्यत एव स्यादतो लोकादिवर्जनम् ॥ १३८ ॥

अप्राकृतेति । अदेहोक्तिरपाणिपादाद्युक्तिश्च प्राकृतदेहादिराहित्येन अन्यथा ऽपाणिपादो जवनो ग्रहीतेत्यत्र जवग्रहणोक्त्यनुपपत्तेः लोकादिप्रतिपादकोक्तमानविरोधापत्तेश्च ॥ १३८ ॥

ननु सविग्रहस्यैव लोके कर्तृत्वदर्शनादन्यथानुपपत्त्या भवेद्विग्रहो हरेः कर्तृत्व एव मानं नाऽस्तीत्यत आह—

अकर्तृत्वगिरस्तस्य निर्लेपत्वं वदन्ति हि ।

अन्यथा कर्तृतावाचां बद्धीनां स्यादपार्थता ॥ १३९ ॥

अकर्तृत्वेति । तस्य काचित्काकर्तृत्वोक्तिर्निर्लेपपरा

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः

तस्य कर्त्तारमपि मां विद्म्यकर्त्तारमव्ययम् ।

न मां कर्माणि लिपन्ति न मे कर्मफले स्पृहेति—

स्मृतेः । “अन्यथा द्यावाभूमी जनयन् देव एकः विश्वस्य कर्त्ता-
भुवनस्य गोप्ता यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीश”मित्यादि-
श्रुतिविरोधापत्तेः ॥ १३९ ॥

मोक्षधर्मवाक्यमुदाहरति—

पुरुषं सनातनं विष्णुं यं तं वेदविदो विदुः ।

सर्गप्रलयकर्तारमव्यक्तं ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १४० ॥

पुरुषमन्तर्यामिणं सनातनं नित्यदेहम् ॥ १४० ॥

भगवन्तमजं दिव्यं विष्णुमव्यक्तसंज्ञितम् ।

भावेन यान्ति शुद्धा ये ज्ञानतृप्ता निराशिषः ॥ १४१ ॥

भावेन भक्त्या शुद्धा निवृत्ताविद्याः ज्ञानेन भगवदापरोक्ष्येण
तृप्ताः ऐन्द्रियकभोगाऽलम्बुद्भयः । अत एव निराशिषस्तादृशभोगे
निवृत्तेच्छाः ॥ १४१ ॥

ज्ञात्वाऽऽत्मस्थं हरिं चैव न निवर्तन्ति तेऽव्ययाः ।

प्राप्य तत्परमं स्थानं मोदन्तेऽक्षरमव्ययम् ॥ १४२ ॥

केशवो भरतश्रेष्ठ भगवानीश्वरः प्रभुः ।

पुरुषः सर्वमित्येव श्रूयते बहुधा विभुः ॥ १४३ ॥

ततः कृष्णो महाभाग पुनरेव युधिष्ठिरम् ।

ब्राह्मणानां शतं श्रेष्ठं मुखादेवाऽसृजत्प्रभुः ॥ १४४ ॥

बाहुभ्यां क्षत्रियशतं वैश्यानामूरुतः शतम् ।

पद्भ्यां शूद्रशतञ्चैव केशवो भरतर्षभ ॥ १४५ ॥

स एवञ्चतुरो वर्णान्समुत्पाद्य महातपाः ।

अध्यक्षं सर्वभूतानां धातारमकरोत्स्वयम् ॥ १४६ ॥

आत्मस्थम् अन्तर्यामिणम् । स्थानं वैकुण्ठम् अक्षरमनश्वर-
म् ॥ १४२ ॥ १४३ ॥ १४४ ॥ १४५ ॥ १४६ ॥

वेदविद्याविधातारं ब्रह्माणममितद्युतिम् ।

भूतमातृगणाध्यक्षं विरूपाक्षञ्च यो ऽसृजत् ॥ १४७ ॥

विरूपाक्षं रुद्रम् ॥ १४७ ॥

हरोर्विश्वकर्तृत्वानङ्गीकारे दोष माह—

आनन्दोद्रेकतायाश्च सार्वश्यादेरपह्नवः ।

कर्तृत्वेऽस्य मृषात्वे स्यादप्रामाण्यं श्रुतेर्वृथा ॥ १४८ ॥

आनन्देति । को ह्येवाऽन्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यादिति श्रुत्याऽऽकाशपदार्थस्येशस्याऽऽनन्दोद्रेकादेव विश्वकर्तृत्वमुक्तं विश्वोदयादिमहाकर्तृत्वेन महानन्दः सिद्ध्यति तस्या ऽकर्तृत्वे महानन्दो न सिद्ध्येत् यः सर्वज्ञ इत्याद्युक्तं सार्वश्यादिकं निरर्थकं स्यात् । नन्वस्त्वैन्द्रजालिकवन्मृषाकर्तृत्वं तत्राऽऽह तस्य कर्तृत्वबोधिकानां श्रुतीनां सुहृदं सर्वभूतानामित्याप्तत्वबोधकस्मृतीनाञ्चाऽप्रामाण्यं स्यात् । नहि ताभिः कर्तृत्वादिकं मिथ्यात्वेनैव बोध्यते येन तादृशपदार्थस्य तथा बोधनाच्चाऽप्रामाण्यं स्यात् ॥ १४८ ॥

ननु यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तप इति ब्रह्मगुणबोधकावाक्येषु सत्यत्वबोधकपदाभावान्मिथ्याभूता एव च गुणाः स्युस्तत्राऽऽह—

मृषात्वे तद्गुणादीनां श्रुतीनां पीडनम्भवेत् ।

अप्राप्तत्वाद् गुणादीनामनुवादो न तद्विरः ॥ १४९ ॥

मृषात्वं इति । गुणवाक्यैः प्रमाणस्वाभाव्यादेव सत्या गुणा बोध्यन्ते गुणानां मृषात्वे सत्यः सोऽस्य महिमेत्यादिसत्त्वेन तद्बोधकश्रुतीनां पीडनमप्रामाण्यं स्यात् । ननु गुणवाक्यानामनुवादकत्वेन निर्गुणवाक्यैकवाक्यत्वोपपत्त्या गुणविधाने तात्पर्यमङ्गीकृत्यवाक्यभेदो नोचितस्तत्राऽऽह अप्राप्तत्वात्तद्गुणानामनन्तरं प्राप्तस्यैवाऽनुवादो भवेत् न हि हरेरौपनिषदस्य गुणाः प्रत्यक्षादिप्राप्ता यतः श्रुत्या तदनुवादः स्यात् ॥ १४९ ॥

एतदेवोपपादयति —

अनुवादा भवेयुर्न गुणादेर्वोधका रवाः

सत्यता स्याद्गुणादीनां श्रुतिप्रामाण्यगौरवात् ॥ १५० ॥

ब्रह्मगुणादिबोधकाः शब्दा अनुवादा न भवेयुरतो ज्ञातज्ञापकगुणवाक्यप्रामाण्यगौरवाद्गुणादीनां सत्यता स्यात् ॥ १५० ॥

गुणवाक्यानामनुवादकत्वे दोषान्तरमाह—

निषेधायाऽनुवादे हि व्यवहारोऽपि ते कथम् ।

निषेधाय ह्यनुख्यातो यथा विप्रवधस्तथा ॥ १५१ ॥

निषेधेति । यथा ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यत्र निषेधायाऽनूदित-
ब्राह्मणहननं व्यावहारिकं न सिद्ध्यति तथा निषेधायाऽनूदिता गुणा
व्यावहारिकाः न सिद्ध्येयुरित्यर्थः अनुख्यातोऽनूदितः ॥ १५१ ॥

जर्तिलानां यथा होमसाधनत्वं न सिद्ध्यति ।

व्यवहारेऽपि नेशस्य स्युस्तात्पर्यस्य वर्जनात् ॥ १५२ ॥

यदि गुणवाक्यानामनुवादकत्वमेव न गुणे तात्पर्यं तदा जर्तिल-
यवाग्वा जुहुयाद् गवेधुकयवाग्वा वा जुहुयादित्यस्याऽजक्षीरेण जु-
होतीत्येतदर्थवादस्य स्वार्थं तात्पर्याभावाज्जर्तिलादेर्नाऽऽहुतिसाध-
नत्वं यथा तथा व्यावहारिका अपि गुणा ब्रह्मणो न स्युरित्यर्थः । तथा
च बृहन्तो ह्यस्मिन् गुणाः “पराऽस्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभा-
विकी ज्ञानबलक्रिया च” “सत्यः सोस्य महिमा सर्वस्य वशी सर्वस्ये-
शानः सर्वस्याऽधिपतिः सन् साधुना कर्मणा भूयान्नो वाऽसाधुना क-
नीयान् य एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपालः य आत्माऽप-
हतपाप्मा सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य
इत्यादि श्रुतीनां—

ब्रह्मेशानादिभिर्देवैः समेतैर्यद्गुणांशकः ।

नाऽवसाययितुं शक्यः व्याचक्षणेऽपि सर्वदा ।

मय्यनन्तगुणेऽनन्ते—

तेजोवलैश्वर्यमहावबोधसद्भिर्यशस्त्यादिगुणैकराशिः—

परः पराणामित्यादिस्मृतीनाम् “अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्”
“अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्” “अदृश्यत्वादि-
गुणको धर्मोक्तेः” “सर्वधर्मोपपत्तेश्चे”त्यादिसूत्राणां च वैयर्थ्या-
पत्तेः ॥ १५२ ॥

श्रुतितात्पर्यगम्यस्य निर्गुणत्वे भवेद्ब्रूया ।

समन्वयपरोऽध्यायः सर्वसिद्धान्तसंमतः ॥ १५३ ॥

श्रुतीनां निर्गुणे तात्पर्याङ्गीकारे समन्वयप्रतिपादकत्वेन सर्व
संमतः प्रथमाध्यायो व्यर्थः स्यात् ॥ १५३ ॥

समन्वयाऽध्यायविरोधं स्पष्टयति—

न प्रवृत्तिनिमित्तं हि विना शब्दः प्रवर्तते ।

लिङ्गानि स्पष्टमुक्तान्यनन्तत्वादीनि तत्र हि ॥ १५४ ॥

नेति । प्रवृत्तिनिमित्तं विनाशब्दस्य न कुत्रापि प्रवृत्तिः तत्तदधिकरणेषु पूर्वपक्ष्यभिमतकाशादिव्यावृत्तानि ब्रह्मैकगतान्यनन्तत्वादिलिङ्गानि स्पष्टमुक्तानि ॥ १५४ ॥

प्रत्यधिकृतिभिन्नानि शब्दानां हि प्रवृत्तये ।

पर्यायताऽन्यथा स्याद्वै श्रुतीनामितरेतरम् ॥ १५५ ॥

प्रवृत्तिनिमित्तभेदानङ्गीकारे ब्रह्मपरसर्ववेदानां पर्यायता स्यात् ॥ १५५ ॥

समन्वयाध्यायाधिकरणानि प्राधान्येनाऽनेकानि विनिर्दिशति—

अन्तर्न्याये तथाऽऽकाशे प्राणादिज्योतिरादितः

तथा वैश्वानरादीनां स्फुटो विष्णौ समन्वयः ॥ १५६ ॥

इन्द्रादिशब्दा अन्तरधिकरणे प्राणज्योतिराद्यधिकरणेषु प्राणज्योतिराद्या एवमन्ये शब्दा अन्येष्वधिकरणेषु हरौ समन्विताः ॥ १५६ ॥

सत्यज्ञानादिशब्दानां स्याद्वैयर्थ्यं विशेषतः

ब्रह्मबोधस्य चैकेन पदेन सम्भवात्स्फुटम् ॥ १५७ ॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादि वाक्यस्थपदानां वैयर्थ्यं स्यात् स्वरूपमात्रबोधस्यैकब्रह्मादिपदेनैव बोधसम्भवात् । न च सत्यत्वादि धर्मविशिष्टं ब्रह्म तत्तत्पदैर्वाच्यं शुद्धं तु विनिगमनाविरहात्सर्वपदलक्ष्यमिति वाच्यम् । त्वन्मते विशिष्टस्य मृषाभूतस्य परिच्छिन्नस्य सत्यत्वाद्यसम्भवात् । गङ्गापदलक्ष्यस्य तीरस्याऽगङ्गात्ववत्सत्यादिपदलक्ष्यस्याऽसत्यत्वाद्यापत्तेश्च न जहदजहत्स्वार्थलक्षणाङ्गीकारेण नाऽसत्यत्वाद्यापत्तिः सत्यत्वादिविशिष्टवाचकानां पदानां व्यक्तिमात्रे लक्षणाया असम्भवात् नहि घटत्वविशिष्टवाचकपदस्य घटव्यक्तौ लक्षणा युज्यते । शक्यादन्येन प्रकारेण बोधे हि लक्षणा अतो लक्षणासार्थक्यायाऽकामेन त्वया ब्रह्मासत्याद्यंशभानमङ्गीकार्यम् ॥ १५७ ॥

ब्रह्मणि धर्मसामान्यनिषेधो व्याहत इत्याह—

धर्माभावोऽपि धर्मः स्यात् धर्मसामान्यशून्यता ।

वस्तुनि व्याहता श्रौते मूकोऽहं हीतिवत्स्फुटम् ॥ १५८ ॥

धर्माभावोऽपि धर्म इति धर्मसामान्याभावबोधनं व्याहृत-
मित्यर्थः ॥ १५८ ॥

ननु कथन्तर्हि गुणनिषेधश्रुतीनामुपपत्तिस्तत्राऽऽह—

श्रुतिबोधितधर्माणां निषेधो न हि युज्यते ।

विकल्पो नाऽस्ति वस्तूनामिति स्याद्धि व्यवस्थितिः ॥ १५९ ॥

श्रुतीति । वेदविहितब्रह्मधर्माणां निषेधो न सम्भवति न वा विकल्पः
अनुष्ठाने विकल्पसम्भवेऽपि वस्तुनि तदभावात् अतः श्रुतिद्वयस्य
व्यवस्था वाच्या ॥ १५९ ॥

श्रीवैष्णववाक्येन व्यवस्थामाह—

सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः

इति मानानुरोधाद्धि प्राकृतानां निवारणम् ॥ १६० ॥

सत्त्वेति । गुणश्रुतिभिरप्राकृता गुणा विधीयन्ते निषेधश्रुतिभिः
प्राकृताः सत्त्वादयो निषिद्ध्यन्त इति श्रुतिद्वयोपपत्तिः नच गुणवाक्यै-
र्व्यावहारिका गुणा विधीयन्ते निषेधवाक्यैस्तत्त्वतो गुणा निषि-
द्ध्यन्त इति । व्यावहारिका हि मिथ्याभूता एव तथा च तद्वोधक-
श्रुतीनामप्रामाण्यमेव समानसत्ताकविषयप्रतिपादकत्वेनैव प्रमा-
णानां व्यवस्थाया औचित्यात् । अन्यथाऽतिरात्रे षोडशिनं गृह्णा-
ति नाऽतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति इत्यत्र नाऽतिरात्रे षोडशिग्रहणं
व्यावहारिकं तन्निषेधः परमार्थिक इति व्यवस्थापत्या मीमांसोच्छे-
दापत्तेः ॥ १६० ॥

गुणश्रुतिव्यावहारिकार्थपरा निर्गुणश्रुतिस्तु तात्त्विकतदभाव-
परेत्यत्र बाधकान्तरमाह—

सदेवेति श्रुतिः सत्त्वं लौकिकं ब्रह्मणो मृषा ।

असदेवेति शून्यत्वं वक्तीति स्याद्गतिः श्रुतेः ॥ २६१ ॥

सदिति । सदेवसोम्येदमग्र आसीत् तत्सत्यमित्यादि-

ब्रह्मसत्त्वबोधिका श्रुतिर्मृषाभूतव्यावहारिकं सत्त्वं वाक्ते असदेव सोम्येदमग्र आसीदिति श्रुतिस्तत्त्वतः शून्यं ब्रह्मणो ऽसत्त्वं वक्तीति विरुद्धश्रुत्योर्गतिः स्यादित्यर्थः एतेन गुणश्रुतिः सगुणब्रह्मपरा निर्गुणश्रुतिः परब्रह्मपरेति निरस्तम् । सगुणातिरिक्तब्रह्मणोऽलीकत्वाच्च—

मत्तः परतरं नाऽन्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।

नत्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्य—

इत्यादिस्मृतिविरोधापत्तेश्च असन्नेव सम्भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेदिति श्रुतिरपि नाऽसत्त्वनिन्दार्था किन्तु शून्यतापात्तिरूपपरममोक्षपरेत्यापत्तेश्च ।

ज्ञानं नित्यं क्रिया नित्या बलं नित्यं परात्मनः ।

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्येति श्रुत्या नित्यत्वोक्तेश्च वेदविन्मनु नुते तं बृहन्तमिति पूर्वत्र न कर्मणा वर्धते नो कर्नायान् तस्यैव स्यात् यद्वित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेत्युत्तरत्र च ब्रह्मणः प्रकृतत्वेन एष इत्यस्य परब्रह्मपरत्वात् अन्यथा सदेवेति असदेवेति वाक्यद्वयानुरोधेन ब्रह्मेदानीं सत् कालान्तरे त्वसदिति स्यात् । नचौपाधिका धर्मास्स्वाभाविकी ज्ञानबलाक्रियाचेति विरोधापत्तेः । न च योगोपलब्धयोगिशक्त्यादिवैषम्यमात्रेण तदुपपत्तिः सङ्कोचे मानाभावेन नित्यत्वश्रुत्यनुसारेण स्वाभाविकज्ञानपदसमभिव्याहारेण चोपाधिमात्रनिषेधात् । अन्यथा ब्रह्मणः सत्त्वमौपाधिकमसत्त्वन्तु स्वाभाविकमिति स्यात् ॥ १६१ ॥

ननु सगुणवाक्यं वाचं धेनुमुपासीतेत्यादिवदुपासनार्थम् । उपासनायाः कर्तव्यत्वे गुणेषु च तात्पर्यं वाक्यभेदः स्यादित्यत आह—

उपासायै हि धर्मोक्तिरिति पक्षो न युज्यते ।

उपासापदहीनाश्च शब्दाः सन्ति गुणार्पकाः ॥ १६२ ॥

“उपासेति । यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयन्तपः य आत्मा अपहतपाप्मा सत्यकामः सत्यसङ्कल्प ” इत्यादिगुणवाक्यान्मुपासनापदरहितानि सन्तीत्यर्थः उपासापदरहितवाक्यस्याऽपि तत्परत्वकल्पनं निर्गुणवाक्यस्या ऽप्युपासापरत्वं स्यात् आत्मेत्येवोपासीतेत्यात्मनोऽप्युपास्यत्वोक्तेः किञ्चा “ऽऽनन्दा-

दयः प्राधान्यस्य व्यतिहार” इति सूत्रे तद्योऽहमिति श्रुत्युक्तं जीवस्येश्वरस्य च जीवत्वमुपास्यमिति परेणाऽप्युक्तम् । तथोत्तरतापनीये शैव्यप्रश्नेऽथ काठके माण्डुक्यादौ च सर्वत्र निर्गुणोपास्तिरिति निर्गुणं ब्रह्माऽप्युपास्यमित्यप्युक्तम् एवञ्चोपास्यत्वेऽप्यानन्दादेरिवैक्यस्यैव निर्गुणब्रह्मण इव च सत्यकामत्वादेरपि तात्त्विकतोपपत्तिः उक्तं हि परेण व्यतिहारसूत्रे यथा ध्यानार्थेऽपि सत्यकामत्वाद्युपदेशे तद्गुण ईश्वरः सिद्ध्यति तद्वदैक्यमिति । य आत्माऽपहतपाप्मेत्यारभ्य सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सविजिज्ञासितव्य इति सत्यकामत्वादीनामपहतपाप्मत्वादिभिः सह जिज्ञास्यत्वोक्तेः अपहतपाप्मत्वादीनामप्युपास्यत्वे तस्य भूताकाशे सम्भवेन दहराकाशस्य ब्रह्मत्वप्रतिपादकदहराधिकरणविरोधः स्यात् । एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरित्यादिधर्मानुक्ता तेषान्तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्तीति मुमुक्षुज्ञेयत्वोक्तेश्च यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य महिमा भुवीत्याद्युक्ता तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा इत्यपरोक्षप्रमाविषयत्वोक्तेश्च तुरीयं सर्वदृक् सदेति तुरीयसार्वश्योक्तेश्च ॥ २६२ ॥

सगुणज्ञानादेव मोक्ष इत्यत्र स्मृतिमुदाहरति—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ १६३ ॥

भोक्तारमिति ॥ १६३ ॥

उच्छिद्येताऽन्यथाऽध्यायो गिरामन्वयबोधकः ।

ईक्षितृत्वादिधर्माणाम्प्रधानादाहुपासनात् ॥ १६४ ॥

अन्यथा गुणगिरामुपासार्थत्वे गिरां शब्दानां मुख्यवृत्त्या ब्रह्मण्यन्वयाध्यायानारम्भः स्यात् । सदेव सोम्येति सत्पदेन सांख्याभिमतं प्रधानं बोध्यत इति पूर्वपक्षं कृत्वा स ऐक्षतेति सत्पदार्थस्येक्षितृत्वश्रवणान्न तत्प्रधानं तस्येक्षितृत्वासम्भवात् किन्तु ब्रह्मैव तत्सम्भवादिति सिद्धान्तितं तत्सर्वमसङ्गतं स्यात् ईक्षितृत्वारोपस्य जडेऽपि सम्भवात् । पूर्वमेयोऽनन्त इत्युक्तानन्तत्वस्य भूताकाशेऽप्यारोपसम्भवेनाऽऽकाशादिशब्दानां ब्रह्मपरत्वं बोध्यतामाकाशाद्यधिक-

रणानामुच्छेदः स्यात् एवमधिकरणान्तराणामपि पूर्वपक्ष्यभिम-
तार्थस्याऽरोपणोपासनसम्भवेनोच्छेदः । न च यथा राजसदृशे
अमात्य एव राजत्वारोपो न तु स्तम्बे तथा शुद्धचैतन्यसदृशे वि-
शिष्टचैतन्य एवेक्षितृत्वारोपो न जडे प्रधानादाविति वाच्यम् ।
अनाहार्यारोपस्य सादृश्यज्ञानहेतुकस्य तथा नियमेऽप्याहार्यारोपस्य
सादृश्यज्ञानाहेतुकस्य तथा नियमाभावात् । उपासनं हि बाधकाली-
नेच्छाजन्याहार्यरूपं बुद्धिपूर्वकारोपरूपम् तत्र सादृश्यधियोऽकि-
ञ्चित्करत्वात् अन्यथा नाम ब्रह्मोपासीत वाचं धेनुमुपासीत योषित
मग्निं ध्यायीतेत्यादीनामुपासावाक्यानामुच्छेदापत्तेः न ह्यत्र सादृ-
श्यं विद्यते यथा कथंचित्सादृश्यकल्पनं तु ब्रह्मप्रधानाद्योरपि स-
म्भवति । उपासाया अनाहार्यज्ञानत्वे कृतिसाध्यत्वं न स्यात् ।
ज्ञानस्य त्वया कृतिसाध्यत्वानङ्गीकारात् उपासायां तदङ्गीकारा-
च्च ॥ १६४ ॥

गुणज्ञानात्प्रसादः स्यान्नाऽन्यथा मोचको हरेः ।

गुणहीने न दृष्टा हि लोके भक्तिर्हि कुत्र चित् ॥ १६५ ॥

सदनन्तगुणविशिष्टहरिज्ञानात्तन्महाप्रसादः ततो मोक्षः

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय—

इति स्मृत्या सगुणज्ञानस्य प्रसादे हेतुत्वोक्तेः हि प्रसिद्धं लोके
गुणज्ञानादेव वस्तुनि स्नेहो भवति ॥ १६५ ॥

स्मृतिमुदाहरति—

यो मामशेषदोषोज्झं गुणसर्वस्ववृंहितम् ।

जानात्यस्मै प्रसन्नोऽहं दद्यां मुक्तिं न चाऽन्यथा ॥ १६६ ॥

य इति । यथार्थज्ञानं हि तत्त्वज्ञानं तदेव मोक्ष हेतुः ।

ततो मान्तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरमिति—

स्मृतेः तद्वत् दोषाभाववत् सद्गुणविशिष्टस्य हरेर्ज्ञानम् ॥ १६६ ॥

ननु दोषाभावादिविशिष्टज्ञानं यथार्थं स्याद्यदि हरिर्दोषाभाव
विशिष्टोऽनन्तगुणविशिष्टश्च स्यात्तदभावे तु न मानाभावादित्याशङ्का-
मपाकर्तुं वैष्णवं वाक्यमुदाहरति—

एवंप्रकारममलं नित्यं व्यापकमक्षयम् ।

समस्तहेयरहितं विष्णारूपं परमं पदम् ॥ १६७ ॥

एवमिति । एवंप्रकारमनन्तगुणविशिष्टं समस्तहेयशून्यं विष्णुसंज्ञं पद्यते मुमुक्षुभिर्ज्ञायते मुक्तैश्च प्राप्यते इति पदम् स्वरूपमित्यर्थः ॥ १६७ ॥

तत्र यः परमात्मा स हि नित्यं निर्गुणः स्मृतः ।

स हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मा पुरुषो हि सः ॥ १६८ ॥

निर्गुणत्वं प्राकृतगुणराहित्यम् अन्यथा तस्य परमत्वानुपपत्तिः न हि गुणाधिक्यातिरिक्तं परमत्वमस्ति ।

सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृतागुणा—

इति वैष्णवोक्तेः ॥ १६८ ॥

गुणाभावश्रुतावस्ति गुणावेदकगीः स्फुटम् ।

धर्माभावोऽपि धर्मः स्याद्धर्मिज्ञानं विरोधि न ॥ १६९ ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चेति—

निर्गुणपदघटितवाक्येन साक्षित्वादयो धर्मा विधीयन्ते । नच निर्गुण इति निषेधायाऽनुवादो गुणशब्द इति वाच्यम् ब्रह्मगुणानां मानान्तराप्राप्तत्वेनाऽनुवादासम्भवात् । श्रुतिप्राप्तस्य श्रुत्याऽनुवादे सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्यादिप्राप्तसत्त्वम् असद्वा इदमग्र आसीदिति निषेधाय तत्सत्यामिति श्रुतिरनुवदतीति स्यात् गुणाभावस्याऽपि गुणत्वेन गुणसामान्यनिषेधस्य व्याहतत्वान् । ननु निर्गुणवाक्यं न गुणाभावपरं किन्तु लक्षणयाऽखण्डचिन्मात्रपरमिति तत्राऽऽह धर्मिमात्रज्ञानं हि धर्मतदभावान्यतरज्ञानं न विरुणद्धि न हि भूतलज्ञानं घटस्य तदभावस्य वा तत्र ज्ञानं विरुणद्धि ॥ १६९ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चाऽस्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तर—

मित्याद्यागमेन ज्ञानप्रसादद्वारा भक्तेर्मोक्षहेतुत्वमुक्तं भक्तिश्च गुणाधिक्यज्ञानादेवेत्याह—

गुणाधिक्यधिया दृष्टं स्नेहाधिक्यं हि लोकतः ।

अतोऽनन्तगुणा विष्णौ बोध्यन्ते भक्तिवृद्धये ॥ १७० ॥

गुणेति।लोकतो लोके हि प्रसिद्धं गुणाधिक्यज्ञानात्स्नेहाधिक्यम्
अतः श्रुतिभिरनन्ता गुणा हरौ भक्तिविवृद्धये बोध्यन्ते ॥ १७० ॥
भक्ति स्वरूपमाह—

सर्वोत्तमत्वधीयुक्ताऽविच्छिन्ना स्नेहसन्ततिः ।

हरेः प्रसादिका भक्तिः सा गुणाधिक्यबोधतः ॥ १७१ ॥

सर्वेति ॥ १७१ ॥

नन्वस्तु सर्वोत्तमत्वज्ञानं स्नेहाधिक्ये हेतुर्गुणाधिक्यं हरेः क-
थं लब्धं तत्राऽऽह—

गुणाधिक्यं विहायाऽन्यत्सर्वोत्तमत्वमेव न ।

हेयं लोके हि नैर्गुण्यं सर्वत्र दृश्यते स्फुटम् ॥ १७२ ॥

गुणेति । सर्वाधिकगुणवत्त्वमेव लोके सर्वोत्तमत्वं नाऽन्यत्
सर्वशब्दो लोके प्रकरणाद्यपेक्षया सङ्कोचाहः हरौ त्वसङ्कुचितः ।
नैर्गुण्यन्तु लोके हेयं स्पष्टं दृष्टम् ॥ १७२ ॥

अलौकिकवस्तुनो हरेर्ज्ञानमसाधारणलक्षणज्ञानेन स्यादिति वि-
श्वोदयादिकर्तृत्वं तस्य स्वरूपलक्षणं यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते
येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्याभिसंविशन्तोत्याद्युक्तस्वरूपलक्ष-
णान्येवेत्याह—

विश्वोदयादिकर्तृत्वम्भवेत्स्वरूपलक्षणम्

मुमुक्षूणां सदा ज्ञेयं यथाऽऽनन्दादिका गुणाः ॥ १७३ ॥

विश्वेति । यथा सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्याद्युक्तसत्यत्वादीनि
स्वरूपलक्षणानि मुमुक्षुज्ञेयानि तथा कर्तृत्वादीन्यपीत्यर्थः ॥ १७३ ॥

ननु यथा शाखायां चन्द्र इत्यत्र शाखा तटस्थतया चन्द्रोपल-
क्षणं तथा विश्वोदयादिकर्तृत्वं तटस्थं तत्राऽऽह—

कर्तृत्वादेस्तटस्थत्वे स्युरानन्दादिकास्तथा

श्रौतानामपि सर्वेषां तारतम्यं तथाकुतः ॥ १७४ ॥

कर्तृत्वेति । श्रुतिविहितानां कर्तृत्वादीनां तटस्थत्वे सत्यं ज्ञान-

मित्युक्तानां सत्यत्वादीनामपि तत्त्वापत्तेः अज्ञातज्ञापकश्रुतिविहितानां तारतम्यस्याऽसम्भवात् । किञ्च सत्यत्वादीनां स्वरूपभिन्नत्वे परमते मिथ्यात्वापत्त्या कर्तृत्वतुल्यत्वात् । स्वरूपात्मकत्वे लक्षणत्वक्षतिः । न हि घटो घटस्य लक्षणम् । अस्मन्मते यावद्द्रव्यभावित्वं रूपं स्वरूपलक्षणत्वमुभयोस्तुल्यं न च यावद्द्रव्यभावित्वं स्वरूपलक्षणं घटरूपादावव्याप्तमिति वाच्यम् । रूपत्वेनैव हि रूपस्य घटादिस्वरूपलक्षणत्वं तेन रूपेण रूपस्य यावद्द्रव्यभावित्वमस्त्येव रूपं विना घटाद्यवस्थानाभावात् । निर्गुणद्रव्योत्पत्तिप्रवादस्याऽप्रामाणिकत्वात् । रूपस्य शुक्लत्वश्यामत्वादिना यावद्द्रव्यभावरूपेण तूपलक्षणत्वमेव । किञ्च शाखोपस्थाप्यचन्द्रनिष्ठप्रकाशवान्निर्विशेषवादे कर्तृत्वाद्युपस्थाप्यधर्माभावेन शाखाया इवोपलक्षणत्वासम्भवात् । धर्मान्तरमुपस्थाप्यव्यावर्तकं ह्युपलक्षणम् ॥ १७४ ॥

अध्यायान्ते स्वेष्टदेवं नमस्करोति—

विश्वोदयादिकर्तारं हर्तारं भवसन्ततेः ।

श्रीभर्तारं प्रदातारं गिरां नौमि हयाननम् ॥ १७५ ॥

इति श्रीवेदान्तसिद्धान्तसङ्ग्रहे पञ्चमोऽध्यायः ।

विश्वेति ॥ १७५ ॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

परमानन्दावाप्तिरूपमोक्षसाधनं हरिप्रसादस्तद्धेतुर्हरिभक्तिस्तत्र-
मुख्यं कारणं वैराग्यमित्यादौ वैराग्यमाह —

गुरुवाच ।

ऐहिकामुष्मिका भोगा नरकैः सदृशाः सदा ।

सर्वे चिन्तया मुमुक्षूणां परमानन्दकाङ्क्षया ॥ १ ॥

ऐहिकेति । ऐहिकाः स्वकचन्दनवनितादिभिर्जन्याः आमुष्मिकाः
अप्सरआदिसंयोगोद्भवाः सर्वे भोगा नरकैस्तुल्या मुमुक्षुभिश्चि-
न्तनीयाः तेषामुभयेषां परमानन्दावाप्तिप्रतिबन्धकत्वान्निरयतुल्यता ।
ननूपलभ्यमानभोगे कथं विरागस्तत्राऽऽह परमानन्देति ॥ १ ॥

श्रीहरिलोकव्यतिरिक्तानां लोकानां निरयत्वप्रतिपादकभारतमु-
दाहरति—

अमूनि यानि स्थानानि देवानां परमात्मनाम् ।

नानासंस्थानवर्णानि नानारूपफलानि वै ॥

आक्रीडा विविधा राजन्पाद्मिन्यश्चैव काञ्चनीः ॥ २ ॥

चतुर्णां लोकपालानां शुक्रस्याऽथ वृहस्पतेः ।

मरुतां विश्वदेवानां साध्यानामश्विनोरपि ॥ ३ ॥

अमूनीति । परमहरावात्मा मनो येषां तेषां देवानां हरिभक्तानां
दिव्यानि कामचारीणि विमानानि सभास्तथा नाना संस्थानं रचना
येषां तानि नानारूपाणि फलानि भोगाश्च येषु तानि ॥ २ ॥ ३ ॥

रुद्रादित्यवमूनाश्च तथाऽन्येषां दिवौकसाम् ।

एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः ॥ ४ ॥

परमात्मनो हरेः स्थानस्य वैकुण्ठस्याऽपेक्षयैते लोका निरयाः
संसृतिहेतवो नश्वराश्चेत्यर्थः ॥ ४ ॥

अक्षयं चाऽनिमित्तं च न च क्लेशसमावृतम् ।

अप्रहर्षमनानन्दमशोकं विगतक्रमम् ॥ ५ ॥

अक्षयमिति ॥ ५ ॥

हरिलोके कालप्रभावाभावेन तस्य नित्यत्वमित्याशयेनाऽऽह—

कालः सम्पद्यते तत्र कालस्तत्र न वै प्रभुः ।

स कालस्य प्रभू राजन् स्वर्गस्याऽपि तथेश्वरः ॥ ६ ॥

काल इतिवै प्रसिद्धं तत्र वैकुण्ठे कालो न सम्पद्यते न प्राप्नोति। तत्र हेतुमाह कलयतीति कालो हरिस्तत्र प्रभुः “कालः कलयतामहमिति” स्मृतेः यद्वा कालो हरिस्तत्र सम्पद्यते रमादिभूक्तान् रमयन् सदा मूर्त्तिविशेषेणाऽऽस्तेऽतस्तत्र कालो मुहूर्त्तमासादिरूपस्तत्र प्रभुर्न भवतीत्यर्थः एतदेवाऽऽह स कालस्येति । स्वर्गस्य दुःखासंभिन्न-सुखस्य मुक्तैरनुभाव्यस्येश्वरः ॥ ६ ॥

उक्तार्थं स्पष्टयति—

आत्मा केवलतां प्राप्तस्तत्र गत्वा न शोचति ।

ईदृशं परमं स्थानं निरयास्ते च तादृशाः ॥ ७ ॥

आत्मेति । केवलतां निरवद्यतां प्राप्त आत्मा जीवस्तत्र लोके गत्वा न शोचति ईदृशं परमं स्थानं हरेः तादृशाः प्रागुक्ता अन्ये ये ते संसृतिहेतुत्वात् ॥ ७ ॥

ननु स्वर्गस्य कथं निरयत्वमित्यत आह—

एते ते निरयाः प्रोक्ताः सर्वे एव यथातथम् ।

तस्य स्थानवरस्येह सर्वे निरयसंज्ञिताः ॥ ८ ॥

एत इति । तस्य हरेः स्थानश्रेष्ठस्याऽपेक्षया यते सर्वे निरया इत्यर्थः लक्षाद्याधिपापेक्षया शताधिपतेर्निर्धनत्ववत् दुःखासंभिन्ननिरति-शयमुक्तसुखापेक्षया निरयत्वमिति भावः ॥ ८ ॥

उक्तार्थं स्पष्टमाह—

पुनरावर्त्तनं येभ्यस्ते निरयाः सुरालयाः

यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं हरेः ॥ ९ ॥

पुनरिति । स्पष्टम् ॥ ९ ॥

नन्वत्यन्तभोगानुकूलयौवनाद्यवस्थाद्रव्यादिकं च प्राप्य कथं निर्वेदः कार्यस्तत्राऽऽह—

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसञ्चयः ।

आरोग्यं प्रियसम्वासो गृध्येत्तत्र न पण्डितः ॥ १० ॥

अनित्यमिति । भोगसाधनयौवनादिकं सर्वं यतोऽनित्यमतः पण्डितस्तत्र न गृध्येत् स्पृहां न कुर्यात् ॥ १० ॥

शमादिसाधनैर्युक्तः सद्गुरुं प्राप्य भक्तिमान् ।

जिज्ञासेत् परं ब्रह्म संसृत्युच्छित्तये सुधीः ॥ ११ ॥

“शान्तो दान्तास्तितिक्षुरपरतः स गुरुमेवाऽभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् आत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येदित्यादि” श्रुतेः आत्मनि हृदये आत्मानं हरिं पश्येत् श्रवणमनननिदिध्यासनादिना ऽपरोक्षीकुर्यादित्यर्थः भगवदापरोक्ष्यान्मुक्तिः “तमेव विद्वानमृत इह भवति नाऽन्यः पन्था विद्यते” ऽयनायेति श्रुतेः ॥ ११ ॥

ननु कथं जिज्ञास्यो हरिः स्वाभिन्नतया भिन्नतया वेति तत्राऽऽह—

अथाऽज्ञतः प्राणभृतोऽल्पशक्तेर्जडाच्च भिन्नो हि मुमुक्षुवेद्यः ।

अभेदबुद्धिर्जडजीवयोश्च हरौ तयोः संसृतिदाऽनिशं स्यात् ॥ १२ ॥

अथेति।अथ शमदमादिसाधनोत्पत्त्यनन्तरम् मुमुक्षुभिरल्पशक्तेर सर्वज्ञात्प्राणभृतो जीवाज्जडाच्च भिन्नो हरिर्जिज्ञास्यो वेद्यश्च। जीवजडयो हरेरभेदस्य तयोर्जीवजडयोरभेदस्य हरौ वा या बुद्धिः सा निरन्तरं जन्ममरणरूपसंसृतिदा भवेदित्यर्थः । जीवेशाभेदज्ञानं यथाऽनर्थहेतुस्तथा तत्त्वमसीति वाक्यव्याख्यावसरे वक्ष्यते ॥ १२ ॥

लोकप्रसिद्धो ह्ययमर्थ इत्याह—

यथा स्वामितया राजा सेवितो हि प्रसीदति ।

सेवितो माधवस्तद्वत् भववन्धापनोदकृत् ॥ १३ ॥

यथेति । स्पष्टम् ॥ १३ ॥

राजाभावं ब्रुवाणो हि दण्ड्योऽहं नृप इत्यपि ।

ब्रह्माभावं तथा ब्रह्माऽहमिति ज्ञानवान्कुधीः ॥ १४ ॥

राजा नाऽस्तीति राजाऽहमिति वा वदन्यथा दण्ड्यस्तथा मदन्य ईशो नाऽस्तीतिज्ञः ॥ १४ ॥

छाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाऽक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
 उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
 यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
 यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
 अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
 यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
 स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारतेति—

स्मृत्युक्तं क्षराक्षरपदवाच्यवद्धमुक्तजीवेभ्य उत्तमतया हरेर्ज्ञानं
 श्रेष्ठं भजनमिति तत्संग्रहमाह—

सर्वोत्तमतया ज्ञानं भजनं परमं निजम् ।

गुह्यतमतया प्रोक्तं पार्थसारथिना स्फुटम् ॥ १५ ॥

सर्वेति । निजं स्वीयं तादृशं ज्ञानमेवाऽतिगोप्यभजनमुक्तम् ॥ १५ ॥

तादृशज्ञानवानेव सम्यक् शास्त्रार्थज्ञः स एव कृतार्थ इत्यर्थम्—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।

एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारतेति—

स्मृत्युक्तं संगृह्णाति ।

पुरुषोत्तमता ज्ञस्य ज्ञानित्वकृतकृत्यते ॥

असंमूढत्वमप्युक्तं तज्ज्ञस्य हरिणा स्फुटम् ॥ १६ ॥

पुरुषोत्तमेति । असंमूढत्वं यथार्थज्ञत्वम् ॥ १६ ॥

मुमुक्षुज्ञेयस्वरूपमाह—

ज्ञानानन्दादिभिर्धर्मैरनन्तैर्हरिरीश्वरः ।

युक्तो मुमुक्षुभिश्चिन्त्योज्ञेयः प्राप्यस्तथाविधः ॥ १७ ॥

ज्ञानेति । जडजीवादिष्वविद्यमानैर्निरतिशयानन्तगुणैर्विशिष्टो-
 हरिर्मुमुक्षुभिर्ध्येयो ज्ञेयः प्राप्यश्चेत्यर्थः ॥ १७ ॥

उक्तार्थे स्मृतिमाह—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ १८ ॥

भोक्तारमिति । भोक्तारं पालयितारम् ॥ १८ ॥

“पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनाऽमृतत्वमेतीति,,
श्रुतिं प्रेरयितृत्वादिगुणविशिष्टेश्वरस्य जीवान्निव्रतया ज्ञानान्मुक्तिं
प्रतिपादयन्तीं संगृह्णाति—

आत्मानं हि पृथङ् मत्वा प्रेरकश्च पृथग्वरिम् ॥

तत्प्रसादयुतो जीवोऽमृतत्वं याति नाऽपरः ॥ १९ ॥

आत्मानमिति । अमृतत्वं मोक्षम् ॥ १९ ॥

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमेतीति श्रुतिं संगृह्णाति—

मुक्तैर्जुष्टं यदा जीवः स्वस्मादन्यं महेश्वरम् ॥

पश्येत्तदाऽऽप्नुयात्तस्य महिमानम्विमुक्तिगः ॥ २० ॥

मुक्तैरिति । नित्यमुक्तैरमादिभिः साधनेन मुक्तैर्नन्दसुनन्दादिभि-
र्जीवन्मुक्तैर्ब्रह्मरुद्रादिभिश्च भक्तैर्जुष्टं सेवितं हरिं यदा स्वस्मादन्यत
या पश्यति तदा तत्प्रसादेन विमुक्तबन्धनः सन् तस्य तत्स्वामिकं
निर्मुक्तत्वलक्षणं महिमानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २० ॥

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वा-
न्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति श्रुतिं संगृह्णाति—

जीवः पश्यति कर्त्तारं रुक्मवर्णं महेश्वरम् ।

पुण्यपापे तदा हित्वा ऽविद्याख्ये जनवर्जितः ॥ २१ ॥

जीव इति । पुण्यपापाख्यां कर्मरूपाविद्यां हित्वा हरेस्तुल्य-
तामेतीत्युत्तरेणाऽन्वयः ॥ २१ ॥

कीटभृङ्गनयेनैति तुल्यतां परमां हरेः ।

तत्प्रसादेन पूर्णत्वनिर्मुक्तत्वादिना बुधः ॥ २२ ॥

यथा कीटो भृङ्गं ध्यात्वा तत्तुल्यतां याति तथा हरिं ध्यात्वा
ज्ञात्वा च जीवो निर्मुक्तत्वपूर्णत्वादिना तत्साम्यं यातीत्यर्थः ॥ २२ ॥

अनन्तगुणविशिष्टं हरिमेव सर्वेश्वर इत्यादिनोक्त्वा तमेतं वेदा-
नुवचनेनेत्यादिना स एव जिज्ञास्य इत्युक्तं मुक्तप्राप्त्योऽपि स एव
यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवतीति श्रुत्या फ-

लसाधनयोः सारूप्याभिहितत्वादित्यर्थं संगृह्णाति एष इति द्वाभ्याम्

एष सर्वेश्वरो ह्येष भूतानामधिपो हरिः ।

भूतपालो भवेदेष लोकानां धारको विभुः ॥ २३ ॥

श्रुतिरुदाहृता प्राक् ॥ २३ ॥

तमेतं ब्राह्मणा वेत्तुमिच्छेयुर्यजनादिभिः ।

यो जिज्ञास्यः स एव स्याज् ज्ञेयः प्राप्यश्च मुक्तिगैः ॥ २४ ॥

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽना-
शकेनेति श्रुतेः मुमुक्षुभिर्जिज्ञास्यो ज्ञेयश्च मुक्तैर्ज्ञेयः प्राप्यश्चेत्यर्थः ॥ २४ ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूताधिवासः साक्षी-
चेता केवलो निर्गुणश्चेत्यादिश्रुतिं व्याख्याति—

मुख्यत्वादेक इत्युक्तो निर्गुणः प्राकृतोज्झितः ।

जीवं प्रत्यजया गूढो नित्यज्ञानमयो हरिः ॥ २५ ॥

मुख्यत्वादिति । मुख्यत्वादेकः एके मुख्यान्यकेवला इति कोशात्
सत्त्वादयो न सन्तीति यत्र च प्राकृता गुणा—

इति स्मृतेः प्राकृतगुणशून्यत्वाभिर्गुणः अजयाऽविद्यया जीवं
प्रति गूढ आवृतः ॥ २५ ॥

यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सो ऽश्नुते सर्वान्कामान्सह
ब्रह्मणा विपश्चिता सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति श्रुतिं संगृह्णाति—

गुहायां निहितं वेद सत्यं ज्ञानमनन्तकम् ॥

सो ऽश्नुते सर्वकामान्वै ब्रह्मणा सह मुक्तिगः ॥ २६ ॥

गुहायामिति । ब्रह्मणा चतुर्मुखेन सर्वान्कामानश्नुते ॥ २६ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

मुक्तेः काले विधेः प्रोक्तं जीवान्तरविमोक्षणम् ।

ब्रह्मज्ञानफलं सर्वकामप्रायणलक्षणम् ॥ २७ ॥

मुक्तेरिति । सह शाखया प्रस्तरं प्रहरतीत्यत्र प्रस्तरेण सह प्र-
स्तरकाले अप्रसिद्धकालां शाखां प्रहरतीति विभक्तिव्यत्ययेन
सहशब्दस्य कालार्थकत्वं धार्ष्टिकादावुक्तमित्यत्रापि तथाऽस्तु ।

तथा च ब्रह्मणा सह ब्रह्मणो मुक्तिकाले सर्वान्कामानवाप्नोति स्वयौ-
ग्यतानुसारेण निरतिशयपूर्णतां प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २७ ॥

रसो वै स रसमेवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवतीत्यादिश्रुतिं संगृह्णाति—

रसो वै स रसं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवत्ययं सुधीः ।

लब्ध्व्यो भगवान्विष्णुर्लब्धा जीवः प्रकीर्तितः ॥ २८ ॥

रस इति । आनन्दीभवत्ययं सुधीः अत्र लब्धूलब्धव्यभावेन जी-
वेशयोर्भेदः स्पष्टः ॥ २८ ॥

मीमांसन्ते सदोक्थेष्वेतन्म्वद्वृत्तास्तथाऽध्वर्यवः ।

अग्नौ हि सामगा दिवि वायावेनं तथा हरिम् ॥ २९ ॥

श्रुत्यानुपूर्वीं प्रागुदाहृता बह्वृत्ता ऋग्वेदिनः अध्वर्यवो यजुर्वे-
दिनः ॥ २९ ॥

आकाशेऽप्स्वेतमौषध्याञ्चन्द्रे वनस्पतौ तथा ।

नक्षत्रेषु तथैतं हि सर्वभूतेषु सर्वदा ॥ ३० ॥

ओषध्यामोषधीषु वनस्पतौ वनस्पतिषु एतं व्याप्तम् अतो व्या-
प्यव्यापकभावेन विश्वपरेशयोर्भेदः स्पष्टः ॥ ३० ॥

ब्रह्मविदाप्नोति परमिति श्रुतेर्वृहद्गुणकत्वरूपब्रह्मत्वेन ज्ञानं
मुक्तिहेतुरित्याशयेनाऽऽह—

सर्वव्यापी हरिश्चिन्त्यस्तथा मोक्षप्रदायकः ।

सत्यत्वमपि विश्वस्य सिद्धं तद्व्यापनात्सदा ॥ ३१ ॥

सर्वव्यापीति । सर्वव्यापकत्वं सर्वनियामकत्वाद्यनन्तगुणवत्त्वं
मृपात्वे सर्वज्ञनियम्यत्वासम्भवादिति विश्वस्य सत्यत्वसिद्धिः ॥ ३१ ॥

तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यते ऽयनायेति
श्रुत्यर्थं संगृह्णाति—

न ज्ञातव्यौ मुमुक्षूणां प्राधान्याज्जडजीवकौ ।

ज्ञातव्यो भगवान्विष्णुः प्रसन्नो मोक्षदायकः ॥ ३२ ॥

नेति । यद्यपि देहादितो विविक्तत्वादिना जीवोऽपि ज्ञेयोऽन्य-

था शास्त्रेऽनधिकारः स्यात् नहि देहात्मधीमता किमपि शास्त्रेण कृत्य-
मस्ति ईश्वरनियम्यत्वादिना प्रधानादिकमपि ज्ञेयमीश्वरत्वधियो-
नियम्यज्ञानसापेक्षत्वात्तथापि मुमुक्षूणां प्राधान्येन हरिरेव ज्ञेयः यतो-
ज्ञातः प्रसीदति प्रसन्नश्च मोक्षदो भवति “एवं विज्ञातो भगवान्प्रसी-
दत्यच्युतस्तस्मिन्प्रसन्ने क्लेशसंक्षयः” इति स्मृतेः ॥ ३२ ॥

ब्रह्मान्यजडजीवादेर्मुमुक्षुज्ञेयता न हि ।

ब्रह्माराधनतोऽन्यो हि व्यापारो नोचितस्तथा ॥ ३३ ॥

तमेवैकं जानीथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथेति श्रुत्यर्थं
संगृह्णाति । ब्रह्मेति । जडादेरज्ञेयत्वं प्राधान्येन ॥ ३३ ॥

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति
श्रुतिमुदाहरति—

आत्मा श्रोतव्य इत्याद्याः श्रुतयः प्रवदन्ति हि ।

श्रोतव्यं मननीयञ्च निदिध्यास्यं रमाध्वम् ॥ ३४ ॥

आत्मेति । श्रवणादिविषयं रमापतिं वदन्तीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

नन्वात्मनः कामाय सर्वं प्रियं भवतीत्याद्युपक्रमानुरोधाज्जीव
एव श्रवणादिविषयोऽस्त्वित्याशङ्कां निरस्यति—

तदापरोक्ष्यतो मोक्षो न हि जीवापरोक्षतः ।

ब्रह्मविदाप्नुयान्मोक्षमिति प्राह श्रुतिः स्फुटम् ॥ ३५ ॥

तदिति । हि यतस्तस्य हरेरपरोक्ष्यान्मोक्षो न जीवापरो-
क्ष्यादतः स एव साक्षात्कर्तव्यः श्रवणादिविषयश्च न
जीवस्तदापरोक्ष्यस्य सदैव सत्त्वात् मोक्षाहेतुत्वाच्च । ब्रह्म-
विदाप्नोति परमिति ब्रह्मज्ञानादेव हि मोक्ष उक्तः तमेव विदित्वाऽति
मृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनायेत्यत्र तच्छब्देन सहस्रशी-
र्षत्वादिविशिष्टस्यैव परामर्शाच्च ॥ ३५ ॥

ब्रह्मत्वं त्वीश्वरस्यैव न जीवस्येत्याह—

तदेव परमं ब्रह्म कवीनां संमतं परम् ।

परं ब्रह्म परं धाम वदन्ति मुनयस्तथा ॥ ३६ ॥

तदिति । तदेव ब्रह्म परमं कवीनामित्यादि श्रुतिभिरीशस्यैव

ब्रह्मत्वमवधार्यते ।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।

परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायण—

मित्यादिस्मृतिभिस्तथा ॥ ३६ ॥

ननु द्वे ब्रह्मणो वेदितव्ये इत्यादिश्रुत्या जीवस्याऽपि ब्रह्मत्वमुक्त-
मिति चेत्सत्यमुक्तं परन्तु गौणं तदित्याह—

स्वतन्त्रब्रह्मतेशस्य जीवस्य तदर्धानता ।

मुख्यब्रह्मधिया मोक्षो न गौणज्ञानतो भवेत् ॥ ३७ ॥

स्वतन्त्रेति । बृहद्गुणपूर्णत्वरूपा ब्रह्मता परेशस्य मुख्या जी-
वस्य परेशाधीना गौणी सा मुख्यब्रह्मताज्ञानादेव मोक्षो न तु गौणी-
ज्ञानादित्यर्थः ॥ ३७ ॥

यथार्थज्ञानतो मोक्षो न चाऽयथार्थतः क्वचित् ।

यथार्था भेदधीरेव वस्तूनां हि परस्परम् ॥ ३८ ॥

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तर मिति स्मृत्या यथा
र्थज्ञानस्यैव मोचकत्वमुक्तं तच्चाऽल्पज्ञत्वादिगुणकजीवतद्विरुद्धगुण
केशयोर्भेदं विषयीकुर्वदेव स्यादित्यर्थः ॥ ३८ ॥

जीवेशयोर्भेदे प्रत्यक्षप्रमाणमाह—

जीवेशयोर्भिदैव स्यात्सत्याऽध्यक्षस्य गोचरः ।

नाऽहमीशो न सर्वज्ञो नाऽदुःखाशोकभाक्तया ॥ ३९ ॥

जीवेशयोरिति । नाऽहमीशो नाऽशोकभागित्यध्यक्षगोचरो भि-
दैव सत्या ॥ ३९ ॥

ईश्वरजीवयोर्भेदे साक्षी मानं समिष्यते ।

भेदाध्यक्षे हि योग्यत्वं सहकारितयेष्यते ॥ ४० ॥

साक्षाद् द्रष्टा जीवरूपसाक्षी जीवेशभेदे मानम् साक्षिगृहीते
सुखः दुखादौ संशयाद्यदर्शनात्स प्रमाणप्रबलः स्वीक्रियते, अभाव
प्रत्यक्षे सहकारिणीं योग्यानुपलब्धिमाह । भेदेति । प्रतियोगिताव-
च्छेदकधर्मस्याऽधिकरणस्य च योग्यत्वं भेदप्रत्यक्षे सहकारि कारणं

स्वीक्रियते । योग्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकयोग्याधिकरणको भेदो योग्य इत्यर्थः ॥ ४० ॥

नन्वीश्वरस्याऽप्रत्यक्षत्वात्कथं तद्भेदः प्रत्यक्षस्तत्राऽऽह—

न प्रतियोगिनस्तत्त्वमन्यथा न भवेत्कचित् ।

पिशाचादिभिदा या हि लौकिकश्चाक्षुषं नृणाम् ॥ ४१ ॥

नेति । तत्त्वं योग्यत्वम् । अन्यथा प्रतियोग्यत्वस्याऽभावाध्यक्षे हेतुत्वे ॥ ४१ ॥

पिशाचत्वं तु योग्यं स्याज्जातेस्तादृशरूपतः ।

पिशाचवद्भिदायाः स्यादन्यथाऽध्यक्षता क्वचित् ॥ ४२ ॥

जातिमात्रस्य योग्यत्वे पिशाचाद्ययोग्यव्यक्तिसम्बन्धान्न गृह्यते सैव चाक्षुषे स्तम्बे घर्त्तंत तर्हि गृह्येतैव तथाच स्तम्बः पिशाचः स्याच्चेदुपलभ्येतेत्यापत्तिसम्भवात्तद्भेदस्तत्र योग्यः स्तम्बः पिशाचवान् स्यात्तर्ह्युपलभ्येतेत्यापत्तिसम्भवात्पिशाचवद्भेदो न योग्यः स्तम्बस्याऽपिशाचवत्त्वेऽप्यनुपलम्भोपपत्तेः ॥ ४२ ॥

ननु पिशाचत्वादेर्योग्यत्वे कदाचित्प्रत्यक्षं स्यात्तत्राऽऽह—

व्यक्त्ययोग्यत्वतो न स्याज्जातेरध्यक्षता क्वचित् ।

प्रत्यक्षव्यक्तिवृत्तित्वात्तस्याः प्रत्यक्षमिष्यते ॥ ४३ ॥

व्यक्तीति । पिशाचादिव्यक्तेर्योग्यत्वात्पिशाचत्वादिकं न गृह्यते जातेः प्रत्यक्षादिव्यक्तिवृत्तितया प्रत्यक्षत्वनियमात् ॥ ४३ ॥

दार्ष्टान्तिके सङ्गमयति—

अयोग्यत्वेऽपि हीशस्येश्वरत्वं योग्यमेव हि ।

ज्ञानेच्छाकृतिमत्त्वाद्यमीश्वरत्वमुदीरितम् ॥ ४४ ॥

अयोग्यत्वेऽपीति । ईशस्याऽयोग्यत्वेऽपि ज्ञानेच्छाकृतिमत्त्वादिलक्षणमीश्वरत्वं योग्यमेव ज्ञानादीनां स्वीयानां प्रत्यक्षत्वनियमात् ॥ ४४ ॥

अतीन्द्रियं न हि ज्ञानेच्छाकृत्यादि भवेत्कचित् ।

सर्वज्ञोऽहम्भवेयञ्च जानीयां सर्वमेव हि ॥ ४५ ॥

ज्ञानाद्यतोन्द्रियत्वे मानाभावः मयि सर्वविषयकं ज्ञानादिकं स्यात्तर्हि तथोपलभ्येत न चोपलभ्यते ऽतो न सर्वविषयकज्ञानादिमानहमित्यर्थः ॥ ४५ ॥

ननु नाऽहं सर्वज्ञ इत्यादिनाऽन्तःकरणाद्यवच्छिन्ने जीवाख्ये मिथ्याभूते चैतन्ये सार्वज्ञ्यादिविशिष्टस्य तादृशस्यैवेश्वरस्य भेदः सिद्ध्यति न तु परमार्थभूते शुद्धे भेदसिद्धिस्तत्राऽऽह—

अस्वाप्संऽयो ऽहमज्ञोऽहं संसारी दुःखसंयुतः ।

न सर्वज्ञो न वेशश्च निर्दुःखो न हि सर्वथा ॥ ४६ ॥

अस्वाप्सामिति । सुषुप्त्यज्ञानदुःखादिभोगसंसाराश्रयो हि शुद्ध एव ॥ ४६ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

संसाराद्याश्रये शुद्धे मोक्षशालिनि चेतने ।

भेदो गृह्यत ईशस्य साक्षिणा सर्वदा स्फुटम् ॥ ४७ ॥

संसारेति ॥ ४७ ॥

ननु जीवेशभेदस्य प्रक्षत्यत्वे तद्वोधकश्रुतीनां वैयर्थ्यं स्यात्तत्राऽऽह—

वर्त्तमानतयाऽध्यक्षभेदं गृह्णाति नाऽन्यदा ।

श्रुतिस्त्रैकालिकभेदं ब्रुवती नाऽनुवादिनी ॥ ४८ ॥

वर्त्तमानेति । अध्यक्षं वर्त्तमानतया भेदं गृह्णाति स्तुतिकालसाधारणतया बोधयन्तीति नाऽनुवादिनी ईशप्रतियोगिकजीवधर्मिकभेदस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि जीवप्रतियोगिकेशधर्मिकभेदो न प्रत्यक्ष इति नाऽनुवादिनी श्रुतिः किञ्च प्रत्यक्षस्य प्रमाणत्वेऽस्तु श्रुतिर्नित्यानुवादिनी तस्याऽप्रमाणत्वे तु नाऽनुवादिनी श्रुतिः न ह्यप्रमाणगृहीतग्राहित्वेनाऽनुवादकत्वं सम्भवति ईश्वरभेदस्य प्रत्यक्षत्वेऽपीश्वरस्याऽप्रत्यक्षत्वेन तत्प्रतिपादकतया वेदान्तानां सार्थक्यम् । श्रवणमनननिदिध्यासनैरीश्वरस्याऽऽपरोक्ष्यं भवतीति शास्त्रं सार्थक्यम् । परोक्षस्याऽपि पङ्जादेः श्रवणमननादिनाऽपरोक्षत्ववत्परोक्षस्याऽपीश्वरस्य श्रवणादिनाऽपरोक्षत्वसम्भवः ॥ ४८ ॥

जीवेशयोरभेदे बाधकमाह—

जीवो यदीश्वराभिन्नो नाऽऽचरेत्स्वाहितं क चित् ।

हितानाचरणं नैव सम्भवेत्तस्य कुत्र चित् ॥ ४९ ॥

जीव इति । जीवो यदि स्वन्तत्रेश्वराभिन्नः स्यात्तर्हि स्वाहि-
ताचरणं स्वहितानाचरणं च कदाचिन्न कुर्यादित्यर्थः ॥ ४९ ॥

ननूपाधिभेदेन भिन्नस्य सर्वज्ञत्वादिकमेकस्यैवोपपद्यत इत्यत
आह—

बन्ध्यात्वमातृत्वादीनां स्यात्समावेशनं क चित् ।

लोके विरोधवार्त्ता हि दत्तजलाञ्जलिर्भवेत् ॥ ५० ॥

बन्ध्यात्वेति । सर्वज्ञत्वादिवदुष्णत्वशीतत्वादिकं सत्यत्वमिथ्या-
त्वशून्यत्वादिकमप्युपाधिभेदेनैकत्र समाविष्टं स्यात् तथा च ब्रह्मै
तत्कालावच्छेदेन सदशून्यं च कालान्तरावच्छेदेनाऽसच्छून्यं च
स्यात् ॥ ५० ॥

निर्दोषत्वं ब्रुवतीनां नित्यं वै जगदीश्वरे ।

पीडनं हि श्रुतीनां स्यान्नरकं दोषदर्शिनाम् ॥ ५१ ॥

जीवेशाभेदाङ्गीकारे जगदीश्वरे नित्यं निर्दोषत्वं सर्वदैवाऽस्पृष्टदो-
षगन्धत्वं ब्रुवतीनां निरवद्यं निरञ्जनमित्यादिश्रुतीनां पीडनमप्रामाण्यं
स्यात् । जीवाभेदेन भगवत्यज्ञत्वादिदोषदर्शिनां नरकप्राप्तिरेव स्यात् ।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विपन्तोऽभ्यसूयकाः ।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ॥

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ॥

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमाङ्गति—

मितिस्मृतेः ॥ ५१ ॥

अजामेकां लोहितशुक्लरूपां बह्वीः प्रजाः सृजन्तीमजो ह्येको जुष-
माणोऽनुशेते अजोऽन्यो जहात्येनाम्भुक्तभोगामिति वाक्यं भेदप्रतिपा-
दकमुदाहरति—

जुपमाणोऽनुशेते यामेकोऽजो जीवसंज्ञकः ।

जहाति भुक्तभोगां तामन्योऽजः सदैवेश्वरः ॥ ५२ ॥

जुपमाण इति । भुक्तो भोगो जीवेन यया तामीदवरः सदैव जहाति सदानावृतपूर्णानन्दत्वात् । जीवपूर्णानन्दत्वस्य संसारदशायामविद्ययावृतत्वेन सम्भवत्यजया प्रकृत्या जीवस्य सुखादिभोगः भेदबोधकमेकान्यादिपदमत्राऽस्ति ॥ ५२ ॥

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षम्परिपस्वजाते तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति वाक्यमुदाहरति—

ईशानीशौ तथा ज्ञाज्ञौ द्वौ सुपर्णाविव द्रुमे ।

सखायौ सर्वदाऽऽसाते यौ चिदानन्दरूपिणौ ॥ ५३ ॥

ईशेति । द्रुमे हृदयाख्ये सदैवाऽऽसाते सखित्वं समानरूपत्वं तत्तु चिदानन्दत्वादिना ॥ ५३ ॥

भोगाभोगौ स्पष्टयति—

तयोरेकः फलं भुङ्क्ते कर्मणां स्वादु सक्तिः ।

नाऽन्योऽनासक्तितो भुङ्क्ते चकास्ति स्वप्रकाशतः ॥ ५४ ॥

तयोरिति । एको जीवः आसक्त्या कर्मणां स्वादु यथास्यात्तथा भुङ्क्ते अन्य ईश्वरो न भुङ्क्ते आसक्तिशून्यत्वात् स्वप्रकाशत्वाच्चकास्ति ॥ ५४ ॥

इन्द्रस्याऽऽत्मा विदितः पञ्चहोता वायोरात्मानङ्गवयो निचिक्युः अन्तरादित्ये मनसा चरन्तं देवानां हृदयं ब्रह्माऽन्वविन्ददित्यादिश्रुतिमुदाहरति—

यश्चाऽयं पुरुषे यश्चाऽसावादित्ये स एककः ।

इन्द्रस्याऽऽत्मा तथा वायोरात्माऽऽदित्ये स्थितं हरिम् ॥ ५५ ॥

य इति । पुरुषे जीवान्तरेऽन्तर्यामितया वर्त्तते स एवाऽऽदित्ये वर्त्तते इत्यर्थः । इन्द्रवाय्वादेरात्माऽन्तर्यामीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

देवानां हृदयं ब्रह्मा मनसा ज्ञातवान्प्रभुम् ॥

भेदपरत्वमेतेषामुक्तं सूत्रकृता स्फुटम् ॥ ५६ ॥

देवानां हृदयमन्तर्यामिणम्भेदव्यपदेशाच्चाऽन्य इति सूत्रयता भगवता आसाम्भेदपरत्वमुक्तम् ॥ ५६ ॥

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति यमात्मा न वेद यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यमित्याद्यन्तर्यामिब्राह्मणं जीवेशभेदप्रतिपादकमुदाहरति--

तिष्ठत्यात्मनि यस्याऽऽत्मा देह आत्मा न वेद यम् ॥

तिष्ठति यो हि विज्ञाने विज्ञानं यं न वेद ह ॥ ५७ ॥

आत्मविज्ञानपदार्थो जीवो यस्य शरीरं शरीरवन्नियम्यः स जीवो यं न वेदेत्याद्यन्तर्यामिब्राह्मणेन भेदः प्रतिपादितः ॥ ५७ ॥

नन्वत्र भेदबोधकपदं नाऽस्तीत्याशङ्क्यैतद्वाक्यानां जीवेशभेदपरत्वमित्याशयेनाऽऽह--

काण्वा माध्यन्दिनाश्चेत्थमन्तर्याम्यसुधारिणोः ॥

अधीयते भिदां सत्यामित्याह सूत्रकृत्स्वयम् ॥ ५८ ॥

काण्वा इति । शरीरञ्चोभयेपि ऽहि भेदेनैनमधीयत इति हि सूत्रम् । उभये काण्वा माध्यन्दिनाश्चैनं शरीरमन्तर्यामिणः सकाशाद्भेदेनैवाऽधीयते पठन्ति य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽऽत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इति माध्यन्दिना यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरमिति हि काण्वाः ॥ ५८ ॥

अस्माच्छरीरभेदात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्यस्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यत इति श्रुतिमुदाहरति--

अस्मीच्छरीरतो जीवो निःसृत्येशप्रसादतः ॥

प्राप्य ज्योतिः परं स्वेन रूपेणाऽऽस्ते सुखाप्लुतः ॥ ५९ ॥

अस्मादिति । अस्मात्प्राकृतात्स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयात्समुत्थाय तद्द्वयं विहाय परं ज्योतिर्हरिं प्रसन्नं लोकविशेषरूपविशेषेण स्थितं प्राप्य स्वेन पूर्णानन्दरूपेणाऽभितोऽशेषेण निष्पन्नो भवतीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

स तत्र पर्यति जक्षन् क्रीडन् रममाण इति श्रुतिमुदाहरति-

स्त्रीभिः ना कामगयानैश्च क्रीडंस्तु रमते सदा
आनन्दोद्रेकतः क्रीडा नाऽप्राप्तमुखलब्धये ॥ ६० ॥

स्त्रीभिरिति ॥ ६० ॥

मोक्षे भेदकमानानां सत्त्वात्सत्या भिदा चिताम् ॥
अवस्थानं स्वरूपेण परमा मुक्तिरुच्यते ॥ ६१ ॥

यद्यपि जक्षन्नित्यादिश्रुतिषु भेदवाचकं पदं नाऽस्ति कथं तत्रभेद
सिद्धिस्तथाऽपि भेदकान् धर्मान् बोधयतां वाक्यानां सत्त्वात् भे-
दसिद्धिः भेदविषयकवद्भेदकविषयकेनाऽपि मानेन भेदसिद्धिरिति
भावः ॥ ६१ ॥

नन्वस्तु लोकविशेषावाप्तिलक्षणावान्तरमुक्तौ भेदः परममुक्तौ-
तु नाऽस्तीत्यत आह—

स्वस्वरूपेण निष्पत्तिर्मुक्तिर्वेदानुवर्तिनाम् ॥
आत्मनाशो हि बौद्धानां नाऽन्या मुक्तिः कथंचन ॥ ६२ ॥

स्वेति । परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यत इत्या-
दिनोक्ता परमैव मुक्तिर्हि यतो वैदिकानामस्वाभाविकाविद्यादिसंसर्गं
विहाय निजरूपेणाऽवस्थानं परममोक्षः आत्मनाशो बौद्धानां निः
शेषाविद्यानिवृत्तिपूर्वकस्वरूपाविर्भावातिरिक्ता मुक्तिर्वैदिकानां सम्म
ता नाऽस्तीत्यर्थः ॥ ६२ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

मुक्ती परापरे न स्तो वैदिकानां मते कचित् ॥
वञ्चयन्ति परं केचित् प्रदर्श्य श्रुतिसाक्षिताम् ॥ ६३ ॥

मुक्ती इति । परापरे द्वे मुक्ती वैदिकानां संमते स्तः केचिन्मा-
यिनोऽतत्परस्याऽपि वाक्यस्य तत्परतां प्रदर्श्य मन्दभाग्यान्मनु-
ष्यान्मुक्तिद्वैविध्येन ॥ ६३ ॥

ननु नाना तन्त्रविदःश्रुतिव्याख्यातारस्तेऽपि सन्तीति कथमेव
मुच्यते तत्राऽऽह—

सुभगाभिश्चुकन्यायमाश्रित्य दूषयन्ति हि ।

श्रुतिनयं स्वभावश्चाऽऽसुरम्प्राप्ता हरिद्विषः ॥ ६४ ॥

यथा गृहागतो भिक्षुको भिक्षा नाऽस्तीति दास्या प्रत्युक्तः परावृत्य चलितः कुतश्चिदागतया गृहस्वामिन्या पुनराकारितः प्रत्याशयाऽऽगतः केयं दुष्टा दासी परतन्त्रा निवारयित्री किन्त्वहं गृहस्वामिनी वदामि भिक्षा नाऽस्तीत्युक्तो भग्नाशो गतस्तथा के वौद्धा वराका वेददूषका इति तान् धिक्कृत्य स्वयं वेदं दूषयति मायीति न्यायार्थः वेददूषणे हरिद्वेषे त्वासुरस्वभाव एव बीजम् ॥ ६४ ॥

प्रलपन्ति यदीशैक्यं जीवे तद्धि वृथाऽऽग्रहात् ।

न स्वभावं विना तत्र किञ्चिन्मानं हि विद्यते ॥ ६५ ॥

यज्जीवेशयोरैक्यं प्रलपन्ति तद्वृथाऽऽग्रहोदेव तत्र दुराग्रहे आसुरस्वभावं विनाऽन्यत्किमपि मानं नाऽस्तीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

व्याख्येयः सूत्रसंघातोऽद्वैतहन्ता कथं परैः ।

यद्युच्येत मृषार्थानि सूत्राणीति गतत्रपैः ॥ ६६ ॥

“नेतराऽनुपपत्तेः” “भेदव्यपदेशाच्च” “भेदव्यपदेशाच्चाऽन्यः विवक्षितगुणोपपत्तेश्च” “अनुपपत्तेस्तु न शरीरः” “विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां नेतरौ सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन” शरीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैव मधीयते “पृथगुपदेशादित्यादि” सूत्रसमूहोऽद्वैतदूषको मायावादिभिः कथं व्याख्येयः यदि त्यक्तलज्जैर्मृषाभूतव्यावहारिकभेदपराणि सूत्राणीत्युच्येत तर्हि व्याख्यातेत्युत्तरेणाऽन्वयः ॥ ६६ ॥

व्याख्याता सौगतः किं न स्याद्वेदस्य यथा परः ।

सत्ताभेदोऽस्ति तस्याऽपि वञ्चका येन मायिनः ॥ ६७ ॥

यदि श्रुत्याद्युक्तो मृषाभूतो व्यावहारिकः परमार्थतो भेदो नाऽस्तीति श्रुत्यादिकं व्याख्यायेत मायिभिस्तर्हि सौगतो व्यावहारिकभेदादिपरतया श्रुत्यादिकं व्याख्याय परमार्थतः शून्यमेवेति व्याकुर्वन् वेदव्याख्याता कुतो न स्यात् । वौद्धमतीयं सत्ताद्वैविध्यं हि वक्ष्यते येन सत्ताभेदेन श्रुतिदूषका अपि मायिनः श्रुतिव्याख्यातृत्वं स्वस्य दर्शयन्तो लोकान्वञ्चयन्तीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

असद्वेत्यादिवाक्यानि तत्त्वार्थकानि तस्य हि ।

अवेद्यत्वं समं ब्रह्मशून्ययोरुभयोर्मते ॥ ६८ ॥

असद्वा इदमग्र आसीदिति सर्वासत्त्वबोधकवाक्यानि सौगत-
स्याऽनुकूलानि स्युर्मानावेद्यत्वादिरूपं अज्ञानाद्यविरोधिपारिभाषिक
स्वप्रकाशत्वादिकं चोभयोर्मते ब्रह्मशून्ययोस्तुल्यम् । सर्वशब्दावा-
च्यत्वादिकमपि तुल्यं यद्यत्प्रमाणस्पृष्टं तन्मृषेत्यपि तुल्यम् ॥ ६८ ॥

ननु निरधिष्ठानकभ्रमान्यथानुपपत्त्याऽधिष्ठानतया ब्रह्मणः सत्त्वं
भवेत्तत्राऽऽह--

चाक्षुषादिभ्रमे शुद्धं ब्रह्माऽधिष्ठानतामियात् ।

कथं मायिमते नो चेद् दृश्यताऽतथ्यता भवेत् ॥ ६९ ॥

चाक्षुषेति । चक्षुरादिजन्ये शुद्धं निर्विशेषं चक्षुराद्यगम्यं-
माय्यभिमतं ब्रह्म कथमाधिष्ठानतामियात्प्राप्नुयात् भ्रमाविषयो-
भ्रमाधिष्ठानं भवति नो चेत्तस्य चाक्षुषत्वाधिष्ठानत्वाङ्गीकारे दृश्यता
अतथ्यता मिथ्यात्वं च स्यात् मिथ्याभूतस्य च तन्मते ज्ञानाधीन-
त्वात्सुतरामज्ञानादिकं प्रत्यनधिष्ठानत्वम् ॥ ६९ ॥

संवृत्यावृतशून्यस्य जीवभावं तथागतः ।

एकतानेकते तत्र स्वीकरोति हि मायिवत् ॥ ७० ॥

तथागतो बौद्धः शून्यवादी संवृत्याऽविद्यया आवृतस्य शून्यस्य
जीवत्वं तत्राऽपि जीवेषु मतभेदेनैकत्वं बहुत्वं च मायिवत्स्वी-
करोति तस्य परं सौकर्यं वेदप्रामाण्यानभ्युपगमात् । मायिनां वेद-
प्रामाण्याभिमानवतां न सौकर्यं जीवबहुत्वस्वर्गनरकबन्धमोक्षगुरु-
शिष्यनियम्यनियामकादिव्यवस्थां वदन्तीनां श्रुतीनामप्रामाण्या-
पत्तेः । व्यावहारिकभेदाय व्यवस्थोपपत्तिस्तु सौगतस्याऽपि सम्भ-
तीति सोऽपि वेदव्याख्याता स्यात् ॥ ७० ॥

भगवता समयपादे ये सांख्यचार्वाककाणादसौगतजैनाद्या नि-
राकृतास्तत्रेश्वरानादर एव निराकरणे वीजं तच्च मायिनो मते स्फुटं
तस्य शून्यवादिनिराकरणेनैव निरासात्पृथङ् न निराकृत इत्याशये-
नाऽऽह--

यत्समयान्निराचष्ट समयार्द्धौ दयानिधिः ।

बीजं तत्र निरीशत्वं मायिनोऽपि च तत्स्फुटम् ॥ ७१ ॥

समयानिति। समयार्द्धौ समयपादे निराचष्ट निराकृतवान् तत्र निराकरणे यद्वीजं विश्वस्य निरीश्वरत्वं तच्च ब्रह्मविवर्त्तं विश्वं शुक्तौ-
रूप्यवादित्यभ्युपगन्तुर्मायिनो ऽन्यापेक्षया स्फुटमस्तीत्यर्थः ॥ ७१ ॥

ननु समयपादे मायी न निराकृतस्तत्राऽऽह—

शून्यवादिनिराकृत्या मायाव्यपि निराकृतः ।

क्षुद्रत्वाच्च पृथङ् नैव तमुदाकृतवान् प्रभुः ॥ ७२ ॥

शून्येति । शून्यवादि निराकरणेनैव मायावाद्यपि निराकृतः
परोच्छिष्टसंग्राहकत्वात् क्षुद्रोऽतो भिन्नतया नोद्वङ्कितः । न च माया-
वादस्या ऽऽधुनिकत्वमेव पृथग्दूषणे बीजम् । प्रतिकलियुगं तत्स-
म्भवात् । कलीनां बहूनामतीतत्वेनाऽनाधुनिकत्वात् वेदविरुद्धम-
तान्तराणां न्यूनाधिकभावेन सर्वदा प्रचारो मायावादस्य तु कलावेव।

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं वैद्वमुच्यते ।

मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणेति—

पाद्मे देवीं प्रति रुद्रोक्तेः ॥ ७२ ॥

तत्रादौ निरीश्वरसांख्यान्निराकरोति—

प्रवृत्तिर्न स्वतो युक्ता प्रधानस्य जडत्वतः ॥

स्वीकार्यश्चेतनः कर्त्ता कर्म नाऽतो हि सर्जने ॥ ७३ ॥

प्रवृत्तिरिति । जडस्य प्रधानस्य स्वतश्चेतनानाधिष्ठितस्य प्रवृ-
त्तिर्न युक्ता नहि दृष्टा च अतोऽकामेनापि सांख्येन विश्वसर्जने चे-
तनः स्वतन्त्रः कर्त्ता स्वीकार्यः ननु दध्यातश्चनेन यथा दुग्धं दधित्वं
याति तूलं पतति तृणादनेन गवां दुग्धं स्रवति जलं स्यन्दते तथा जड-
स्याऽपि प्रधानस्याऽपि परिणामः स्यादिति चेन्न तत्राऽपीश्वरप्रेरण-
यैव कार्यसम्भवेन दृष्टान्तासिद्धेः नत्वत्क्रियते किञ्चनेति श्रुत्या कार्य-
मात्रस्येश्वरकर्तृकत्वोक्तेः ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव—

इति स्मृतेश्च ॥ ७३ ॥

नन्वस्तु चेतनोपसर्जनकजडमेव विद्वकर्तृ आत्मोपसर्जनं देहस्य पापाणाहरणादिदर्शनादिति सांख्यैकदर्शिनं निराकरोति--

आत्मोपसर्जनस्याऽपि प्राणस्य न च कर्तृता ॥

चेतनस्यैव मुख्यं हि लोके दृष्टं प्रवर्तनम् ॥ ७४ ॥

आत्मेति । पापाणानयनादावपि चेतनस्यैव प्रधान्यं देहस्तु सहकारिमात्रं योऽहं सुप्तःस्थितः स एवाऽहमिदं करोमीति सुषुप्त्याधारस्य चेतनस्यैव हि लोके प्रवर्तनं प्रवृत्तिरनुभवसिद्धा “अस्माच्छरीरभेदात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाण” इति वेदेऽपि देहान्निर्गतस्य चेतनस्यैव प्रवृत्त्युक्तेः ॥ ७४ ॥

ननु चेतनोऽकर्ता भोक्ता पञ्चपत्रवन्निलेपश्चेति सांख्याभिमतं मेयान्तरं निराकरोति—

न निर्लेपो न चाऽकर्ता सर्वदा चेतनो मतः ॥

विधिनिषेधशास्त्रस्य वैयर्थ्यं स्यात् तदा भृशम् ॥ ७५ ॥

नेति । अविद्यायुक्तसांसारिककर्तृत्वाभावेऽपि स्वरूपगतं कृतिमत्त्वादिरूपमस्त्येव जक्षन्नित्यादिश्रुतेः अविद्यायुक्तस्य वास्तवं सांसारिककर्तृत्वमप्यस्ति सुषुप्तिमूर्च्छाप्रलयसमाधिषु स्वरूपगतं कृतिमत्त्वमस्त्येव अतो यदि जीवस्य कर्मकर्तृभोक्तृत्वादिकं न स्यात्तदा यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यादिविधिनिषेधशास्त्रवैयर्थ्यं स्यात् न हि जडं शास्त्रनियोज्यं स्वर्गमोक्षनरकादिफलभोक्तृ चेति युक्तम् । न च दर्पणगतमालिन्यस्य मुख इव बुद्धिस्थस्य कर्तृत्वस्याऽऽत्मन्यारोप इति वाच्यं यत्र वास्तवकर्तृत्वं तत्रैव भोगापत्तेः चेतनोऽहं करोमीति चेतनत्वकर्तृत्वयोः सामानाधिकरण्यप्रतीत्या वास्तवचेतनत्वस्य बुद्धिस्थत्वापत्तेः । मोक्षसाधनश्रवणाद्यनुकूलकृतिमत्या बुद्धेरेव मोक्षापत्तेश्च । नच वास्तवो बन्धो मोक्षश्च नास्त्येव चेतनस्य सदा निर्लिप्तत्वाद् बुद्धेरनित्यायास्तदयोगादिति वाच्यम् ।

क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरोति ।

“तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये” ॥

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

तेऽपि चाऽतितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।

सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥

वद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये केचाऽत्महनो जनाः ॥

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमाङ्गति—

मित्यादि श्रुतिस्मृतीनां मोक्षबन्धप्रतिपादिकानां वैयर्थ्यापत्तेः तद-
प्रामाण्यमङ्गीकर्त्ता तु चार्वाकनिरासावसरे निरसिष्यते ॥ ७५ ॥

जीवोऽकर्त्तैत्यत्र चाऽधिकां स्मृतिमुपन्यस्यति—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ॥

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ॥ ७६ ॥

यदिति । नह्यत्र जडं सम्बोध्यं मोक्षादिरूपफलभोक्तृ च न वा
बुद्धिगतं कर्तृत्वादिकं जीवे मिथ्याभूतमारोपितमीश्वरस्य प्रत्यक्षं
सम्भवति येन तदर्पणादिकमुपदिशेत् मायामोहं विना मायिकदर्शना
ऽसम्भवात् ॥ ७६ ॥

ईश्वरस्य कर्तृत्वे स्मृतिमाह—

सर्गस्थितिविनाशास्तु भगवान्मधुसूदनः ॥

तैस्तै रूपैरचिन्त्यात्मा करोत्यव्याहतान्विभुः ॥ ७७ ॥

सर्गेति ॥ ७७ ॥

नन्वीश्वरस्य कर्तृत्वे क्लेशो विकारित्वं कर्मफलभोक्तृत्वं च स्या-
त्तत्राऽऽह—

क्लेशकर्मविपाकैश्च सदा हीनो जनार्दनः ॥

धर्मिग्राहकमानेन स्वतन्त्रो ऽचिन्त्यशक्तिमान् ॥ ७८ ॥

क्लेशेति । जनार्दनः क्लेशादिनाऽस्पृष्ट एव धर्मिग्राहकमानेन सिद्धः
यथा शिलातले सहस्रधा जलसेकेऽपि नाऽङ्कुरोद्भवः स्वरूपायोग्य

त्वात् तथेशस्य कर्तृत्वेऽपि न तत्फलभोक्तृत्वमयोग्यत्वात् ।

न मां कर्माणि लिपन्तीत्यादिस्मृतेः ।

तथा चाऽऽह श्रीपतञ्जलिः क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष इति तत्राऽविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः अनात्मन्यात्मबुद्धिरविद्या इदं मदीयमित्यभिमानोऽस्मिता विषयेष्वासक्ती रागः कोपो द्वेषः भयमभिनिवेशः अत एव तन्त्रान्तरे तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति व्यवहियन्ते कर्मविधिनिषेधौ आशयो धर्मो विपाकस्तत्फलं सुखदुःखे तैर्नित्यमस्पृष्टः पुरुष ईश्वर इति सूत्रार्थः । न चेशस्य कर्तृत्वे विकारित्वं स्यात् कार्यानुकूलज्ञानेच्छाकृतिमत्त्वादिरूपकर्तृत्वस्य विकारानापादकत्वात् न हि घटादिकं कुर्वति कुलालादौ रूपान्तरापात्तिरूपः कोऽपि विकारो दृश्यते न चेशस्य परिश्रमापत्तिः तदीयविश्वकर्तृत्वस्य लीलारूपत्वात् न हि लीलां कुर्वतः काऽपि परिश्रमो दृष्टो युक्तो वा अतः प्रकृतिजीवादृष्टादिकं कारकजातं सर्वमीश्वरार्थानस्वरूपसत्ताशक्तिकं सद्भिश्चजन्मलययुक्तं स्वतन्त्रोऽचिन्त्यानन्तशक्तिस्त्वेक एव हरिरिति सिद्धम् ॥ ७८ ॥

ननु परमाणव एव द्व्यणुकादिक्रमेण जगदारभन्ते जीवादृष्टानीश्वरश्च निमित्तहेतुरिति कणादाक्षपादयोर्मतं स्मृत्या निरस्यति—

प्रकृतिं पुरुषं चाऽपि प्रविश्याऽऽत्मेच्छया हरिः ॥

क्षोभयामास संप्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ ॥ ७९ ॥

प्रकृतिमिति । किञ्च परमाणूनां निरवयवानां संयोगासम्भवेन द्व्यणुकाद्युत्पत्त्यसम्भवात् संयोगस्याऽव्याप्यवृत्तित्वनियमात् अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वहीः प्रजाः सृजन्ती”मित्यादि श्रुत्या ।

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिते—

त्यादिस्मृत्या चेश्वराधिष्ठितप्रकृतेर्जगत्कारणत्वं बोध्यते तथा कुत्राऽप्यागमे परमाणूनां हि तन्नोच्यते एतेन ज्ञानेच्छाप्रयत्नादिभिः कतिपयैः परिमितैर्युक्तः परेशो नानानन्तगुणो न वा ज्ञानानन्दस्वरूपो नित्यसुखरूपो वा जीवोऽपि न ज्ञानानन्दस्वरूपः षोडशषु सप्तसु वा पदार्थेषु विभिन्नतया मुमुक्षुक्षेपेषु मध्यनिविष्टः परेशस्तद्वदेवेतर-

भिन्नतया ज्ञेयो न तु सर्वनियन्तृत्वाद्यनन्तगुणवत्त्वेनेति निरस्तम् ।

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ता—ननुक्रमिष्यन्स तु बालबुद्धि—
रित्यादिस्मृतेः “विज्ञानमानन्दं ब्रह्म आनन्दं ब्रह्मणो विद्वानि”त्या
दिश्रुतेः “तमेव विद्वानमृत-इह भवतो”त्यादिसावधारणश्रुत्येशज्ञान-
स्यैव मोचकत्वोक्तेश्च ।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छती—

त्यादिस्मृतिभिरैश्वर्यज्ञानस्यैव मोचकत्वोक्तेश्च जीवस्य ज्ञानान-
न्दरूपत्वं सौषुप्तिकानुभवेन हि सिद्धं न हि सुषुप्तौ जन्यं ज्ञानं सुखं
चाऽस्ति न वा सुखोत्थितस्य सुखमस्वाप्समिति सुखपरामर्शः सुषुप्तौ
सुखानुभवं विनोपपद्यते । अतोऽन्यसाधारणतया ज्ञेयं परिमितगुणम-
जागलस्तनतुल्यमीश्वरमङ्गीकुर्वन्तोऽर्थतस्तमनाद्रियमाणा निरीश्व-
रा एव काणादादय उपेक्ष्याः योगिनः चित्तेकाग्रार्थमङ्गीकुर्वन्तोऽर्थतो
निरीश्वरा एव न च भगवता समयपादे जैमिनीया न कुतो निराकृताः
तेषामन्तःकरणशुद्ध्यर्थकर्ममात्रनिरूपणं कुर्वतामीश्वरे ऽनादराभावात्
न हि कुत्रापि तैरीश्वरो निराकृतः मीमांसका निरीश्वरा इत्याधुनि-
कप्रवादस्तु भ्रान्तिमूलक एव तदीयसूत्रेषु तथोक्तेरभावात् । न च
तेषामीश्वरादरे मानाभावः भगवता ऽनिराकरणेन तदनुमेयत्वात् ॥७९॥

शैवशाक्तादिमार्गोऽपि मुमुक्षोर्निषिद्ध इत्यर्थकभारतमुदाहरति—
नाऽन्यदेवं नमस्कुर्यान्नाऽन्यदेवं निरीक्षयेत् ॥

चक्राङ्कितः सदा तिष्ठेन्मद्भक्तः पाण्डुनन्दन ॥ ८० ॥

नान्यदेवमिति । स्वातन्त्र्येणैवाऽन्यदेवनमस्कारादिकं निषिद्धं
हरिपरिकरत्वेन तु देवान्तरं नमस्कार्यमेव ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामतां तरन्ति त—

इति सावधारणस्मृत्या देवान्तरप्रपत्तेर्निरासात् ॥

यो यो यां यां तनूं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।

तस्य तस्याऽचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥

लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान् ।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद् भवत्यल्पमेधसामिति—

देवान्तरोपासनजन्यफलस्य नश्वरत्वं तेषां चाल्पमेधस्त्वोक्त्वा
देवान्तरस्य मुमुक्ष्वनुपास्यत्वं स्पष्टम् ॥ ८० ॥

तेषामल्पमेधस्त्वं स्मृत्यन्तरेण स्फुटयति—

वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते ॥

तृपितो जाह्नवीतीरे कूपं खनति दुर्मतिः ॥ ८१ ॥

वासुदेवमिति । यथा तृपितस्य गङ्गातीरेकूपखननमनुचितं तथा
मुमुक्षोर्हरिं विहायाऽन्यदेवभजनमनुचितमिति भावः ॥ ८१ ॥
मोक्षधर्मवाक्यमुदाहरति—

ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चाऽन्या देवताः स्मृताः ॥

प्रतिबुद्धा नसेवन्ते मामेवैष्यन्ति यत्परम् ॥ ८२ ॥

ब्रह्माणमिति । यद्यस्मात्प्रतिबुद्धा ब्रह्मापरोक्षज्ञानिनो मामेवैष्य-
न्ति मुक्तौ प्राप्नुवन्त्यतस्ते ब्रह्मादीन् सेवन्ते न सेवेरन् सेवायास्त-
ज्जन्यज्ञानस्य तज्जन्यप्राप्तेश्च समानविषयकत्वात्

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपीति—

स्मृतेश्च ॥ ८२ ॥

ये साक्षादर्थतो वा निरीश्वरवादिनो वैदिकमन्यास्ते निरस्ताः
पापाण्डिषु निरसनीयेष्वतिदुष्टं चार्वाकमादौ महामल्लभङ्गन्यायेन नि-
रस्यति—

अदृष्टं निह्नुवानो यो देहात्मत्वं समाश्रितः ॥

सर्वव्यवस्थितेः स्याद्धि विच्छेदो हेत्वभावतः ॥ ८३ ॥

अदृष्टमिति । अदृष्टं धर्माधर्मादिकं निह्नुवानोऽपलपन् देहस्यैवाऽऽ-
त्मत्वमङ्गीकुर्वन्त्यो लोकान्प्रतारयति तस्य मते सुखदुःखादियुक्तविवि-
धविचित्रप्राणिसृष्टिव्यवस्थोच्छेदः स्यादित्यर्थः देहस्य परिणामिनः-
कालभेदेन भिन्नत्वाद्योऽहं बाल्ये पितृनन्वभवं स एवाऽहं वार्द्धक्ये पि-
तृननुभवामीति प्रत्यभिज्ञा योऽहं स्वप्नव्याघ्रदेहः स एवाऽहमिदानी-
मनुष्यदेह इत्यननुगतदेहेष्वनुगतानुभवश्च विरुद्धेत । ननु स्वभावा-
देव विविधविषयमसृष्ट्युपपत्तिरिति चेन्न स्वभावो ह्यदृष्टं दृष्टं वा ऽऽद्ये-

सिद्धं नःसमीहितं पुण्यपापेश्वरान्यतमेनैवाऽदृष्टेन वैचित्र्योपपत्त्या-
त्वन्मतभङ्गोपपत्तेः द्वितीये तत्तद्वस्तुस्वरूपं ततो भिन्नं वा नाऽऽद्यः नि-
निमित्तककार्योत्पत्त्यापत्तेरनुद्धारात् न द्वितीयः दृष्टस्य नियामकान्त-
राकाङ्क्षाया आवश्यकत्वात् एकस्मादेव दृष्टवस्तुनोमात्रादेर्नृपभि-
क्षुकयोरुत्पत्तिदर्शनाच्च । न च कार्यगतस्वभावो नियामक आत्मा-
श्रयापत्तेः ॥ ८३ ॥

नन्वर्थकामावेव पुरुषार्थौ परलोकादिकं नाऽस्त्येवेति निःशङ्क-
विषयं भुञ्जानः पुमानतिरतिमान् न हि धर्माधर्मतो भीतस्य पुंसः
कामो रतिकरो भवत्यतो लोकान्सुखं प्रापयन्नेतादृशमार्गोपदेष्टाऽत्य-
न्ताप्तो भवतीत्यत आह—

हन्युः शिष्या गुरुङ्कामात्तद्भार्याग्रहणेच्छया ।

निर्मर्यादञ्जगन्नश्येत्कामार्थैकपरैर्नृपैः ॥ ८४ ॥

हन्युरिति । यदि पुण्यपापस्वर्गनरकादिकं नाऽस्ति तदा शिष्याः
कामातुराः सन्तो निःशङ्कं गुरुं हन्युस्तं हत्वा च तद्भार्या गृहीयुर्न-
पैर्वलवद्भिर्निर्मर्यादं निःशङ्कं परधनदारादिकमपहरद्भिर्जगन्नश्येत्
खगमृगवानरादीनामिव परस्परभयसंत्रस्तानां पुंसां सुखलेशोऽपि न
स्यात् ॥ ८४ ॥

ननु शब्देन नरकादिदुःखं श्रुत्वा लोका अतिभीता भवन्तीति
लोकसुखाय प्रत्यक्षान्यस्य शब्दादेः प्रमाणत्वं नाऽङ्गीकार्यं तच्चाऽऽह—

प्रत्यक्षमेव यद्येकं प्रमाणं नाऽपरं तव ।

प्रवर्त्तेत कथं धूमं दृष्ट्वाऽग्न्यर्थी हि पर्वते ॥ ८५ ॥

प्रत्यक्षमिति । अपरमनुमानादिकं यदि तव मते प्रमाणं न स्यात्
धूमं दृष्ट्वाऽग्न्यर्थी पुमान् पर्वतादौ कथं प्रवर्त्तेत न च सम्भावनयैव
प्रवृत्तिः उत्कटकोटिकसंशयरूपायाः संभावनाया बह्वायाससाध्यनिष्क-
म्पप्रवृत्तिजनकत्वाऽसम्भवात्संभावनायास्तादृशप्रवृत्त्यादिजनकत्वे
प्रमाणत्वापत्तेश्च शिष्यसंशयविपर्ययादेर्गुरोरप्रत्यक्षत्वेनोपदेशानुपप-
त्तेश्च । किञ्चाऽप्रत्यक्षेऽप्रामाण्यमबोधकत्वं तदभाववति तद्वोधकत्वं
वा ऽऽद्ये शिष्यबोधनाय तव शब्दप्रयोगानुपपत्तिः द्वितीये नाऽप्रत्यक्षं
प्रमाणमितित्वदीयवाक्यस्याऽप्रामाण्यमावश्यकं तच्चाऽप्रामाण्यवत्य

प्रामाण्यप्रकारकत्वादिरूपमनुमानादेः प्रामाण्ये सत्येवोपपद्यते ।
त्वदीयवाक्यस्याऽप्रामाण्यवत्यप्रामाण्यप्रकारकत्वरूपप्रामाण्ये हीदं
वाक्यमेव प्रत्यक्षभिन्नं प्रमाणमित्युभयथा प्रत्यक्षभिन्नस्याऽप्रामाण्यं
व्याहतम् । किञ्चाऽतीन्द्रियसंस्कारानङ्गीकारे बाल्यानुभूतस्य वस्तु-
नो वार्द्धक्ये स्मरणानुपपत्तिः तदङ्गीकारे परिणामभेदभिन्नदेहातिरि-
क्तः संस्काराश्रयतयाऽऽत्मा सिद्ध्येदेव ॥ ८५ ॥

नन्वस्तु देहभिन्नस्तत्तुल्यपरिमाण इति जैनमतं निरस्यति -

देहमानमितस्य स्यान्म्यूनाधिकतया स्थितिः ।

मानभेदाद्विकारित्वं देहात्मत्वं समापतेत् ॥ ८६ ॥

देहेति । देहपरिमाणतुल्यश्चेदात्मा तर्हि पिपीलिकादेहस्थितस्य
हस्तिदेहं प्राप्तस्य न्यूनतया हस्तिदेहस्थस्य पिपीलिकादेहं प्राप्तावा-
धिक्येन चाऽवस्थानं स्यात् ननु यं देहं प्राप्नोति तत्परिमाणको भवतीति
चेत् परिमाणभेदेन विकारित्वं स्यात्तथा च देहात्मत्वमतमेव पर्यवसन्नं
स्पष्टं मनुष्यमत्स्यहस्ति सर्पवृक्षादिदेहानां परिमाणाधीनत्वेन मो-
क्षेऽपि देहावस्थितिः स्यादात्मा वा परिमाणहीनः स्यात् न हि भौति-
को देहो मोक्षे भवति संसाराविशेषापत्तेः न वा परिमाणहीनस्याऽऽ-
त्मरूपद्रव्यस्य स्थितिर्युक्ता ॥ ८६ ॥

द्विविधं विश्वं जीवाजीवात्मकं निरीश्वरं तच्च पङ्द्रव्यात्मकं
जीवधर्माधर्मपुद्गलकालाकाशानि द्रव्याणि तत्र जीवास्त्रिविधाः वद्धा-
योगसिद्धा मुक्ताश्चेति धर्मो गतिर्जगद्याप्यम् अधर्मः स्थितिहेतुर्व्या-
पक एव पुद्गलो रूपरसगन्धस्पर्शवद् द्रव्यं तत् द्विविधं परमाणुरूपं
संघातरूपं च कालो भूतभविष्यदितिव्यवहारहेतुरणुरूपः आकाश-
एकोऽनन्तप्रदेशश्च स द्विविधो लोकाकाशोऽलोकाकाशश्चेति अत्र-
मोक्षोपयोगिनः सप्त पदार्थाः जीवाजीवाश्रवबन्धनिर्जरसंवरमोक्षाः
जीवो ज्ञानदर्शनसुखवर्यगुणः अजीवो भोग्यवस्तु आश्रवं सद्भोगो-
पकरणमिन्द्रियादिकं निर्जरो मोक्षसाधनं तपः संवर इन्द्रियनिरोधः
मोक्षः स्वाभाविकात्मस्वरूपाविर्भावः सम्यग्ज्ञानसम्यग्दर्शनस-
म्यक्चरित्राख्यरत्नत्रयात्मको मोक्षहेतुरित्येतद्विश्वं सप्तभङ्गि स-
दित्येकः प्रकारः असदिति द्वितीयः सदसदात्मकस्तृतीयः सद-
सद्विलक्षणश्चतुर्थः सत्त्वे सति तद्विलक्षणमिति पञ्चमः असत्त्वे सति

तद्विलक्षणमिति पष्ठः सदसदात्मकं सदसद्विलक्षणं चेति सप्तमः
एवं भिन्नत्वनित्यत्वादिषु सप्त प्रकारा ऊह्या अतः कार्यकारण-
नियमासम्भवादिति विश्वंहतुतया नेश्वरसिद्धिरिति जैना वदन्ति
तत्र जीवात्मकत्वादिप्रक्रियायाः काकदन्तपरीक्षातुल्यताप्रदर्शनाय
वर्णनं सप्तभङ्गोव सेश्वरमतविरोधीति तन्निराकरोति—

तिष्ठेयुः कथमेकत्र प्रकारा एकदैव हि ।

विरुद्धा न कुतस्ते स्युर्नियामकस्य वर्जनात् ॥ ८७ ॥

तिष्ठेयुरिति । एकस्मिन्नेककालावच्छेदेन परस्परं विरुद्धाः प्रकाराः
कथं तिष्ठेयुः अन्यथा सप्तैव कुतः सप्तप्रकारवत्त्वे सति तद्भिन्नमित्याद्या
अन्येऽपि प्रकाराः कुतो न स्युः सप्तैव प्रकारा इत्यत्र मानाभावात् वस्तू-
नामेकैकाकारनियमदर्शनेन सप्तप्रकारबाधाच्च न चैकैकप्रकारदर्शनं
भ्रमः बाधाभावात् न च विश्वसत्त्वाङ्गीकारे सद्वाद्युक्तदोषो ऽसत्त्वा-
ङ्गीकारे ऽसद्वाद्युक्तदोष इत्यनियम इति वाच्यम् । तव सदसदात्मक-
त्वाद्यङ्गीकारे सद्वाद्यसद्वाद्युक्तदोषाणां समुच्चितानामापत्तेः किञ्च
यदि प्रमाणविरुद्धमपि सप्तप्रकारत्वं स्वीक्रियते तदा भूतमात्र
हिंसाया धर्मत्वमहिंसाया अधर्मत्वं शशस्य शृङ्गित्वं गोरशृङ्गित्वं
मार्तुर्वन्धात्वं भगिनीपुत्र्यादेश्च भार्यात्वं गोमांसभक्षणादेर्धर्मत्वं तद्व-
र्जनादेरधर्मत्वं जिनाभ्युपगतस्याऽप्रामाण्यं वेदस्य प्रामाण्यं मुक्तस्या-
ऽपि बद्धत्वं बद्धस्याऽपि मुक्तत्वं सिद्धस्याऽपि रागित्वं रागिणोऽपि
सिद्धत्वमित्यादिकमपि प्रमाणविरुद्धं कुतो नाऽङ्गीक्रियते किञ्च श्रुधि-
तस्याऽन्नभोजने तृपार्त्तस्य जलपाने नियमेन प्रवृत्तिर्न स्यात् क्षुत्रिव-
र्त्तकतावच्छेदकतृप्तिजनकतावच्छेदकादेरेकान्तधर्मस्या ऽनङ्गीकारा-
दित्युपेक्ष्यो प्रामाणिकविरुद्धभाषी जैनः तथा जगति सदसद्भेदः
औपनिषदं ब्रह्म सर्वशब्दावाच्यं विश्वं सदसद्भिन्नमित्यादिकं व्याहृतं
वदन्माय्यप्युपेक्ष्यः ॥ ८७ ॥

ननु परमाणुपुञ्जात्मकं घटपटादिविश्वम् कालतः क्षणिकं
देशतः परमाणुस्वरूपं वस्तुतत्त्वं न च स्थूलं वस्त्वस्ति संस्काररूप-
विज्ञानसंज्ञानसंज्ञादुःखानीति पञ्च स्कन्धाः तदात्मकं विश्वं सन्ता-
नतो नित्यं समनन्तरं प्रत्ययः संस्कारस्कन्धः रूपरसगन्धस्पर्शात्म-
काः परमाणवो रूपस्कन्धा निर्विकल्पकं ज्ञानं विज्ञानस्कन्धः सविक-

ल्पकं ज्ञानं संज्ञास्कन्धः वेदनापरपर्यायो दुःखस्कन्धः दुःखाभाव एव
सुखं सामान्याभाव एवाऽऽकाशः रूपादय एव पृथिव्याद्याः संख्याद्या-
गुणा न सन्त्येव पृथगनुपलम्भात् देशान्तरोत्पाद एककर्माक्षणिक-
स्य वास्तवकर्मायोगात् संनिकृष्टोत्पत्तिरेव संयोगव्यवहारगोचरः
अतद्व्यावृत्तिरेवाऽनुगतधीगोत्वादिः सन्तन्यमानं ज्ञानमेवाऽऽत्मा तस्य
विषयोपप्लवः संसारः निर्विषयतया ऽवस्थानं मोक्षः कालादिकं नि-
मित्तमतीन्द्रियपरमाणुभ्यः सेन्द्रियः समुदायो घटादिर्जायते किं
तत्रेश्वरेणेति वैभाषिकसौत्रान्तिकयोर्मतं तत्राऽवान्तरभेदमुपेक्ष्य दूष-
यति—

स एवाऽयं घटो ह्येकः स्थूलोऽयं दृष्टवानहम् ।

इति शोधितमानेन सुगतस्य मतं हतम् ॥ ८८ ॥

स इति । स एवाऽयमिति प्रत्यभिज्ञया क्षणिकत्वनिरासः एकः
स्थूल इत्यनेन परमाणुसमुदायो घटादिरिति निरासः शोधितेन
परीक्षितेन मानेन प्रत्यक्षेण प्रमाणापलापे तु त्वदीया प्रक्रियाऽपि न
सिद्ध्येत् किञ्च समुदायो ह्येकहेतुकोऽनेकहेतुको वा नाऽऽद्यः एकस्य
समुदायहेतुतायाः काऽप्यदर्शनात् असम्भवाच्च द्वितीये विरलाना-
मारम्भकत्वे समुदायस्य सदातनत्वापत्तेः सार्वत्रिकत्वापत्तेश्च
आरम्भकाणां विरलाणूनां सदा सर्वत्र सत्त्वात् मिलितानां तु ना-
रम्भकत्वं क्षणिकानामणूनामेकक्षणोत्पन्नानां द्वितीयक्षणेन मेलना
सम्भवात् पार्थिवाणुभ्यः पार्थिवः समुदाय इति नियमो नोपपद्यते
निरन्वयोत्पादविनाशाङ्गीकर्तृमते इदमस्य कारणमिदं नेत्यसम्भ-
वात् न हि कपालादौ घटादेरिव परमाणुसमुदायस्य पूर्वस्थितपर-
माणुपूत्पादविनाशौ क्षणिकमते स्तः किञ्च क्षणिकत्वं क्षणः सम्बन्ध-
श्चेदिष्टापत्तिः स्थायिनोऽपि क्षणसम्बन्धसत्त्वात् क्षणमात्र एवोत्पा-
दनाशवत्त्वं तु घटपटादिवस्तुनः प्रमाणबाधितं क्षणान्तरासम्ब-
न्धित्वं च प्रत्यभिज्ञया बाधितम् न च प्रत्यभिज्ञा भ्रान्तिः बाधाभा-
वात् विश्वस्य दृष्टिसृष्टिं स्वीकुर्वाणोऽर्थतः क्षणिकत्वमङ्गीकुर्वाणो-
माय्यपि निरस्तः सुखस्य न दुःखाभावरूपत्वम् दुःखाभावस्य सु-
खहीने घटादावपि सत्त्वात् विनिगमनाभावेन सुखस्य दुःखाभावरू-
पतापत्तेः आकाशस्य निष्प्रतियोगिकतयोपलम्भादभावरूपत्वास-

म्भवात् गुणानां रूपादीनां पृथिव्यादिभ्यो भेदस्य सर्वानुभवसिद्ध-
त्वात् अगवादेरनुपस्थितावपि गोत्वादेर्दर्शनाद्भावरूपमनुगतं गो-
त्वादिकम् नहीतरोपस्थितिं विनेतरव्यावृत्तिधीः सम्भवति । यस्तु
सौत्रान्तिकोऽनुमेयमेव घटादिकं न प्रत्यक्षमिति स तु प्रत्यक्षेण
जानामीति प्रतीत्यैव निरस्तः ॥ ८८ ॥

ननु स्यादीश्वरो जगत्कर्त्ता यदि ज्ञानभिन्नं जगत्स्यात्तदेव नास्ति
घटपटादीनां ज्ञानाकारत्वादिति योगाचारमतं दृष्टिसृष्टिं स्वीकुर्वतां
मायावादिनाऽपि स्वीकृतं निरस्यति—

घटस्य धीर्घटो नो धीरिति भेदमतिः स्फुटा ।

नाऽस्ति ज्ञानं घटो हीत्यभेदधीः कस्य चित् क चित् ॥ ८९ ॥

घटस्य ज्ञानं घटो न ज्ञानमिति ज्ञानघटयोर्भेदधीः स्फुटा घटो
ज्ञानमित्यभेदधीस्तु कस्य चित्क चिदपि नाऽस्ति न च ज्ञानभिन्नस्य
घटादेः कथं प्रकाशः ज्ञानभिन्नस्याऽपि ज्ञाने प्रकाशे ह्येकस्मिन्सर्वस्य
प्रकाशापत्तिरिति वाच्यम् ज्ञानभिन्नेषु घटादिषु यत्र विषयताख्य-
सम्बन्धस्तस्यैव नाऽन्यस्येति व्यवस्थोपपत्तेः नीलपीतादिविषयक-
समूहालम्बनस्य विरुद्धनानानीलाद्याकारासम्भवाच्च ॥ ८९ ॥

ननु शून्यमेवाऽविद्यापरपर्यायसंवृत्यवच्छिन्नं विविधविचित्र-
जगदाकारेण विवर्त्तते शून्यमेव मनोवचनागोचरोऽद्वितीयं परमं
तत्त्वं पारमार्थिकसत्त्वाभावेऽपि व्यावहारिकापरपर्यायसांवृतस-
त्त्वेनैव जगति सद्बुद्धिरर्थक्रियाहानोपादानादयश्च भवन्ति तच्च
निर्लेपं निर्विशेषं शून्यमस्तीति भावनापरिपाके शून्यापत्तिरिति
मायिनाऽप्यङ्गीकृतं माध्यमिकमतं निरस्यति—

शून्यं केन प्रमाणेन सिद्धं ते निर्विशेषकम् ।

स्वतः सिद्धौ खपुष्पादेः सिद्धिः केन निवार्यताम् ॥ ९० ॥

त्वदभिमतं शून्यं केन प्रमाणेन सिद्धं न तावत्प्रत्यक्षेण
तेन वस्तूनां सत्यत्वेनैव ग्रहणात् नाऽप्यनुमानेन तस्य स-
विकल्पकज्ञानजनकत्वानियमेन निर्विकल्पकधीजनकत्वासम्भवात् ।
सविकल्पधियस्तु त्वदभिमतनिर्विशेषशून्यविरोधार्थावगाहित्व-
नियमात् । ननु स्वत एव सिद्धं तदिति चेत् किं

प्रमाणं विनैव सिद्धं स्वविषयकत्वेन वा ऽऽद्ये खपुष्पशश
 शृङ्गादीनामपि सिद्ध्यापत्त्याऽद्वैतशून्यमतहानिः द्वितीये विषयित्ववि-
 पयत्वादिना सविशेषापत्तिः । किञ्च यद्यसतः शून्यात्परमार्थसदि-
 तिकृतनामकात् कार्योत्पत्तिः स्यात् तदा मधुरादिव सप्तमरसा-
 ज्ञनस्य पीनता स्यात् गोः शृङ्गमिव शशशृङ्गमपि जनस्य घातकं
 स्यात् । किञ्च देशकालवयोवस्थानियमः कार्योत्पत्तावस्ति न वा ऽऽद्ये-
 देशकालादिनियमस्य सत्त्वघटितत्वे सत एव हेतुत्वसिद्धिः द्विती-
 ये कृष्णभूमावेव गोधूमा भवन्ति नोपरभूमौ वसन्ते किंशुकाः पुष्पि-
 ताः न वर्षासु त्रिहायन्येव गौर्गर्भं धत्ते न त्वन्या सतुषा एव व्रीहयो
 ऽङ्कुरान् जनयन्ति नाऽन्यथेति नियमोऽनुभवसिद्धो विरुद्धेत शून्यस्य
 सर्वत्रा ऽविशिष्टत्वात् ननु यदि कार्यस्य तदुत्पत्तेश्च सत्त्वं स्यात्तदा-
 सप्तमरसादितः कार्यापादनं सम्भवेत् मन्यते सप्तमरसतत्कार्ययोः
 पङ्कसतत्कार्याणामप्यसत्त्वेन तददृष्टान्तेना ऽऽपादनासम्भवादिति
 चेन्न पुष्टिकामस्य त्वादृशस्य सप्तमरस इव पङ्कसेष्वपि प्रवृत्त्यनुप-
 पत्तेः किञ्च जागरस्वाप्नयोः शुक्तिरूप्याद्योश्च मिथ्यात्वाविशेषे जाग-
 रज्ञानेन स्वाप्नबाधः शुक्त्यादिज्ञानेन रूप्यादिबाध इति व्यवस्थानुपप-
 त्तिः स्यात् ॥ ९० ॥

ननु माऽस्तु सौगतरीत्या जगतो मिथ्यात्वं निर्विशेषशून्यादिसि-
 द्धिश्च किन्तु मायिरीत्या जीवेशाभेदश्रुत्यन्यथानुपपत्त्या विद्वत्स्य
 मिथ्यात्वं सिद्ध्यतीत्याशङ्कामपाकर्तुं परेऽव्यये सर्व एकीभवन्तीत्यादि
 श्रुतिं व्याख्याति—

एकीभवन्ति सर्वे हि परेऽव्यये नृपा यथा ।

एकीभूयाऽर्जुनं शत्रुं शरैर्वष्टपुराहवे ॥ ९१ ॥

एकीति । यथा नृपा विरुद्धमतिहानेनैकमत्येनैकीभवन्तीति
 व्यवहियते तथा मुक्ता एकमत्या तथा व्यवहियन्त इत्यर्थः ॥ ९१ ॥

एकीभवन्ति गावो हि गोष्ठे सायं यथा सदा ।

कीटभृङ्गयोरैक्यं तथेशजीवयोर्मतम् ॥ ९२ ॥

यथा गर्वा स्थानैक्यव्यपदेशस्तथेशजीवयोः यथा च कीटस्य
 भृङ्गभाघस्तथा जीवस्याऽपि पूर्णत्वरूपो ब्रह्मभावः प्रागविद्यावृत्तो ब्र-

ह्यापरोक्ष्येणाऽविद्यानिवृत्तावाविर्भवतीत्यर्थः ॥ ९२ ॥

तदेव स्पष्टयति—

संमत्यादेशतो लोके सादृश्येनाऽपि चैकता ।

अन्यथा सप्तमी व्यर्था च्विप्रत्ययो निरर्थकः ॥ ९३ ॥

संमत्येति । जीवेशयोरभेदे आधारतादिवोधिका सप्तमी व्यर्था अभूतभवनार्थकच्चिप्रत्ययोऽपि व्यर्थः नहि तन्मते ब्रह्मभिन्नः प्राग-
सन् जीवब्रह्माभेदो ज्ञानेन जायते ॥ ९३ ॥

तदात्मानमेवाऽवेद् ब्रह्माऽहमस्मीति श्रुतिं व्याख्याति—

आविर्भूतप्रभं जीवं नैश्वरैक्यं कथञ्चन ।

ब्रह्माऽस्मीति श्रुतिर्ब्रूते परेशानुग्रहात्स्फुटम् ॥ ९४ ॥

आविरिति । शुद्धस्वरूपं जीवं आविर्भूता प्रभा पूर्णानन्दादिरूपः
प्रभावो यस्य तम् । ननु जीवस्येशेनैक्यं “यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत
स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणामिति” भेदवाक्यविरोधः
स्यात् ॥ ९४ ॥

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवतीति श्रुतिं संगृह्णाति—

ब्रह्मैव भवति ब्रह्मविदित्याद्या वदन्ति हि ।

जीवस्य ब्रह्मतां सत्यां पूर्णसद्गुणलक्षणाम् ॥ ९५ ॥

ब्रह्मेति । गुणपूर्त्तिरेव ब्रह्मशब्दार्थः ॥ ९५ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

वृहत्त्वं ब्रह्मशब्दार्थो जीवस्याऽस्ति स्वयोग्यतः ।

द्वे ब्रह्मणी हि वेद्ये स्त इति जीवे प्रयोगतः ॥ ९६ ॥

वृहत्वमिति । स्वयोग्यतानुसारेण गुणपूर्त्तिलक्षणो ब्रह्मशब्दा-
र्थो जीवस्याऽस्ति द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये इति प्रयोगो जीवेऽप्यस्ति ॥ ९६ ॥

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तङ्गच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा
विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैतिदिव्यमिति श्रुतिं संगृह्णाति—

स्यन्दमाना यथा नद्यः समुद्रे प्रविशन्ति हि ।

तथा जीवाः प्रविष्टाः स्युर्विमुक्तौ जगदीश्वरे ॥ ९७ ॥

स्यन्दमाना इति ॥ ९७ ॥

प्राकृतं नामरूपादि हित्वोपैति परात्परम् ।

दिव्यं वै पुरुषं विष्णुं तत्प्रसादो न बन्धनः ॥ ९८ ॥

आविर्भूतपूर्णानन्दः सन्प्राकृतनामादिकं हित्वा पुरुषं सर्वान्त-
र्यामिणं विष्णुमुपैति तस्य विष्णोः प्रसादेनो न नष्टमविद्याख्यं बन्धनं
यस्य सः ॥ ९८ ॥

तिलेषु निक्षिप्ततिलानां पृथगनुपलब्धावपि न स्वरूपैक्यमित्याह—

जलानामेकता नाऽस्ति संश्लिष्टानां परस्परम् ।

निक्षिप्तानां तिलादीनां राशौ न हेकता क चित् ॥ ९९ ॥

जलानामिति । यथा तिलराशौ निक्षिप्तानां देवदत्ततिलानां पृ-
थगनुपलब्धावपि न स्वरूपैक्यं तथा नदीनां न समुद्रजलैक्यम् ॥ ९९ ॥

जलानामैक्यबाधकमाह—

परिमाणविट्वाद्धिर्न स्यात्तथा क्षीरनीरयोः ।

यत्नाद्विवेचनं न स्यादेकतां गतयोः क चित् ॥ १०० ॥

परिमाणेति । कचिन्मिलितयोः क्षीरनीरयोर्विवेचनं न स्यात् १००
ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यबोधितो जीवेशाभेदः कथमपलप्यत
इति चेन्न सर्वज्ञत्वादिविरुद्धधर्मवतोर्दहनतुहिनवदभेदासम्भवात्
न च सर्वज्ञत्वादिधर्मं विहायोभयानुगतचिन्मात्रे पदद्वये लक्षणेति
वाच्यम् । पदद्वयलक्षणापेक्षया पदैकदेशविभक्तिमात्रलक्षणाया लघी-
यस्त्वादित्याह—

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु युक्ता पदैकदेशतः ।

त्वदीयसर्ववाक्यीयलक्षणाऽपेक्षया चिति ॥ १०१ ॥

तत्त्वमिति । त्वदीया समस्ते वाक्ये विभक्तिविशिष्टप्रातिपदिके-
वा तामपेक्षयाऽस्मदीयविभक्तिमात्रलक्षणा लघीयसी । तथा च तेन त्वं
तस्मात्त्वं तस्य त्वं तस्मिन्स्त्वमित्यर्थः न च सुविविभक्तौ न लक्षणा प्र-
याजशेषेण हवींष्यभिघारयेदित्यत्र प्रयाजशेषं हविःष्वभिघारयेदि-
त्यादौ सुविविभक्तिलक्षणायाः स्वीकृतत्वेनोक्तप्रवादस्याऽऽप्रमाणिक-
त्वात् ॥ १०१ ॥

लक्षणाऽपि तदीया व्यर्थेत्याह—

चितोऽवान्तरवाक्येन सत्यज्ञानादिकेन ते

ज्ञातत्वाल्लक्षणा व्यर्थाऽ ज्ञातार्थस्य विवर्जनात् ॥ १०२ ॥

चित इति। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म योऽयं विज्ञान घन इत्याद्यैरवा-
न्तरवाक्यतया त्वयाऽङ्गीकृतैर्लक्षणयाऽखण्डचिन्मात्रब्रह्मस्वरूपस्य
ज्ञातत्वादज्ञातार्थाभावात्तत्त्वमस्यादिवाक्ये लक्षणा तव मते व्यर्था १०२

किञ्च तत्पदेन त्वमितिपदेन वा लक्षणया ऽखण्डचिन्मात्रबोध-
सम्भवेन पदान्तरं व्यर्थमित्याह—

तदा चैकपदेनैवा ऽखण्डब्रह्माऽवबोधनात् ।

स्यात्पदान्तरवैयर्थ्यं निमित्तान्तरशून्यतः ॥ १०३ ॥

तदिति । एकपदबोधितब्रह्मस्वरूपभिन्नस्वभावस्या ऽभावस्य-
वा धर्मस्य पदान्तरप्रवृत्तिनिमित्तस्य त्वन्मतेऽभावेन पदान्तरं व्य-
र्थमित्यर्थः ॥ १०३ ॥

ननु ब्रह्मस्वरूपमात्रमवान्तरवाक्येन तदादिना च बोधितं न तु
जीवेशयोरैक्यम् ऐक्यज्ञानमेव भेदभ्रमविरोधित्वादपेक्षितं तच्च नैके-
न पदेन सम्भवतीति सार्थकं पदान्तरमित्यत आह—

ऐक्यादेर्ब्रह्माभिन्नस्य भाने सखण्डता भवेत् ।

वाक्यार्थस्य सदा द्वैतसिद्धिस्तेनैव सम्भवेत् ॥ १०४ ॥

ऐक्यादेरिति । ब्रह्माभिन्नस्यैक्यादेर्वाक्यजन्यबोधे भाने वाक्यार्थस्य
सखण्डता भवेत् वाक्यं सखण्डार्थकं स्यात् तच्च तवाऽनिष्टम् अप-
र्यायत्वे सति संसर्गागोचरप्रमाजनकत्वमेव प्रातिपदिकार्थमात्रपर्य-
वसायित्वं वाक्यस्याऽखण्डार्थकत्वं त्वदभिमतं ब्रह्मस्वरूपभिन्नस्य
बोधने तद्भ्रज्येतेत्यर्थः तेनैवैक्यादिना सदा द्वैतसिद्धिर्भवेत् ॥ १०४ ॥

ननु मिथ्याभूतमेवैक्यमिति न द्वैतसिद्धिरित्यत आह—

ऐक्यादेर्यदि मिथ्यात्वं श्रुत्यप्रामाण्यमापतेत् ।

सौगतच्छात्रता ते स्याच्छ्रुत्यप्रामाण्यमानिनः ॥ १०५ ॥

ऐक्यादेरिति । बाधितार्थकत्वमेव ह्यप्रामाण्यं तन्महावाक्यस्य
स्यात् तथा सौगतशिष्यत्वं तव स्फुटं स्यात् ॥ १०५ ॥

समस्तं वा पदं तत्त्वं स्यात्पूर्वपदलक्षणम् ।

शरीरी जायते तस्मात्तेन तिष्ठति पालितः ॥ १०६ ॥

पूर्वपदे लक्षणा यस्मिन् तत् तेन तस्मात्तस्य तस्मिन्वा त्वं तत्त्वमिति समस्तं पदं वाऽस्तु शरीरद्वारा जीवस्येश्वरादुत्पत्तिः ईश्वरेण-पालितो जीवस्तिष्ठति ॥ १०६ ॥

स्यात्तदाधारको जीवस्तस्याऽयं सेवकस्तथा ।

सुपां सुलुक् च सूत्रेणोक्तं स्वादेशादिकं स्फुटम् ॥ १०७ ॥

अहं जीवसंज्ञो वै मयि जीवः समाहितः ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव—

त्यादिस्मृत्या जीवस्येशाधारकत्वमुक्तं सुपांसुलुक्चेत्यादिसूत्रेण तृतीयादीनां सुरादेशो लुग्वा प्रकृतेऽस्तीति न लक्षणादिदोषः ॥ १०७ ॥

वस्तुतस्तु ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स आत्मा तत्त्वमसीत्यत्र तच्छब्दे-नैतदात्म्यं परामृश्यते न त्वात्मा तस्य पुंलिङ्गेन प्रकान्तत्वात्संभवति समानलिङ्गकपदोपस्थापितार्थपरामर्शेऽन्यादृशपरामर्शानौचित्यमि-त्याह—

प्रकान्तो ऽह्नीवलिङ्गेनाऽऽत्मा परामृश्यते न हि ।

ह्नीवेन तत्पदेनाऽत्र किन्त्वैतदात्म्यमेव हि ॥ १०८ ॥

प्रकान्त इति । अह्नीवेन पुल्लिङ्गेन ॥ १०८ ॥

ततः किं स्यात्तत्राऽऽह—

अस्येतदात्मनो विष्णोस्त्वं सम्बन्ध्येतदात्मकः ।

सम्बन्धः प्रथितो वेदे परमेश्वरजीवयोः ॥ १०९ ॥

अस्येति । त्वमेतदात्मनः सम्बन्धी असि । एतदात्मनः इदमेतदात्म्यं बाहुलकादिदमर्थं व्यञ् निर्र्थकस्वार्थव्यञ्जपेक्षयैतस्याऽभ्यर्हितत्वात् । द्वा सुपर्णा सयुजा सखायावित्यादौ जीवेशयोः सम्बन्धः सुप्रसिद्धः तत्त्वमित्यादिना जीवेशयोः स्वामिसेवकत्वादिसम्बन्ध एव बोध्यते न त्वैक्यमिति भावः ॥ १०९ ॥

उक्तार्थं स्मृतिमुदाहरति—

स स्रष्टा चैव संहर्ता नियन्ता रक्षिता हरिः ।

तेन व्याप्तमिदं सर्वमैतदात्म्यमतो विदुः ॥ ११० ॥

स इति । यतो जीवजडादिकं सर्वं तेन हरिणा व्याप्तमत एत-
दात्म्यमुच्यते इत्यर्थः ॥ ११० ॥

ननु स्वमपीतो भवतीति श्रुत्या जीवेशयोरभेदो बोध्यत इत्यत
आह—

भवति स्वमपीतो ऽयमिति श्रुतिर्व्रवीति हि ।

स्वकीयस्य हरेः प्राप्तिः सुप्तौ जीवस्य नित्यदा ॥ १११ ॥

भवतीति । स्वमात्मीयं हरिं सुषुप्तौ तिरोहितः सन् प्राप्तो भवती-
त्यर्थः अपेरपिधाने इणश्च गतौ निष्ठायाः कर्त्तरि शक्तेः कल्मषत्वात्
ऐक्ये योगरूढ्योरभावात् ॥ १११ ॥

ननु सुप्तौ जीवेशयोरैक्यं स्यात्तत्राऽऽह—

प्राप्तिर्न युज्यतेऽभेदे मुख्या हि वस्तुनः क चित् ।

भेदं सुप्तौ तथोक्तान्तौ सूत्रकृदाह तात्त्विकम् ॥ ११२ ॥

प्राप्तिरिति।अभेदे प्राप्यप्राप्तृभावासंभवः नहि घटो घटं प्राप्नोती-
ति व्यवहारोऽस्ति । सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेनैति सूत्रेण प्राज्ञेनाऽऽत्मना-
संपरिष्वक्तो न बाह्यं वेद नाऽन्तरं तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामतीति
श्रुतिभ्यां सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्जीवेशयोर्भेदेनैवाऽधीतत्वात् ॥ ११२ ॥

यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिवृत्त्यश्रान्तः संहृत्य
पक्षौ सँल्लयायैव ध्रियते एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मनासंपरिष्वक्तो
न बाह्यं वेद नाऽन्तरमिति श्रुतिं संगृह्णाति—

आकाशेऽस्मिन् यथा श्येनः सुपर्णः परिवृत्त्य वा ।

पक्षौ संहृत्य सँल्लयायैव ध्रियते पुमांस्तथा ॥ ११३ ॥

आकाश इति । श्येनः सुपर्णो वा सँल्लयाय नीडाय ध्रियते तत्रैवा-
ऽऽयाति तथा जागरादौ भ्रमणेन श्रान्तो जीवः श्रमापनोदाय सुप्तौ
परेशालिङ्गितो भवतीत्यर्थः ॥ ११३ ॥

सुप्तावीशाद्भिन्नतया स्थितस्य जीवस्य विद्यमानभेदाज्ञाने दृष्टा-
न्तान्त रमाह—

प्रियया संपरिष्वक्तो न बाह्यं वेद नाऽन्तरम् ।

एवं प्राज्ञपरिष्वक्तो जीवो न वेद किं च न ॥ ११४ ॥

प्रिययेति । बाह्यं रूपादिकम् आन्तरं दुःखादिकं न वेद तथा प्राज्ञेन परमात्मना ऽऽलिङ्गितो जीवः किञ्चन न वेदेत्यर्थः ॥ ११४ ॥

वस्तुस्तु यथा शब्दो नित्यः शब्दत्वादित्यत्र नित्योऽनित्यश्चेति पदच्छेदः घटे दृष्टान्ते आद्य आकाशे दृष्टान्ते द्वितीयस्तथा भेदघटित-नवदृष्टान्तानुरोधात्स आत्मा तत्त्वमसीत्यत्राऽतत्त्वमसीति पदच्छेदः कार्यो नञः सादृश्यार्थकत्वादित्याशयेन नव दृष्टान्तान् व्याख्या-तुमारभते—

तत्राऽदौ जीवेशयोरत्यन्तभेदबोधनायाऽसहायस्येशस्य तेजो-वन्नादिसमस्तजगत्कारणत्वादिरूपं जीवे संभाव्यमानं महामाहात्म्य-मुक्तं तच्चागमैकवेद्यं न प्रत्यक्षमित्यतो जागरे जीवस्य स्वातन्त्र्याभि-मानात्स्वापे तदभावान्न जीवस्येशाश्रयत्वमानुभविकं कर्तुं स्वप्नान्तं सोम्य विजानीहीत्युपक्रान्तं तत्र जागरस्वप्रयोर्देहेन्द्रियमनसां विक्षे-पेण श्रान्तस्य जीवस्य श्रमापनोदाय स्वापे परेशाश्रयणमुक्ता स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रवद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा बन्ध-नमेवोपश्रयत एवं खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयत-नमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं सोम्य मनः स य एषोऽणि-मैतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इत्युक्तं प्रथमदृष्टान्तं संगृह्णाति—

यथा सूत्रेण बद्धो विः परिवृत्य दिशं दिशम् ।

अन्यत्राऽऽश्रयमप्राप्य बन्धनमेव याति हि ॥ ११५ ॥

यथेति । विः पक्षी यत्र शङ्को सूत्रेण बद्धस्तमेवाऽश्रयतीत्यर्थः मनो-ऽवबोधस्वरूपो जीवः प्राणयति जीवयति चेति प्राणः परेशस्तं श्रयतीत्यर्थः ॥ ११५ ॥

ननु मत्तोऽन्यश्चेतनो मया कथं न दृश्यत इत्याशयवता पृष्टः यथा सोम्य मधुकृतो मधुनि तिष्ठन्ति नानात्यानां वृक्षाणां रसान् समवहारमे-कतां संगमयन्ति ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याऽहं वृक्षस्य रसोऽ-स्म्यमुष्याऽहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः

संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसीति द्वितीयदृष्टान्तमुक्तवांस्तं संगृह्णाति नानेतिद्व्याभ्याम्—

नानावृक्षरसा भृङ्गैः संगृहीताः परस्परम् ।

भिन्ना यथा विवेकं न स्वकीयं जानते तथा ॥ ११६ ॥

इमाः सर्वाः प्रजाश्चेशं सुषुप्तौ प्राप्य नो विदुः ।

स्वस्मादन्यं हि चैतन्यं तत्सम्पद्यामहे वयम् ॥ ११७ ॥

मधुकृतो भ्रमरा मधुनि तिष्ठन्ति निर्ममते नानात्यानां विलक्षणा-
नां रसानां समाहारं समूहम् एकतां मिश्रताङ्गयन्ति यथा ते तत्र
विद्यमानं स्वीयं भेदं न जानन्त्यमुष्य वृक्षस्याऽहमित्येवमेवेमाः प्रजा
जीवा अविद्यया मोहिता विद्यमानं विवेकं न विदुः तथा च विद्यमान-
भेदस्याऽज्ञानमेवोक्तं परमेश्वराश्रितत्वाज्ञानादेव जीवस्य संसार इति
भावः ॥ ११६ ॥ ११७ ॥

विद्यमानस्य सत्यस्य भेदस्येश्वरजीवयोः ।

अज्ञानमेव सुप्त्यादौ न त्वेकता तयोः क्व चित् ॥ ११८ ॥

क्वचिदुक्तमिति शेषः ॥ ११८ ॥

नन्वचेतनै रसैर्माज्ञायि भेदो मया चेतनेन कथं न ज्ञायेतेत्याशङ्का-
मपाकर्तुम् इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्य-
स्ताः समुद्रात्समुद्रमेवाऽभियन्ति समुद्र एव भवन्ति ता यथा तत्र न
विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत
आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इत्युक्तं तृतीयं दृष्टान्तं संगृह्णाति—

वृष्टिद्वारा ऽम्बुधेर्जाताः प्रवाहेणा ऽऽविशन्ति तम् ।

यथा नद्यो न जानन्ति वयं समुद्रतोऽन्यकाः ॥ ११९ ॥

तथा स्वस्मिन् स्थितं विष्णुं न जानन्त्यावृताः प्रजाः ।

आगच्छामः सतो नित्यमिति भिदेशजीवयोः ॥ १२० ॥

वृष्टीति । अविद्यया वृताः गङ्गाद्या नदीदेवताः प्रागञ्चनात्प्राचीशब्द-
वाच्याः पुरस्तात्स्यन्दन्ते स्रवन्ति यथा प्रत्यञ्चनात्प्रतीचीपदवाच्याः

पश्चात्स्यन्दन्ते मेघद्वारेण समुद्रादुत्पन्ना उत्पन्नजलत्वात्समुद्रमेवाऽपि यन्ति विशान्ति तथाऽपि समुद्र एव भवन्तीति ता नदीदेवता यथा तत्र समुद्रे इयं गङ्गाऽहमस्मीयन्तु यमुना ऽयश्च समुद्र इत्येवमन्या अपि न विदुरेवमेवेमाः प्रजाः परेशादागत्याऽपि सत आगच्छामहे उत्पद्यामह इति न विदुरेवं तत्र स्थिता अपि तमाश्रिता इति न विदुरित्यर्थः ॥ ११९ ॥ १२० ॥

अस्त्वीशो भिन्नस्तथाऽपि जीवस्तदधीन इति कुत इत्याशङ्कामपाकर्तुम्—

अस्य यदेकां शाखाञ्जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयो जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वं शुष्यत्येवमेव खलु सोम्य विद्धीतिहोवाच जीवापेतं वा व किलेदं हि म्रियते न जीवो म्रियते अनेनाऽऽत्मनाऽनुप्रभूतो मोदमानःपेपीयमानस्तिष्ठतीत्युक्तं चतुर्थं संगृह्णाति अस्येत्यादिना ।

अस्याऽगस्य यदेकां हि शाखां जीवो जहात्यथ ।

सा शुष्यति तथा सर्वाः शुष्यन्ति तास्तदुज्झिताः ॥ १२१ ॥

अगस्य जीवरूपवृक्षस्य तेनेशेनोज्झिता उपेक्षिता जीवस्य मरणादिकं देहादिशोषणमृत्यादिना ॥ १२१ ॥

जीवपदेनाऽत्र हरिरेवोक्त इत्याह—

जीवयत्यखिलं विष्णुरतो जीवपदोदितः ।

मोदमानः पृथक् प्रोक्तश्चेतनो जीवतो यतः ॥ १२२ ॥

जीवयतीति । जीवो हरिः यतो मोदमानश्चेतनो जीवायितुः सकाशात्पृथगुक्तः न हि जडस्य देहादेर्मोदमानत्वं संभवति ॥ १२२ ॥

प्रभूतोऽनेन जीवेन पेपीयमानतां भजेत् ।

इति जीवाद्भिदा प्रोक्ता ऽसुधारिणः स्फुटा यतः ॥ १२३ ॥

जीवपदार्थाद्धरेः सकाशादसुधारिणः स्फुटा भिदोक्ता ॥ १२३ ॥ तात्पर्यमाह—

स्वातन्त्र्यं परमेशस्य पारतन्त्र्यं च देहिनः ।

अत्रोक्तं तच्च भेदस्य जीवेशयोः प्रसाधकम् ॥ १२४ ॥

स्वातन्त्र्यमिति । अत्र प्रकरणे तच्च स्वातन्त्र्यादिकं यथा वृक्षस्य सुखिनैव मया स्थेयमितीच्छासत्त्वेऽपि विघातिनि विद्यमानेऽपीशानुग्रह-
ग्रहात्तथाऽवस्थानं तदभावे चाऽसत्यपि विघातिनि शरीरशो-
षणादिना नष्टं भवति तथा मानुषादिदेहे परेशाधीनत्वमिति समुदा-
यार्थः ॥ १२४ ॥

ननु जीवसत्तादिप्रदः परेशोऽत्र देहे विद्यमानो मया न ज्ञायत इति
कथं सूक्ष्म्यादिति चेन्न जीवेन सूक्ष्मस्य स्वरूपस्य दृश्यमानत्वादिति
शङ्कामपाकर्तुं सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषो-
ऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येत्युक्तं पञ्चमं दृष्टान्तं
संगृह्णाति वटवीजेति द्वाभ्याम् ॥

वटवीजे स्थितो वृक्षः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते ।

तथा त्वयि स्थितो विष्णुः सूक्ष्मत्वात् न पश्यसि ॥ १२५ ॥

जीवानां ब्रह्मविज्ञानभावो विद्यावतां सदा ।

अत्रोक्तस्तेन भेदस्य सिद्धिर्दृढा भवेत्सदा ॥ १२६ ॥

इदं फलं भिन्धि भिन्ने फले किं पश्यसीति पिता—

अण्वय इव सूक्ष्मा इमा धाना वीजानि पश्यामीति पुत्रः अङ्गा-
ऽऽसां धानानां मध्ये एकां धानां भिन्धीति पिता भित्वा भिन्नेति पुत्रः अत्र
भिन्नायां धानायां किं पश्यसीति पिता किञ्चन न पश्यामीति पुत्रः
एवमुक्तवन्तमाह पिता यमेतमणिमानं भावभवित्रोरभेदात् परमसूक्ष्मं
परमात्मानं न निभालयसे न पश्यसि अस्याऽणिम्नः सामर्थ्यादेव
धानायां महान्यग्रोधस्तिष्ठति अत्र वृक्षः प्रपञ्चः फलं शरीरं धाना जी-
वाः तत्र यथा सूक्ष्मवटवीजे दृश्यमानेऽपि यत्प्रभावाद्दृष्टावस्थानं स-
वीजान्तर्गतः परमात्मा परमसूक्ष्मत्वान्न दृश्यते तथा जीवादपि सूक्ष्म-
त्वात्तदन्तर्गतः परमात्मा न दृश्यते इत्युक्तं भवति ॥ १२५ ॥ १२६ ॥

ननु दृष्टावस्थानादिना कार्येणेश्वरसामर्थ्यं तावत्प्रत्यक्षमिव प्र-
तीयते एवं तत्सामर्थ्यं दृश्यमानेऽपि तस्याऽदर्शनमित्येतत्कथं जानी-
यामित्याशङ्कयाम् यद्दोषा लवणमुदकेऽवाऽधाः अङ्ग तदाहरेति तद्वा-
ऽवमृश्य न विवेद यथा विलीनमेवाङ्गाऽस्याऽन्तस्तदाचामेति कथ-
मिति लवणमिति मध्यादाचामेति सोम्य न निभालयसे ऽत्रैव किले-
त्युक्तं षष्ठं दृष्टान्तं संगृह्णाति निक्षिप्येति त्रिभिः—

निक्षिप्य लवणं नीरे प्राहाऽऽनय गुरुश्च तत् ।

न पश्यामीति वक्तारं प्रत्याहाऽऽचम्यतां त्वया ॥ १२७ ॥

॥ १२७ ॥

भक्षयामीति वक्तारं प्रत्याहेदं हि कीदृशम् ।

क्षारमिति प्रवक्तारं प्रत्याहैवं सदा त्वाये ॥ १२८ ॥

इदं जलं कीदृशम् ॥ १२८ ॥

विष्णुस्तिष्ठति सर्वेषामन्तर्नियामको विभुः ।

तदैश्वर्योपलम्भेऽप्यज्ञानिभिर्नैव दृश्यते ॥ १२९ ॥

यथा लवणं जले निक्षिप्तं न दृश्यते तद्गुणः क्षारत्वमुपलभ्यते तथा बीजादौ वटाद्यवस्थानकारणैश्वर्योपलम्भेऽपि जीवे स्थितो विष्णुर्नोपलभ्यत इत्यर्थः अवधाय निक्षिप्य तथा चकार पुत्रः आह पिता यद्दोषा लवणमुदकेऽवाऽधाः तल्लवणमुदके हस्तेनाऽवमृश्य न विवेद-पुत्रः यथा विलीनमेवाऽत्यन्तं नष्टं वस्तु न विदन्ति तथा अज्ञाऽस्योदकस्याऽन्तः पूर्वदिगवस्थितादवयवादुद्धृत्यैकदेशमाचामेति पिता आचान्तवन्तं पिताऽऽह कथं तिष्ठतीति लवणं लवणरसोपेतमित्याह पुत्रः तल्लवणगुणे दृश्यमानेऽपि लवणं न दृश्यते तथा सामर्थ्ये दृश्यमानेऽपि जीवे स्थितो हरिर्न दृश्यत इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

एवंभूतो हरिरविद्यापटलापिहितनयनेन कथं दृश्यते प्राप्यते चेति जिज्ञासायाम् यथा सोम्य पुरुषं गान्धारेभ्योऽपिनद्धाक्षमानीय तं ततो विसृजेत्स यथा तत्र आनीतोऽपिनद्धाक्षो विसृष्टस्तस्य यथाऽभिहननं प्रमुच्य भ्रूयादेतां दिशं गान्धारा एतां दिशं व्रजन्ति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन्पण्डितो मेधावी गान्धारानेवोपसम्पद्येत्तैवमेव हाऽऽचार्यवान्पुरुषो वेदेत्युक्तं सप्तमं दृष्टान्तं संगृह्णाति नेत्र इति ब्राभ्याम् ।

नेत्रे वद्ध्वा पुमान्कश्चिच्चोरैर्नीतो दिगन्तरम् ।

पृष्ठा ग्रामं स आयाति गान्धारान्विषयान्स्वकान् ॥ १३० ॥

पुमानाध्वनिकः बिषयान् देशान् ॥ १३० ॥

तथा ऽविद्यावृतो जीवोऽनाद्यविदितमीश्वरम् ।

सदाचार्योपदेशेन वेत्त्यथ प्राप्नुयात्सुधीः ॥ १३१ ॥

अनादिकालाविदितपरेशं सन्तश्च ते आचार्यास्तेषामुपदेशेन
अथ वेदनानन्तरं अनाद्यविद्यया हरेर्विमुखो लुप्तविवेकः संसारे प-
तितः भगवदनुग्रहाज्जातजिज्ञासो गुरुपदेशं लब्ध्वा क्रमापन्नानि
श्रवणादीनि साधनचतुष्टयमनुष्ठाय स्वजन्मभूमिं हरिं पश्यति प्राप्नो-
ति चेत्युक्तं भवति ॥ १३१ ॥

ननु वृक्षदेहे परेशाधीनत्वमवगतं मानुषे देहे तत्कथं जानीया-
मित्याशङ्कायाम् पुरुषं सोम्योपतापिनं ज्ञातयः पर्युदासते जानासि मा-
जानासि माजानासि मामिति तस्य यदा वाङ् मनसि सम्पद्येत मनः
प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानातीत्याद्युक्तम-
ष्टमं दृष्टान्तं संगृह्णाति—

पुंसो वाङ् मनसि प्राणे मनः प्राणश्च तेजसि ।

परस्यां देवतायां हि तेजः सम्पद्यते यदा ॥ १३२ ॥

पुंस इति । वागादीनां मन आदौ लये संति ॥ १३२ ॥

न जानाति तदा ग्रस्ताखिलव्यापारको नरः ।

रोगीव सुप्तो वोत्क्रान्तः पार्श्वस्थान्स्वान्न वेद हि ॥ १३३ ॥

तथा परेशतन्त्रोऽपि तं न जानात्यविद्यया ।

अनाद्यया वृतो जीवो बन्धपाशप्रमोचकम् ॥ १३४ ॥

रोगी यथा मुमूर्षुर्ग्रस्तव्यापारः पार्श्वस्थान्न वेद तथा सुषुप्त्या-
दौ परमात्मना सम्पन्नो जीवो बाह्यमाभ्यन्तरं न वेद प्राज्ञेनाऽऽत्मना
सम्परिष्वक्तो न बाह्यं वेद नाऽन्तरमिति श्रुत्यन्तरात् ॥ १३३ ॥ १३४ ॥

एवं सर्वाधारं सर्वप्रेरकं हरिं चाऽत्यन्तभेदेन यश्चाऽभेदेन जाना-
ति तयोः कोदृशं फलमित्याशङ्कायाम् पुरुषं सोम्योत हस्तगृहीतमान-
यत्यहार्पीतस्तेयमपाहार्पीतपरशुमस्मै तपतेति सपादि तस्य कर्त्ता भव-
ति तेन एवाऽनृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनाऽऽत्मानम-
न्तर्द्ध्य परशुं तप्तं प्रतिगृह्णातिस दह्यते अथ हन्यतेऽथ यदि तस्या-
ऽकर्त्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते सत्याभिसन्धः सत्यनो
ऽऽत्मानमन्तर्द्ध्य परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति न दह्यते मुच्यते इत्युक्तं
नवमं दृष्टान्तं संगृह्णाति राज्ञ इति चतुर्भिः ।

राज्ञो भटैः करं धृत्वा नीतः कश्चित्पुमानयम् ।

परीक्ष्यतां हि चौरः किं न वा तप्तमयः करे ॥ १३५ ॥

तस्य दत्तं यदि स्तेनस्तदा दह्येत नाऽन्यथा ।

चौरश्चेदण्डनीयोऽसौ नृपतेर्नाऽन्यथा क चित् ॥ १३६ ॥

तस्य राजभटैरानीतस्य पुरुषस्य करे तप्तम् अयो दत्तं यदि स स्तेनश्चौरो भवेत्तदा दह्येत ततो ऽसौ नृपतेर्दण्डनीयः अन्यथा चौरत्वाभावे न दह्येत न च दण्डनीयः ॥ १३५ ॥ ॥ १३६ ॥

दार्ष्टान्तिकमाह—

अहमेव परं ब्रह्मेति ज्ञानी तस्करः स्फुटः ।

ब्रह्मतां परकीयां योऽपहरति मन्दधीः ॥ १३७ ॥

अहमिति । परकीयामीश्वरानिष्ठां ब्रह्माऽहमस्मीत्यपहरति ॥ १३७ ॥

दण्ड्योऽसौ जगदीशेन नरकयातनादिभिः ।

जानानो हरितन्त्रोऽहं न दण्ड्यः परमेशितुः ॥ १३८ ॥

अहं ब्रह्माऽधीन इति जानन्नदण्ड्यः ॥ १३८ ॥

शब्दो नित्यो हि शब्दत्वादित्यत्र पदभेदनम् ।

दृष्टान्तस्याऽनुसारेण नित्योऽनित्यो द्विधा यथा ।

दृष्टान्तेषु नवस्वेवं भेदोक्तेरनुसारतः ॥ १३९ ॥

स आत्मातत्त्वमित्यत्राऽतत्त्वं छेद्यं पदं बुधैः ।

सादृश्यादि नञा बोध्यं निर्मुक्तत्वादिना हरेः ॥ १४० ॥

यदा घटो दृष्टान्तस्तदाऽनित्यः यदाऽऽकाशस्तदा नित्य इति पदच्छेदो यथा तथा नवदृष्टान्तेषु भेदोक्त्यनुसारादतत्त्वमिति पदच्छेदः—

निर्मुक्तत्वज्ञानानन्दत्वादिना जीवस्य हरेः सादृश्यमुपदिश्यते ॥ १३९ ॥ १४० ॥

यश्चाऽसावादित्ये सोऽहमित्यत्र परकीयप्रातिपदिकलक्षणापेक्षया विभक्तिलक्षणा लघीयसीत्याह—

दृश्यते यः सदाऽऽदित्ये पुरुषः सोऽस्म्यहं श्रुतौ ।

विभक्तिलक्षणाऽतः स्याज्जघन्योभयतः पदे ॥ १४१ ॥

दृश्यत इति । उभयोः पदयोर्लक्षणा जघन्या आदित्ये परमात्मा स मयीति विभक्तिलक्षणा लघीयसी ॥ १४१ ॥

योऽन्यां देवतामुपासते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति पशुरेव स इति श्रुतिं संगृह्णाति—

यो नारायणतोऽन्यां हि देवतां सेवते नरः ।

पशुरेव स देवानां सम्यग्वेत्ति न मन्दधीः ॥ १४२ ॥

यः श्रीहरिभिन्नामिन्द्रादिदेवतामुपास्ते स देवानां पशुर्जीविका हरिसेवकस्तु न तथा ।

न किङ्करो नाऽयमृणी च राजन् ।

सर्वात्मना यः शरणं शरण्यम् ॥

गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्य—

मिति स्मृतेः । अन्यथाऽन्योऽसावन्योऽस्मीत्येतावतैव भेदोपासननिन्दासिद्धेरधिकस्य वैयर्थ्यापत्तेः ॥ १४२ ॥

अभेदोपासनया नैवाऽभेदसिद्धिः कथञ्चन ।

यतोऽन्येषामुपासाया अयथार्थत्वरूपता ॥ १४३ ॥

यतोऽन्येषां मायिनामुपासनाया अयथार्थत्वमाहार्यारोपत्वमतोऽभेदोपासनमात्रेण नाऽभेदसिद्धिः ॥ १४३ ॥

नाऽन्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नाऽन्योऽतोऽस्ति श्रोता नाऽन्योऽतोऽस्ति मन्ता नाऽन्योऽतोऽस्ति विज्ञातृत्याद्यन्तर्याम्यक्षरप्रकरणस्थं वाक्यं संगृह्णाति—

नाऽन्यो द्रष्टाऽस्त्यतो विष्णोरित्यक्षराधिकारके ।

अन्तर्याम्यधिकारे च द्रष्टृन्तरनिषेधकम् ॥ १४४ ॥

नाऽन्य इति ॥ १४४ ॥

प्रस्तुतमन्तरं विष्णुं तथाऽन्तर्यामिणं प्रभुम् ।

अतो गिरा परामृश्य ततोऽन्यो हि निराकृतः ॥ १४५ ॥

अतः शब्देनाऽन्तर्यामिणं हरिं परामृश्य ततोऽन्यस्तत्तुल्यसाक-
ल्यादिना द्रष्टा निराकृतः जीवानां दर्शनस्पर्शनादि नानाविधज्ञानं
सम्भावितं तदीशस्य साकल्येन सर्वविषयकमेव ज्ञानमित्यभिप्रायेण
द्रष्टृश्रोत्रित्याद्युक्तं “पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्ण” इति श्रुतेः मायिन-
स्त्वतोऽन्यो नाऽस्तीत्येतावतैवाऽलं शेषवैयर्थ्यम् ॥ १४५ ॥

उक्तार्थं स्पष्टमाह —

तुल्ये भिन्नेऽन्यशब्दो हि स्वारस्याद्वर्त्तते स्फुटम् ।

तुल्यस्यैव निषेधोऽत्र द्रष्टुर्न द्रष्टृमात्रतः ॥ १४६ ॥

तुल्य इति । इतो ब्राह्मणादन्यमानयेत्यादावेतत्सदृश एवाऽन्यो
ब्राह्मणादिः प्रतीयते न त्वत्यन्तं विजातीयः शूद्रादिलोपादिर्वा अतो
ऽन्तर्यामितुल्यद्रष्टृनिषेधे सविशेषणे हीति न्यायेन तुल्यत्वस्यैव
निषेधः मायिनस्तु दृष्ट्वात्रे चैतन्ये दृगाश्रयत्वरूपद्रष्टृत्वाद्यसंभवेन
वाक्यमसङ्गतमेव “एतक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं
विज्ञात्रि” त्यक्षरस्य हरेरदृष्टत्वादिकं साकल्येनैवा “ऽन्यथाऽऽत्मा वा
रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः” इत्यादिविरोधापत्तेः ॥ १४६ ॥

“यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदर्वाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी
इमे यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत” इति श्रुतिं संगृह्णाति—

दिवो गार्गि यदूर्ध्वं स्याद् यदर्वाग्भूमितो भवेत् ।

मध्ये द्यावापृथिव्योर्यत्स सर्वव्यापकोऽक्षरः ॥ १४७ ॥

दिव इति । द्वितीयाभावे कस्य किं व्यापकम् “एतस्य वाऽक्षरस्य
प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत” इति श्रुतेश्च ॥ १४७ ॥

“तदेतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घम-
लोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षु-
ष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणमसुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तद-
दनाति कं च नेति” श्रुतिं संगृह्णाति—

प्राकृतस्थूलादीनामक्षरे स्यान्निवारणम् ।

अन्यथा व्यापकत्वस्य बोधकेन विरोधिता ॥ १४८ ॥

प्राकृतेति । प्राकृतानां धर्माणां तादृशमेव छायादिस्वभावानां

निषेधः अन्यथा द्वितीयमात्रनिषेधे प्रागुक्तं व्यापकत्वबोधकश्रुति-
विरोधः स्यात् ॥ १४८ ॥

अन्तर्यामिप्रकरणस्य भेदपरत्वं “शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनम-
धीयते” इत्यादिना सूत्रकृतोक्तमित्याह —

अन्तर्याम्यधिकारस्तु भेदमीश्वरजीवयोः ।

कण्ठतो वदतीत्याह श्रीवादरायणो हरिः ॥ १४९ ॥

अन्तरिति । स्फुटम् अन्तर्यामिप्रकरणं जीवेशभिदां कण्ठतो
वदतीत्याह ॥ १४९ ॥

अतोऽन्यदार्त्तमिति श्रुतिं संगृह्णाति—

अतोऽन्तर्यामिणोऽन्यच्चाऽऽर्त्तं दुःखि जन्तुकं सदा ।

अर्त्तिशब्दप्रयोगस्य दुःखे प्रचुरता स्फुटम् ॥ १५० ॥

अत इति । अतोऽन्तर्यामिणः सकाशादन्यज्जीवजातमार्त्तं दुःखि
आर्त्तं वा अभिदीक्षन्ते एकाष्टकायामभिदीक्षन्त इत्यादिश्रुतिषु आर्त्तं
जिज्ञासुरर्थार्थीत्यादि स्मृतिषु चाऽऽर्त्तशब्दस्य दुःखिनि प्रचुरप्रयो-
गात् शीतेनाऽऽर्त्तं यथा स्यादभिदीक्षन्ते शीतेन दुःखिनो भवन्ति य
एकाष्टकायां फाल्गुनकृष्णाष्टम्यां दीक्षन्त इत्यर्थः ॥ १५० ॥

द्वितीयाद्वै भयं भवतीति श्रुतिं व्याख्याति—

समानादधिकाल्लोके विरुद्धाद् दृश्यते भयम् ।

द्वितीयाद्भयमेतीत्यनुवदति श्रुतिः परम् ॥ १५१ ॥

समानादिति । नच यन्मदन्यन्नाऽस्ति कस्मात्तु विभेमीति श्रुत्या
द्वितीयमात्रस्य भयहेतुत्वमुक्तम् “आचार्यवान्पुरुषो वेद स एता-
न्ब्रह्म गमयति पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वाजुष्टस्तेनामृतत्व”मेतीति
श्रुतिभिः—

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरा—

दित्यादिस्मृतिभिश्च सह विरोधापत्तेः यद्यस्मान्मदन्यन्मम भ-
यहेतुर्नाऽस्ति किं त्वनाद्यविद्यया वृतो विषयाद्यासक्तोऽहमेव स्वभय-
हेतुरतः कस्माद्विभेमीत्यर्थः ॥ १५१ ॥

तस्मादेकाकी विभेति तस्मादेकाकी न रमते सहायमीक्षाञ्चक

इति पूर्वोत्तरवाक्यं संगृह्णाति—

रमते न स एकाकी सहायं वाञ्छतीतरम् ।

इति पूर्वोत्तराणां स्याद्वाक्यानां वैशसम्भृशम् ॥ १५२ ॥

रमत इति । वैशसं विरोधः ॥ १५२ ॥

य एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवतीति श्रुतिं व्याख्याति—

उदरमन्तरं कुर्यात् यो भयं यातीति श्रुतौ ।

एतस्मिन्निति शब्दाद्धि स्वगतभेदवारणम् ॥ १५३ ॥

उदरमिति । एतस्मिन्परेषो योऽरमीपदप्यन्तरं भेदबुद्धिं कुरुते तस्य भयं भवतीति ब्रह्मणि ब्रह्मभेदधीवार्यत इत्यर्थः ॥ १५३ ॥

नन्वप्रसक्तप्रतिषेधः स्यात्तत्राऽऽह—

नियम्यभेदतो विष्णोरवतारादितस्तथा ।

लोकादिभेदतः प्राप्तो निवार्यतेऽनया गिरा ॥ १५४ ॥

नियम्येति । नियम्यभेदेनाऽवतारादिना प्राप्तो भेदो हरौ निवार्यते ऽनया श्रुत्या ॥ १५४ ॥

विभेदजनके ज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते ।

आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति ॥ १५५ ॥

देवमनुष्यतिर्यगादिभेदप्रयोजकज्ञाने भगवत्प्रसादादात्यन्तिकं नाशं गते सति ब्रह्मणः आविर्भूतवृहद्गुणस्याऽऽत्मनो जीवस्या ऽसन्तमस्वाभाविकमुक्तभेदं तद्धियं कः करिष्यति न कोऽपीत्यर्थः ॥ १५५ ॥

“अस्त्यन्यो भूतात्मा स वा एषोऽभिभूतः प्राकृतैर्गुणैरित्यथोऽभिभूतत्वात्संमूढः संमूढत्वादात्मस्थं प्रभुं भगवन्तं कारयितारं नाऽपश्य”दिति ति मैत्रायणीयश्रुतिं संगृह्णाति—

अनाद्यविद्यया मूढो जीवो वेत्ति न माधवम् ।

प्रेरकं सर्वभावानां स्वहृदये सदा स्थितम् ॥ १५६ ॥

अनादीति ॥ १५६ ॥

ममैवांऽशो जीवलोके जीवभूतः सनातन—

इत्यादिना जीवेस्येशांशत्वोक्त्याऽभेदसिद्धिरित्याह—

तदधीनस्य सादृश्यं लोकेऽशत्वं प्रकीर्त्यते ।

पुत्रदायादिकस्याऽपि चांशत्वं भण्यते स्फुटम् ॥ १५७ ॥

नानार्थकोऽशशब्दोऽयं प्रसिद्धो लोकवेदयोः ।

अतोऽशशब्दतो भेदः सिद्ध्यतीश्वरजीवयोः ॥ १५८ ॥

तदधीनस्येति । सदृशत्वे सति तदधीनत्वं जीवस्य तदंशत्वम्
अंशशब्दो हि नानार्थः द्रोणो बृहस्पतेर्भागो दुर्वासा रुद्रांशःकर्णः
सूर्यांशः भ्रात्रंशो धनमित्यादिव्यवहारात् ॥ १५७ ॥ १५८ ॥

तदधीनत्वसादृश्यं प्रतिबिम्बपदोदितम् ।

ततोऽपि स्याद्भिदासिद्धिर्गोविन्दप्राणधारिणोः ॥ १५९ ॥

तदधीनत्वेन सहितं तत्सादृश्यं तत्प्रतिबिम्बनम् ततोऽपि जीव-
स्येशप्रतिबिम्बत्वबोधकवाक्यात् ॥ १५९ ॥

ननु प्रतिबिम्बस्य मिथ्यात्वादीशभिन्नो वस्तुतो जीवो नास्ति
क भेदसिद्धिस्तत्राऽऽह—

अत्यन्तं विम्बतो भिन्नो दृश्यते हि परीक्षकैः ।

प्रतिबिम्बो हि लोके स्याच्छायावद्रास्तवो मतः ॥ १६० ॥

अत्यन्तमिति । यथा लोके पुंछाया ततो वस्त्वन्तरं तत्समसत्ताकं
तथा बिम्बसमसत्ताकस्ततो भिन्नः प्रतिबिम्बः ॥ १६० ॥

चैत्रच्छाया यथा भिन्ना प्रतिबिम्बस्तथा ततः ।

पार्श्वस्थैर्गृह्यते नित्यं नत्वभिन्नतया क चित् ॥ १६१ ॥

चैत्रस्य प्रतिबिम्बो हि दृष्टश्चैत्रो न दृश्यते ।

इति व्यवहृतिर्भेदं विना नृणां कथं भवेत् ॥ १६२ ॥

ततो बिम्बाद्भिन्नतया नित्यं सदा दृश्यते ॥ १६१ ॥ १६२ ॥

ननु प्रतिबिम्बोत्पादकाभावेनाऽकारणकोत्पत्त्या मिथ्यात्वमिति
तत्राऽऽह—

परिवेषेन्द्रचापादेरिव हेतुः प्रकल्प्यते ।

तस्योत्पत्त्यनुरोधाद्धि सत्यं वस्तु तदिष्यते ॥ १६३ ॥

परिवेपेति । चन्द्रादिपरिवेपादीनामिव तस्य कारणं कल्प्यते ॥ १६३ ॥

न शुक्तिरूप्यवत्तस्य बाधोऽनुभूयते क्व चित् ।

किन्त्वासीत्प्रतिबिम्बोऽत्र सत्यतैवाऽनुभूयते ॥ १६४ ॥

बाध एवाऽऽरोपे मानम् न च प्रतिबिम्बस्य सोऽनुभूयते ॥ १६४ ॥
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्—

इत्यादिश्रुतिं व्याख्याति ।

प्रतिवस्तुनियन्तारं ब्रवीति प्रतिरूपगीः ।

एकधा मूलरूपेणाऽवतारादितया बहुः ॥ १६५ ॥

प्रतीतिरूपं जीवादिकं प्रतिनियामकतया प्रतिरूपो हरिः मूलरूपेणैकधा ऽवतारान्तर्यामित्वादिना बहुधेति श्रुत्या कथ्यते ॥ १६५ ॥

माय्यभिमतं प्रतिबिम्बत्वं तु जीवस्य न सम्भवतीत्याह—

उपाध्यन्तर्गतस्य स्यान्न प्रतिबिम्बनं क्व चित् ।

न जलादिनिमग्नस्य घटादेः प्रतिबिम्बनम् ॥ १६६ ॥

उपाधीति । तथा विद्यान्तर्गतस्य न तत्र प्रतिबिम्बसम्भवः ॥ १६६ ॥

ब्रह्मणोऽशतो विद्यान्तस्थत्वभागेन वहिःस्थत्वं चेत्सांशतापत्तिः
ननु जले नभस इवाऽविद्यादौ ब्रह्मप्रतिबिम्बो युक्तस्तत्राऽऽह—

नाऽविद्यातो वहिर्ब्रह्म सांशतायाः प्रसङ्गतः ।

आकाशस्य तु जन्यत्वादिष्टैव सांशताऽऽवयोः ॥ १६७ ॥

आकाशस्याऽऽवयोः सांशत्वाज्जलादितो वहिःस्थभागस्य प्रतिबिम्बो युक्तो न तु निरंशस्य ब्रह्मणः ॥ १६७ ॥

आकाशस्य प्रतिबिम्बोऽसिद्ध इत्याह—

नक्षत्रादिप्रभाया वा प्रतिबिम्बो न खस्य हि ॥

अन्यथा चाक्षुषो न स्याद्विम्बस्याऽचाक्षुषत्वतः ॥ १६८ ॥

नक्षत्रेति । नक्षत्रादिप्रभाया एव प्रतिबिम्बो न तु खस्याऽऽका-
शस्य, अन्यथा ऽचाक्षुषस्य प्रतिबिम्बश्चाक्षुषः कथं स्यात् ॥ १६८ ॥

नन्वचाक्षुषविम्बस्याऽपि प्रतिबिम्बश्चाक्षुषः स्यात्तत्राऽऽह—

धर्माधर्मपिशाचादेरयोग्यस्य च वस्तुनः ।

चाक्षुषं प्रतिबिम्बं ते स्यादन्यथा सदा स्फुटम् ॥ १६९ ॥

धर्मेति ॥ १६९ ॥

ननु कौन्तेयस्य राधेयत्ववदविद्यया ब्रह्मण एव जीवत्वमित्यतआह—

सर्वभूतनियन्तारं दोषगन्धोज्झितं सदा ।

परानन्दैकतानं हि स्वतन्त्रं परमेश्वरम् ॥ १७० ॥

सर्वेति । जीवभावापन्नं मन्यन्त इत्युत्तरेणाऽन्वयः सदा दोषास्पृष्टं
सर्वनियामकम् ॥ १७० ॥

अनाद्यविद्यया जीवभावापन्नं कुबुद्धयः ।

मन्यन्ते श्रुतिसिद्धान्तदूषकास्तामसा जनाः ॥ १७१ ॥

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ।

सर्वज्ञाज्ञविभागं हि स्पष्टमाह जनार्दनः ॥ १७२ ॥

अविद्यानियन्तारमविद्यावशं मन्यन्ते—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसा वृता ।

सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसीति—

स्मृत्या विपरीतज्ञानवत्त्वं तामसत्वमुक्तम् ॥ १७१ ॥ १७२ ॥

विनोपदेशकं ज्ञानमविद्याभञ्जनं तथा ।

कथं स्यात्सर्ववेदान्तविरोधो दुस्तरो भवेत् ॥ १७३ ॥

नित्यसर्वज्ञमुपदेष्टारं विना ज्ञानमविद्याभङ्गश्च कथं स्यात् । जी-
वादौ श्रुतिसमन्वयं निवार्य परेशे प्रतिपादयतः समन्वयाध्यायस्यो-
च्छेदः स्यात् निराश्वरसांख्यवैद्धादिमतनिरासश्च सूत्रकृतोऽसङ्गतः
स्यात् तमेतं “वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति” “आचार्यवान्पुरु-
षो वेद स एतान् ब्रह्म गमयती”त्यादि श्रुतीनां—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति त-

इत्यादिस्मृतीनां च विरोधः एतेनाऽविद्याद्यवच्छिन्नश्चेतनो जीवो मायाद्यवच्छिन्नः परेश इति निरस्तम् । अविद्ययैकदेशावच्छिन्नत्वे सदेशत्वापत्तेः कृत्स्नावच्छिन्नत्वे कृत्स्नस्य जीवत्वेशत्वा-
न्यतरत्वापत्त्या ऽभेदासिद्धेः ॥ १७३ ॥

नन्वस्तु जीवेशयोर्मायिको भेदस्तत्राऽऽह—

मायामोहं विनेशस्य न स्यान्मिथ्यार्थदर्शनम् ।

मायामोहे त्वनीशः स्यात् श्रुतिपीडा तदा भवेत् ॥ १७४ ॥

मायेति । तदा परेशमोहाङ्गीकारे यः सर्वज्ञ इत्यादिश्रुतिविरोधः स्यात् ॥ १७४ ॥

ननु मायामोहं विनाऽप्यैन्द्रजालिकस्य मिथ्याऽर्थदर्शनमित्यत आह—

स्वमायारचितानर्थान्न पश्यत्यैन्द्रजालिकः ।

अपरोक्षतया किन्तु जानाति स परोक्षतः ॥ १७५ ॥

स्वेति । ऐन्द्रजालिको नोत्पादयति न चाऽपरोक्षतः पश्यति ॥ १७५ ॥

ननु तर्हि कथं वदतीममाग्रं पश्यन्तिवत्यत आह—

गुरुपदेशतो वैद्यो ज्ञातौषधप्रभावकः ।

आहेदमौषधं रोगं नाशयतीममाशु हि ॥ १७६ ॥

गुर्विति। यथा गुरुपदेशादिना ज्ञातौषधप्रभावो वैद्यो रोगानापरोक्ष्येऽपीदमौषधमिमं रोगमाशु नाशयतीति वदति ॥ १७६ ॥

इतो मन्त्रादितो लोका भ्राम्यन्तीत्थं प्रतारकः ।

जानन्नाहेम आम्नाद्या दृश्यन्तां ये मया कृताः ॥ १७७ ॥

अतीतानागतानर्थान् व्यवहितांस्तथाऽसतः ।

मन्त्रौषधप्रभावेन दर्शयत्येव वञ्चकः ॥ १७८ ॥

लोका इतो मन्त्रादित इत्थं भ्राम्यन्तीति गुरुपदेशादिना जानन् दृश्यन्तामित्यादिकं वदति न तूत्पादयति पश्यति च ॥ १७७ ॥ १७८ ॥
हरेः प्रतारकत्वं न सम्भवतीत्याह—

अत्याप्तेन परेशेनोपदिष्टा तात्त्विकी भिदा ।

सर्वज्ञकर्तृकत्वेन तत्पालितत्वतस्तथा ॥ १७९ ॥

अत्याप्तेनेति । उत्तमः पुरुषस्त्वन्य इत्याप्तेनोपदिष्टा सत्यैव । प्र-
पञ्चो वास्तव इत्युत्तरेणाऽन्वयः ॥ १७९ ॥

प्रपञ्चो वास्तवः सर्वोऽन्यथा स्याद्वाहतिः स्फुटम् ।

न शुक्तिं तत्त्वतो जानन् सर्ववित् रूप्यपालकः ॥ १८० ॥

प्रपञ्चो नित्य एवाऽयं नदीप्रवाहवच्चलः ।

स्वकाले सत्य एव स्यात् कालान्तरे विनश्यति ॥ १८१ ॥

अन्यथा विश्वस्य मिथ्यात्वे सर्वज्ञकर्तृकं तत्पालनादिकं व्याहतं
स्यात् । न हि शुक्तितत्त्वं जानन् रूप्यं पालयति ॥ १८० ॥ १८१ ॥

ननु विश्वसत्यत्वे को लाभस्तत्राऽऽह—

सत्यस्या ऽनित्यरूपस्य प्रपञ्चस्योररीकृतौ ।

सिद्ध्यतीशस्ततः कर्त्ता मोक्षादिदायको हरिः ॥ १८२ ॥

मिथ्या विश्वं तथा ऽनीशं मायिकं चेति भाषणम् ।

शून्यवादिनये युक्तं वैदिकानां मते न हि ॥ १८३ ॥

सत्यस्येति ॥ १८२ ॥ १८३ ॥

स्वप्नसाम्यतया मिथ्या प्रपञ्च इति भाषणम् ।

शून्यवादिनये युक्तं न वैदिकनये क्वचित् ॥ १८४ ॥

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवदिति स्वप्नसाम्यस्य जगति सूत्रकृताः
निरासात् ॥ १८४ ॥

ननु स्वाप्नः प्रातीतिकस्तद्वैलक्षण्यं जगति सूपपन्नमत आह—

सत्ताभेदोऽपि लोके ऽस्मिन् तेनैव कल्पितो वृथा ।

लोकानां वञ्चनायैव श्रौतिनां न तथोचितम् ॥ १८५ ॥

सत्तेति । तेन शून्यवादिनैव ॥ १८५ ॥

बौद्धवाक्यमुदाहरति—

द्वे सत्त्वे समुपाश्रित्य बौद्धानां धर्मदेशना ।

लोके संवृति सत्त्वं हि शून्यं च परमार्थतः ॥ १८६ ॥

सत्त्वं द्विविधम्प्रोक्तं हि सांवृतं पारमार्थिकम् ।

सांवृतं व्यवहार्यं स्यान्नित्यतौ पारमार्थिकम् ॥ १८७ ॥

द्वे इति । परमार्थतः परमार्थम् ॥ १८६ ॥ १८७ ॥

इति बौद्धोक्तिमाश्रित्यवैदिकप्रक्रिया कृता ।

लोकानिष्टप्रदास्ते ह्युपेक्षणीया बुभूषुभिः ॥ १८८ ॥

कृता मायिभिरिति शेषः ॥ १८८ ॥

प्रक्रियामाह--

सत्त्वाऽसत्त्वादिना विश्वं प्रकारान्तरतस्तथा ।

अनिर्वाच्यत्वतो मिथ्या सौगतस्याऽपि संमतम् ॥ १८९ ॥

सत्त्वेति । सत्त्वासत्त्वादिना मायिनो विश्वमनिर्वाच्यं यथा तथा सौगतस्याऽपि सत्त्वासत्त्वाभ्यां प्रकारान्तरेण सदसदात्मकत्वादिनाऽ-निर्वाच्यं विचारासहत्वं संमतमित्यर्थः ॥ १८९ ॥

प्रामाणिकस्य मिथ्यात्वं मायिसौगतयोः समम् ।

अप्रमाणं स्वतः सिद्धं शून्यं ब्रह्म तयोः समम् ॥ १९० ॥

प्रत्यक्षादिमानसिद्धस्य मिथ्यात्वमुभयोः समं शून्यं ब्रह्म च स्वतः सिद्धमित्यप्यप्रामाणिकं द्वयोर्मतम् ॥ १९० ॥

शून्यविवर्त्तनं विश्वं सौगतस्याऽस्ति धीकृतम् ।

ब्रह्मविवर्त्तनं सर्वं मायावादिनये तथा ॥ १९१ ॥

शून्यभावो यथा मोक्षः सौगतस्य वृथा मतः ।

ब्रह्मभावस्तथा मोक्षो मायावादिनये मुधा ॥ १९२ ॥

अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्त्तः प्रपञ्चः शून्यब्रह्मणोः यथा शु-क्तिविवर्त्तो रूप्यं तद्वत् ॥ १९१ ॥ १९२ ॥

सुखानुभवस्तुल्यो मोक्षे द्वयोर्हि संमतः ।

अज्ञातसुखरूपत्वं वक्तुं शून्यस्य शक्यते ॥ १९३ ॥

अनुभाव्यानुभवित्रनुभवाविभागाभावो मोक्षे द्वयोः समः ॥ १९३ ॥

विश्वाधिष्ठानता तेन शून्यस्याऽङ्गीकृतैव हि ।

नृशृङ्गाद्यसतो भेदो जगति बौद्धसंमतः ॥ १९४ ॥

मायावादिभिरीशो हि स्वीक्रियते स्वकल्पितः ।

बौद्धेनाऽपि तथाऽऽचार्योऽङ्गीकृतो ज्ञानदायकः ॥ १९५ ॥

युक्तं बौद्धस्य नाऽऽचार्यः स्वेनैव कल्पितो यतः ।

मायिमतं न युक्तं हि स्वेनैव कल्पितो गुरुः ॥ १९६ ॥

शून्यब्रह्मणोर्विश्वाधिष्ठानत्वमुभयोः समम् ॥ १९४ ॥ १९५ ॥ १९६ ॥

उभयसाधारणदोषमाह—

स्वकल्पितेन चेदर्थसिद्धिलोके तदा न हि ।

भवेद्दरिद्रता काऽपि धनितैव सदा भवेत् ॥ १९७ ॥

स्वेति । सर्वे लोकाः स्वकल्पितसुखवन्त एव स्युर्दुःखी कोऽपि न स्यादित्यर्थः ॥ १९७ ॥

मिथ्याभूतस्य स्वकल्पितस्याऽर्थक्रियाकारित्वे बाधकमाह—

भवेदनन्नमन्नं हि दुःखादिकं सुखं भवेत् ।

स्वर्गादिः स्वामयागात्स्यात् ब्राह्मणत्वेन कल्पितः ॥ १९८ ॥

भवेदिति । स्वकल्पितं चेदर्थक्रियाहेतुस्तदा सर्वव्यवहारसंकरः स्यादित्यर्थः ॥ १९८ ॥

शूद्रो यागाधिकारी स्यादाप्नुयाच्च फलं ततः ।

गुञ्जास्वारोपितो वह्निर्भवेत्तृणादिदाहकः ॥ १९९ ॥

अमृतप्रज्ञया भुक्तं विषं न मारकं भवेत् ।

विषबुद्ध्याऽमृतं भुक्तं मारयेत् भक्षकं क्वचित् ॥ २०० ॥

ब्राह्मण्यां शूद्रादुत्पन्न आरोपितब्राह्मण्यश्चाण्डालोऽपि यागानुष्ठा-
नफलं लभेदित्यर्थः ॥ १९९ ॥ २०० ॥

शूद्राधिया हतो विप्रः सुपुत्रः केन चित्ततः ।

ब्रह्महत्या न तस्य स्यात्तथाऽऽरोपविवर्जनात् ॥ २०१ ॥

न चोत्थानं सुषुप्तस्य स्याददृष्टादिवर्जनात् ।

तदानीं कल्पना नाऽस्ति तां विना कल्पितं न हि ॥ २०२ ॥

स्वस्याऽप्यारोपाभावार्थं सुषुप्त इति ॥ २०१ ॥ २०२ ॥

भयकम्पादिहेतुः स्यात् स्वप्नादेर्ज्ञानमेव हि ।

अरिष्टादिनिदानं स्यात्तरणिसुषिरादिधीः ॥ २०३ ॥

स्वप्नाङ्गनालिङ्गनादिज्ञानमेव सुखादिहेतुः सूर्यसुषिरादिज्ञानमे-
वाऽरिष्टादिहेतुस्तच्च सत्यमेवेत्यर्थः ॥ २०३ ॥

रज्वाद्यारोपिताऽद्यादेः कार्पापणादिकस्य च ।

हेतुज्ञानं भवेत्सत्यं भये व्यवहृतौ तथा ॥ २०४ ॥

कार्पापणादिज्ञानं तु सत्यमेव ॥ २०४ ॥

ननु ध्वनिगतं वर्णेष्वारोपितह्रस्वदीर्घत्वादिकं नगो नाग इत्यर्थ-
विशेषधीहेतुस्तत्राऽऽह —

नगो नागो रमा रामेत्यादौ ज्ञानं हि कारणम् ।

अर्थविशेषविज्ञाने ह्रस्वत्वादेर्नाऽर्थः क्व चित् ॥ २०५ ॥

नग इति । ह्रस्वत्वादेर्ज्ञानमेवार्थविशेषधीहेतुर्ह्रस्वदीर्घादयो न हि-
नित्या नाना ककारास्तथा गकारादयो नाऽपि ह्रस्वत्वादिकम् ॥ २०५ ॥

ननु मिथ्यार्थस्य ज्ञानमपि मिथ्या तत्राऽऽह—

ज्ञानं तु सत्यमेवाऽस्ति तद्वाधो न हि कुत्र चित् ।

तच्चोपलक्षणं ज्ञाने न स्यात् विशेषणं क्व चित् ॥ २०६ ॥

बाध एवाऽऽरोपे मानं स तु ज्ञाने नाऽस्ति न हि रूप्यं नाऽस्तीतिव-
त्तज्ज्ञानं नाऽस्तीति धीरस्ति ननु मिथ्याभूतविषयविशिष्टज्ञानस्य हे-
तुत्वे विशेषणतया मिथ्याभूतविषयस्याऽपि हेतुत्वं स्यात्तत्राऽऽह—

तच्चेति । यथा घटोपलक्षितध्वंसात्यन्ताभावयोर्घटकालदेश-
भिन्नवृत्तित्वेऽपि न घटस्य तद्वृत्तित्वं तथा ज्ञानस्य हेतुत्वेऽपि
विषयस्य न हेतुत्वमित्यर्थः ॥ २०६ ॥

एतदेव स्फुटयति—

अतीतानागतादीनां ज्ञानस्य हेतुता स्फुटम् ।

दृष्टा हि सुखदुःखादौ न विषयस्य हेतुता ॥ २०७ ॥

अतीतेति । तत्र मिथ्याभूतोऽपि विषयो नाऽस्तीत्यर्थः ॥ २०७ ॥

नन्वसर्पज्ञानात्सर्पज्ञानं भिन्नं विषय एव तत्र भेदक इत्यसतो
भेदधीजनकत्वं स्यात्तत्राऽऽह—

ज्ञानानां कारणभेदात्कार्यभेदाच्च कुत्र चित् ।

भवेत्परस्परं भेदो न तु विषयभेदतः ॥ २०८ ॥

ज्ञानानामिति । अन्यथैकघटादिविषयकज्ञानानां भेदो न स्यात् ॥ २०८ ॥

विश्वं यद्यारोपितं तदा साधिष्ठानं स्यात् तच्च न सम्भवति
सामान्यतो ज्ञातत्वे सत्यज्ञातविशेषवत्त्वं ह्यधिष्ठानत्वे तन्त्रम् तच्च
निर्विशेषे निःसामान्ये ब्रह्मणि नाऽस्तीत्याह—

इदंत्वेन हि विज्ञातं रूप्यस्य शुक्तितादिना ।

अधिष्ठानं भवेन्नाऽस्ति निर्विशेषचितो हि तत् ॥ २०९ ॥

इदमिति ॥ २०९ ॥

विश्वं सत्यं यच्चिकेत तन्न मोघमित्यादिश्रुतिमुदाहरति—

विश्वं सत्यमिति प्राह जगतः सत्यतां श्रुतिः ।

वर्त्तमानतयाऽध्यक्षं गृह्णाति सत्यतोऽन्ततः ॥ २१० ॥

विश्वमिति ॥ २१० ॥

श्रुत्या त्रैकालिकं सत्त्वमतीन्द्रियादिकस्य च ।

बोध्यते तेनैव स्यादनुवादकता श्रुतेः ॥ २११ ॥

घटः सन्नित्यादिप्रत्यक्षं वर्त्तमानतया सत्त्वं गृह्णाति श्रुतिस्त्रैका-
लिकं सत्त्वं बोध्यतीति नाऽनुवादिनी ॥ २११ ॥

ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं सत्यं चैव प्रजापतिः ।

सत्याद् भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत् ॥ २१२ ॥

इत्याश्वमेध्यकेऽप्युक्ता स्फुटं विश्वस्य सत्यता ।

अतो विश्वमृषात्वाद्यं विरुद्धं श्रुतिशेखरैः २१३ ॥

आदिनाऽऽत्मनो नैर्गुण्यादिकम् ॥ २१२ ॥ २१३ ॥

सलिल एको द्रष्टा द्वैतो भवतीति श्रुतिं संगृह्णाति—

एको मुख्यत्वतो द्रष्टा ऽद्वितीयः समशून्यतः ।

सहायाऽभावतो वाऽऽसीन्न द्वैताभावतो जले ॥ २१४ ॥

एक इति । एको मुख्यो ऽद्वितीयोऽसहायः समाभ्यधिकशून्यत्वाद्वाऽद्वितीयः अन्यथा सलिलादिविरोधः स्यात् ॥ २१४ ॥

सदेव सोम्येदमग्र आसीदिति श्रुतिं संगृह्णाति—

सदेवाऽऽसीदिदं सृष्टेः सोम्याऽग्रे कारणं परम् ।

विकृतं किञ्चिदासीन्न जीवजडादिकं तदा ॥ २१५ ॥

सदेवेति । अग्रे सृष्टेः प्राक् इदमेव ब्रह्मैव सत्स्वभावमजहदासीद्विकृतं परार्धीनविशेषावासियोग्यं जडादिकं तत्तथा नाऽऽसीदित्यर्थः ॥ २१५ ॥

तदेव स्पष्टयति —

वह्निर्लीलां विहायैव श्रीहरिनिष्ठया स्थिताः ।

मुक्ता विष्णुदरे सर्वे रमन्ते सावकाशतः ॥ २१६ ॥

वहिरिति । प्रकृत्याद्यभिमानत्यागस्तदानीं श्रियःमुक्तानां वहिः क्रीडादित्यागोऽन्तरे च सावकाशतया विहारः ॥ २१६ ॥

वद्धजीवजडानां हि प्रलीनत्वं तदा हरौ ।

स्वरूपतः स्वभावेन हानिशून्यो हरिस्तदा ॥ २१७ ॥

प्रकृतिर्या मया ख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी ।

पुरुषश्चाऽप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनीति ॥

वैष्णवोक्तेः ॥ २१७ ॥

आसीदन्यस्य हीनत्वं किञ्चिदंशात्तदा भवेत् ।

रूपेणैव निषेधे तु स्याच्छ्रुत्यन्तरवैशसम् ॥ २१८ ॥

परेशान्यस्य तदानीं किञ्चिदंशेन हीनत्वं स्यादेव न तु तस्य ॥ २१८ ॥

“तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतम् । अस्मान्मायी सृजते विश्वमेत”-
दिति श्रुतिमाह—

आसीत्तमस्तदाच्छन्नो जीवो विश्वमदस्ततः ।

सृज्यते मायिनेत्थं हि विकारस्यैव वर्जनम् ॥ २१९ ॥

आसीति । ततस्तमसो मायिनेशेन ॥ २१९ ॥

एकमेवाऽद्वितीयमिति श्रुतिं व्याख्याति—

एकं मुख्यत्वतो ब्रह्माऽद्वितीयं समश्नून्यतः ।

सहायाभावतो वा स्यान्न तु द्वितीयवर्जनात् ॥ २२० ॥

एकमिति । एके मुख्यान्यकेवला इति कोशात् ॥ २२० ॥

प्रधानान्यासहायादौ संख्याप्रथमयोः समे ।

पठ्यते शाब्दिकैरेकशब्दोऽनेकार्थकः स्फुटम् ॥ २२१ ॥

एको गोत्र इत्यत्रैकशब्दोऽयमन्यप्रधानासहायसंख्याप्रथमस-
मानवाचीति कैयटोक्तेः सम्भवति ब्रह्मजीवादितोऽन्यत्वप्राधान्यादी-
नि सृष्ट्यादौ सहायानपेक्षत्वं कुसमयप्राप्तनिर्गुणत्वनिषेधायैकत्व-
संख्याविधिः नानारूपेषु निर्दोषत्वादिना साम्यम् ॥ २२१ ॥

असिद्धितीयको वीरो ह्यनुससार पाण्डवम् ।

संकर्षणद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्द्धताम् ॥ २२२ ॥

असिद्धितीयः सहायो यस्य संकर्षणो द्वितीयः सहायो यस्य ॥ २२२ ॥

इति द्वितीयशब्दस्य सहायशक्तता स्फुटम् ।

महाभाष्यकृतोक्ताऽतस्तदा सहायवर्जनम् ॥ २२३ ॥

तदा सृष्ट्यादिसमये हरेः सहायवर्जनमेवोक्तम् ॥ २२३ ॥

नन्वीशस्य सदेवाऽसहायत्वादग्र इति व्यर्थम् अत आह—

असहायत्वमीशस्य यद्यपि सर्वदाऽस्ति नः ।

अन्यस्याऽलब्धशक्तित्वात्स्फुटीभवति तत्तदा ॥ २२४ ॥

इदानीं जीवानां स्वातन्त्र्यभ्रमात्तदानीं तदभावाद्धरेः स्वातन्त्र्यं
स्फुटीभवतीत्यर्थः ॥ २२४ ॥

तदेवाऽऽह—

जीवानां स्याज्जडानां चेदानीं स्वातन्त्र्यविभ्रमः ।

तेषां शक्तिप्रदत्वेन तत्स्वातन्त्र्यं तदा स्फुटम् ॥ २२५ ॥

॥ २२५ ॥

अवतारादिना प्राप्तो यो भेदो ब्रह्मणः क्व चित् ।

वार्य एवशब्देनाऽसौ न तु जीवेशयोर्भिदा ॥ २२६ ॥

जीवेशभेदो न वार्य इत्यर्थः अन्यथा “सेयं देवतैक्षत हन्ताऽहमि-
मास्तिस्रो देवता अनेनाऽऽत्मना जीवेनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्या-
करवाणि तासां त्रिवृतमेकैकामकरो”दित्यादिद्वैतबोधकवाक्यविरोधः
स्यात् ॥ २२६ ॥

“तिस्रो देवताः पृथिव्यप्तेजांसि जीवयतीति जीवः संकर्षणस्तेन
रूपेण नो सदासीन्नाऽसदासीत्तम आसी”दित्यादिश्रुतिं व्याख्याति-

नो सदासीदसन्न चेति सृष्टितः पुरो भयम् ।

निषेधन्ती हि भूतानामभावं वदति स्फुटम् ॥ २२७ ॥

अभावेनैव भिन्नेन स्यादद्वैतविरोधिता ।

कालपराग्रशब्देन विरोधो दुस्तरः भवेत् ॥ २२८ ॥

नो सदिति “यदन्यद्वायोश्चाऽन्तरिक्षाच्चैतत्सद्वायुरन्तरिक्षं चाऽसदिति”
श्रुद्ध्यनुसारात्सदसच्छब्दौ पञ्चभूतपरौ एतेन सदसतोर्निषेधात्तदानीं
स्थितस्य सदसद्भिन्नत्वरूपमनिर्वाच्यत्वं सिद्धमिति निरस्तम् । आ-
सीदवातमित्यनेन ब्रह्मणोऽपि तदानीं स्थित्युक्तेरनिर्वाच्यत्वापत्तेः
“आत्मा वा इदमेक एवाऽग्र आसीन्नाऽन्यत्किञ्चन मिषदिति” श्रुत्यन्तरे
जगन्मिषत्वेन विकसितत्वेनैव हि निषिद्धम् ॥ २२७ ॥ २२८ ॥

ननु द्वितीयाऽभावो ब्रह्मस्वरूप एवेत्यत आह--

सापेक्षस्य निषेधस्य नाऽनपेक्षचिदात्मता

चितस्तव सदा ज्ञानाच्छास्त्रारम्भो वृथा भवेत् ॥ २२९ ॥

सापेक्षस्येति । अभावः सप्रतियोगिको भ्रमकालानिश्चितश्च ब्रह्म
निष्प्रतियोगिकं भ्रमकाले निश्चितं च कथं तयोरैक्यम् अज्ञानाद्यधिष्ठा-
नतया ब्रह्मणस्तव मते सदाभानाच्छास्त्रारम्भवैयर्थ्यम् ॥ २२९ ॥

नेह नानाऽस्ति किञ्च मेति श्रुतिं व्याख्याति—

अवतारादिभेदेनेहेति निषेधति श्रुतिः ।

अन्तर्यामितया प्राप्तं लोकादितोऽपि वा हरेः ॥ २३० ॥

अवतारेति । नानेत्यत्र भावप्रधाननिर्देशः अवतारादिना प्रस-
क्तो ब्रह्मप्रतियोगिको भेदो ब्रह्मणि वार्यत इत्यर्थः ॥ २३० ॥

नानाशब्दो विनाऽर्थे वा विनाभूतं जगद्धरेः ।

अविनाभूतता व्याप्तिः सा नियम्यत्वतो हरेः ॥ २३१ ॥

यत्र तादात्म्येन जगत्तत्र नियामकत्वेन हरिर्यत्र हरौ न नियाम-
कत्वेन स्वाभावस्तत्र तादात्म्येन जगदभाव इति हि व्याप्तिः । एत-
द्वाक्यस्य जगन्मिथ्यात्वपरत्वे बृहदारण्यके “यस्मिन्पञ्च पञ्चजना
आकाशश्च प्रतिष्ठित” इति पूर्वेण “एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते
सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याऽधिपतिः एष सर्वेश्वर एष भूता-
धिपतिरेष भूतपाल एषसेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाये”त्युत्त-
रेण एषां काठके च “ईशानं भूतभव्यस्येति” पूर्वेण “ईशानो भूतभ-
व्यस्ये”त्युत्तरेण च विरोधः स्यात् ॥ २३१ ॥

पूर्वोत्तरानुसारेणाऽन्यस्येशाधीनतोदिता ।

भिन्नाभावोऽपि भिन्नः स्यात् व्याहतं तन्निषेधनम् ॥ २३२ ॥

अस्य जगतो भिन्नस्य जगतो ऽभावोऽपि भिन्न इति भिन्नमात्र-
निषेधो व्याहत इत्यर्थः ॥ २३२ ॥

“यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत्तत्केन कं पश्ये”दित्यादिश्रुतिर्मोक्ष-
प्रस्तावे व्याख्याताऽपि प्रसङ्गात्पुनर्व्याख्यायते—

यत्र विमुक्तिकालेऽस्य चाऽऽत्मैवाऽभूद्विजानतः ।

तदा कं केन पश्येत्स इत्यदर्शनमेव हि ॥ २३३ ॥

यत्रेति ॥ २३३ ॥

मुक्तौ द्वितीयाऽभावे लोके यदनिष्टम् अदर्शनं रूपादेरीश्वरस्य
च ज्ञानस्याऽभावस्तदापाद्यते—

आपाद्यते चिदेकत्वे तदनिष्टमतीव हि ।

रूपाद्यज्ञानतोऽन्यत्र लोके दुःखतरं भवेत् ॥ २३४ ॥

निमग्नस्य परे ज्ञाने किं न दुःस्वतरं भवेदिति—

भारतोक्तेः अन्यथा “सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेदे”ति वाक्यशेषविरोधः स्यात् । यः सर्वं क्षत्रब्रह्मादिकमात्मनोऽन्यत्राऽन्या-
धारकं निराधारं वा वेद तत्पराऽदात् खण्डयेदित्यर्थः स यथा दुन्दु-
भेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रह-
णेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीत इति च विरुद्धेत यथा द-
ण्डादिना ताड्यमानस्य भेर्यादेः दुन्दुभिशब्दसामान्यान्निकृष्टान्वाह्या-
न् तारमन्दरूपान् शब्दान् ग्रहीतुं न शक्नोति हन्यमानस्य दुन्दुभे-
स्तदाघातस्य वा ग्रहणेन ग्रहणे सति तदीयविशेषा ग्रहीतुं शक्यन्त
इत्यर्थः न हि दुन्दुभिशब्दस्तत्राऽध्यस्तः किन्तु तदधीनः ॥ २३४ ॥

“यत् द्वैतं न पश्यतीति पश्यन्वैतन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्वि-
परिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं
यत्पश्ये”दिति श्रुतिं व्याख्याति—

यद् द्वैतं नैव पश्येन्न द्वैतं तदस्ति किञ्चन ।

द्रष्टुर्दृष्टेर्न लोपो हि ब्रह्मभेदो निषिद्ध्यते ॥ २३५ ॥

यदिति । यत् तु स्वावतारगुणादिकं द्वैतं द्वितीयत्वेन
न पश्यति तत्ततो भिन्नं नाऽस्ति हि यतः पश्यन्सर्वज्ञ एव
सन्न पश्यति न हि द्रष्टुः सर्वज्ञस्य दृष्टेर्विपरिलोपो नाशो वि-
द्यतेऽविनाशित्वात् यज्जीवजडादिकं द्वितीयं विभक्तं पश्यति तत्
ततोऽन्यदित्यर्थः अन्यथा पूर्वत्र यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो
वा विपरिवृत्त्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ सँल्लयायैव ध्रियते एवमेवाऽयं
पुरुष इति तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्च न वेद-
नाऽन्तरम् एवमेवाऽयं पुरुष इति भिन्नसत्यनीडश्येनस्त्रीपुरुषतोक्तिः
प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्त इति जीवेशभेदोक्तिश्च विरुद्धेत ॥ २३५ ॥

“वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्य”मिति श्रुतिं
व्याख्याति—

वाचारम्भणशब्देन भाषाशब्दः प्रकीर्त्यते ।

यो व्याकरणानिष्पाद्यो वाचैव जन्यते हि सः ॥ २३६ ॥

वाचारम्भणेति । पदार्थविपर्यास इति शब्दः यथा “न वेति वि-

भाषे"त्यत्रेति शब्दः शब्दप्रकरणे पठितः शब्दपरत्वं प्रच्याव्याऽर्थपरत्वं व्यवस्थापयति तथा मृत्तिकेत्यत्रेति शब्दोऽर्थप्रकरणत्वाच्छब्दपरत्वं व्यवस्थापयति अन्यथाऽर्थप्रकरणादेवाऽर्थपरत्वे सिद्धे हीति शब्दो-
व्यर्थः । वाचया व्याकरणनिरपेक्षवाग्निन्द्रियेणाऽऽरभ्यते संस्कृताप-
भ्रंशरूपो भाषाशब्दो देशादिभेदेन विकृतः ॥ २३६ ॥

देशादिभेदतो नानाविकृतो मृत्तिकेति च ।

संस्कृतमेकरूपं न विकारि तेन सिद्ध्यति ॥ २३७ ॥

गावी गोणीत्यादिना देशादिभेदेन विकृतः मृत्तिकेत्यादिसं-
स्कृतरूपनामधेयम् एकरूपं देशादिभेदेनाऽविकारि ॥ २३७ ॥

व्यवहारस्ततो यः स्यात्सोऽधिकश्चाऽस्ति संस्कृतात् ।

तथाऽन्योपासनाद्यद्यत्फलं तदधिकं हरेः ॥ २३८ ॥

नानाभाषाशब्दैर्यावान् व्यवहारः सिद्ध्यति तावानधिकश्च सं-
स्कृतेनैकेनैव सिद्ध्यति यथा तथा देवान्तरज्ञानाद्यत्फलं तत्तदधि-
कं च हरेर्ज्ञानाद्भवतीत्यत्र वाचारम्भणमिति दृष्टान्तः सदृशज्ञाना-
त्सदृशस्य ज्ञानं भवतीत्यत्र मृत्पिण्डादयो दृष्टान्ताः ॥ २३८ ॥

ज्ञेयान्तरधियो यद्यत्फलं तत्सर्वमाप्नुयात् ।

ब्रह्मज्ञानादिति प्राहैकविज्ञानश्रुतिः परम् ॥ २३९ ॥

एकस्य हरेर्ज्ञानेन सर्वेषां ज्ञेयानां ज्ञानं तत्ज्ञानफलं भवति ॥ २३९ ॥
पराभिमतवाक्यार्थानुपपत्तिमाह—

विवर्त्तवादिनः सर्वे दृष्टान्ता हि विरोधिनः ।

न मृत्पिण्डविवर्त्तोऽस्ति घटो निकर्त्तनस्य वा ॥ २४० ॥

यथा शुक्तित्वबोधेन रूप्यं ज्ञातं भवेन्न हि ।

न ज्ञायेत घटस्तेऽथ मृत्पिण्डज्ञानतस्तथा ॥ २४१ ॥

विवर्त्तन्ति । यथा सोम्यैकमृत्पिण्डविज्ञानेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं
भवति एकनखनिकर्त्तनविज्ञानेन सर्वमयस्मयं विज्ञातं भवतीति
दृष्टान्ता असङ्गताः न हि घटादिर्मृत्पिण्डादिविवर्त्तः मृत्पिण्डविज्ञा-
नेन शुक्तिज्ञानेन रूप्यस्येव घटादेर्निवृत्त्यापत्तेः न चैकविज्ञानमिति

वाक्यं परस्य युक्तम् शुक्तिज्ञानेन रूप्यस्येव ब्रह्मज्ञानेन सर्वनाशस्यै-
वोचितत्वात् ॥ २४० ॥ २४१ ॥

सर्वं यदयमात्मेत्यादि श्रुतिं व्याख्याति—

इदं सर्वं हि यत्राऽऽस्ते विश्वं स्थावरजङ्गमम् ।

सोऽयमात्माऽखिलाधारो ऽनन्तगुणालयो हरिः ॥ २४२ ॥

इदमिति। इदं सर्वं यत् यस्मिन् यदाधारकं सोऽयमात्मा परेशः॥२४२॥

परयोजनयाऽपि नाऽद्वैतसिद्धिः चिज्जडयोरभेदस्य विरुद्धत्वात्
न च योऽयं स्थाणुतया ज्ञातः स न स्थाणुः किन्तु पुरुष इतिवद्यत्पूर्वं
सर्वत्वेन ज्ञातम् तत्राऽस्ति किन्तु ब्रह्मैवेति बाधायां सामानाधिकर-
ण्योपपत्तिरिति वाच्यम् ज्ञातनञ्चादिपदाध्याहारेणाऽस्याऽवैदिक-
वाक्यान्तरत्वात् अतः सर्वव्यापकत्वादिना सर्वाभेदोक्तिरित्याशये-
नाह—

सर्वव्याप्तिनिमित्तत्वाधारत्वकर्तृतादिभिः ।

निमित्तैरुच्यते भेदो विश्वपरेशयोः क्वचित् ॥ २४३ ॥

सर्वेति ।

सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वमिति—

स्मृतेः सर्वव्यापकत्वात् ब्रह्मणो वै सर्वा देवतेति सर्वाधारत्वा-
त्सर्वमित्युक्तिः ॥ २४३ ॥

यस्मात्परं नाऽपरमस्तीति श्रुतिं व्याख्याति—

यस्माद्धरेः परं नाऽस्त्यपरं हि जीवजडादिकम् ।

ईश्वराधीनमस्तीदं पूर्णं तेन जगत्सदा ॥ २४४ ॥

यस्मादिति। परं श्रेष्ठं नाऽपरं त्वस्तीत्यर्थः “वृक्ष इव तद्यो दिवि तिष्ठत्ये-
कस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेणेदं पूर्णं ततो यदुत्तरतरं तदु नाऽत्येति कश्चनेति”
वाक्यशेषविरोधः स्यात् द्वितीयस्याऽभावे किं केन पूर्णं कस्माच्चो-
त्तरतरं स्यात् ॥ २४४ ॥

ननु प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमिति श्रुत्या प्राणापेक्षया हरेः
सत्यत्वोक्त्या प्राणोपलक्षितविश्वस्य मिथ्यात्वं स्यादित्याशङ्कायां
श्रुतिं व्याख्याति—

प्राणोपलक्षितं विश्वं सत्यं विष्णुस्ततोऽधिकः ।

स्वतन्त्रत्वात्परः सत्यो राजराजो यथोदितः ॥ २४५ ॥

प्राणेति । ब्रह्मजगतोरबाध्यत्वाविशेषेऽपि स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्या-
दिनोत्कर्षापकर्षभावः वस्तुतस्त्वत्रोत्कर्षादिबोधकपदं नाऽस्त्येव
तेषामिति संबन्धमात्रस्यैव बोधनात् ॥ २४५ ॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यत्र सत्यत्वं ब्रह्मलक्षणमुक्तं तच्चाऽन्यस्य
सत्यत्वेऽतिव्याप्तं स्यादित्यन्यस्य मिथ्यात्वमित्यत आह—

वद्धमुक्तनियन्तारं सत्यशब्दो हरिं वदेत् ।

व्याख्या छान्दोग्य एतस्य नाऽतो विश्वं मृषा भवेत् ॥ २४६ ॥

वद्धेति “तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति” “तान्येता-
नित्रीण्यक्षराणि सन्ति यमिति” “तद्यत्सत्तदमृतम् अथ यन्ति तन्मर्त्यं
अथ यद्यन्तेनोभे यच्छतीति” छान्दोग्ये मुक्तामुक्तनियन्तृत्वं सत्य-
शब्दार्थ उक्तः ॥ २४६ ॥

नन्विन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत इति श्रुत्या ब्रह्मणो बहुभवनो-
क्त्या विश्वस्य मिथ्यात्वं तत्राऽऽह—

माया विचित्रशक्तिः स्यादिन्द्रस्तयेयते पुरुः ।

अवतारादिरूपेणाऽन्तर्याम्यादितया तथा ॥ २४७ ॥

इति श्रीवनमालिविरचिते वेदान्तसिद्धान्त

संग्रहे षष्ठोऽध्यायः ।

मायेति ।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं च महेश्वर—

मिति श्रुतेर्माया विचित्रशक्तिस्तैकोऽप्यवतारान्तर्यामित्वादिना
बहुना बहुधा प्रतीयते हरिः ॥ २४७ ॥

इति षष्ठोऽध्यायः ।

ननु काश्चन श्रुतयोजीवेशयोरभेदं भेदं चाऽपराः विश्वमिथ्यात्वं काश्चन तत्सत्यत्वं चाऽपराः ब्रह्मणो निर्गुणत्वं सगुणत्वं चेत्यादिश्रुतीनां विप्रतिपन्नत्वात्कथं तत्त्वनिर्णय इत्याशयेन पृच्छति—

शिष्यउवाच

श्रुतीनां गहनत्वान्मे संशयस्तत्र वर्त्तते ।

निश्चिनुर्यां कथं तत्त्वं ताभिरुक्तं त्वया प्रभो ॥ १ ॥

श्रुतिभिः प्रागुक्तं यत्त्वयाऽऽत्मादितत्त्वं तत्कथं निश्चेयम् ॥ १ ॥

गुरुरुवाच ।

आपातादन्य एवाऽर्थो विचारादन्य एव च ।

उपक्रमादिलिङ्गैश्च तत्त्वस्य निर्णयो भवेत् ॥ २ ॥

प्रत्यक्षाद्यविरुद्धोऽर्थो गृह्यते शिष्टपुङ्गवैः ।

तद्विरुद्धं हि मिथ्यात्वं जगतोऽतो न गृह्यताम् ॥ ३ ॥

सन् घट इति प्रत्यक्षविरुद्धं विश्वमिथ्यात्वमतो न श्रुतेस्तत्र तात्पर्यं, किं मिथ्यात्वं सत्यं मिथ्या वा, ऽऽद्ये न सर्वमिथ्यात्वासिद्धिः द्वितीये विश्वस्य सत्यत्वं स्यात् । नाऽहमीश्वर इति प्रत्यक्षेण विरोधाज्जीवेशाभेदश्रुतिरपि लक्षणया तत्सादृश्यादिपरा किञ्च, प्रपञ्चाभावादिकं चिन्मात्रं वा श्रुत्या बोध्यते, आद्ये अभावादिकं सत्यं मिथ्या वा, आद्ये तेनैवाऽद्वैतहानिः द्वितीये प्रपञ्चस्य सत्यत्वं स्यात् नाऽन्त्यः, यथाहि भूतलज्ञानं घटतदभावज्ञानाविरोधि तथा चिन्मात्रज्ञानं द्वैताविरोधि वस्तुतस्तूपक्रमादिना विचारे क्रियमाणे काऽपि श्रुतिर्न-विश्वमिथ्यात्वादिपरा, काश्चन श्रुतयो व्याख्याताः अवशिष्टा व्याख्यायन्ते ॥ २ ॥ ३ ॥

न न्वथाऽत आदेशो नेति नेतीति श्रुतिर्विश्वमिथ्यात्वपरेत्यत आह—

नेति नेति श्रुतिर्व्रूते वैलक्षण्यं परेशितुः ।

जडाज्जीवाच्च मिथ्यात्वं नैव कस्याऽपि भाषते ॥ ४ ॥

“तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजनं वासो यथा याङ्गविकं यथेन्द्रगोपो यथाऽग्न्यर्चिर्यथा पुडरकिं यथा सकृद्विद्युतं सकृद्विद्युते

- (७) न्यायरत्नमाला-श्रीपार्थसारथिमिश्र वि० सं० (मीमांसा) २
- (८) ब्रह्मसूत्रभाष्यम्-वादरायणप्रणीत-
वेदान्तसूत्रस्य यतीन्द्र श्रीमद्विज्ञान-
मिश्रकृत व्याख्यानम् । सम्पूर्णम् । } (वेदान्तः) ६
- (९) स्याद्वादमञ्जरी-मल्लिलषेणानिर्मिता सम्पूर्णा । (जैनदर्शनम्) २
- (१०) सिद्धित्रयम्-विशिष्टाद्वैत-ब्रह्मनिरूपण-
परम्-श्रीभाष्यकृतां परमगुरुभिः श्री ६
श्रीयामुनमुनिभिर्विरचितम् । सम्पूर्णम् } (वेदान्तः) १
- (११) न्यायमकरन्दः । श्रीमदानन्दबोधभट्टा-
रकाचार्यसंगृहीतः । आचार्यचित्सुख-
मुनिविरचितव्याख्योपेतः } (वेदान्तः) ४
- (१२) विभक्त्यर्थनिर्णयः न्यायानुसारिप्रथमादि-
सप्तविभक्तिविस्तृतविचाररूपः म० म०
श्रीगिरिशिरोपाध्यायविरचितः । सम्पूर्णः } (न्यायः) ५
- (१३) विधिरसायनम् । श्रीअण्णयदीक्षितकृतम् । सं० (मीमांसा) २
- (१४) न्यायसुधा (तन्त्रवार्तिकटीका) भट्ट-
सोमेश्वरविरचिता । } (मीमांसा) १६
- (१५) शिवस्तोत्रावली । उत्पलदेवविरचिता ।
श्रीक्षेमराजविरचितवृत्तिसमेता । } (वेदान्तः) २
- (१६) मीमांसावालप्रकाशः (जैमिनीयद्वादशा-
ध्यायार्थसंग्रहः) श्रीभट्टनारायणात्मज-
भट्टशङ्करविरचितः । } (मीमांसा) २
- (१७) प्रकरणपञ्चिका (प्रभाकरमतानुसारि-मीमांसादर्शनम्) महामहो-
पाध्यायश्रीशालिकनाथमिश्रविरचितं, श्रीशङ्करभट्टकृतो मीमांसा-
सारसंग्रहश्च सम्पूर्णः (मीमांसा) ३
- (१८) अद्वैतसिद्धिसिद्धान्तसारः । पण्डितप्रवरश्रीसदानन्दव्यासप्रणीत-
स्तत्कृतव्याख्यासमलङ्कृतश्च । (वेदान्त) ३
- (१९) कात्यायनश्रौतसूत्रम् । महामहोपाध्यायश्रीकर्का-
चार्यविरचितभाष्यसहितम् । १३
- (२०) ब्रह्मसूत्रभाष्यम् । श्रीभास्कराचार्यविरचितम् (वेदान्तः) १
- (२१) श्रीहर्षप्रणीतं खण्डनखण्डखाद्यम् । आनन्दपूर्ण-
विरचितया खण्डनफक्किाविभजनाख्यया व्या-
ख्यया (विद्यासागरी) ति प्रसिद्धया समेतम् । } (वेदान्तः) १३
- (२२) आख्यातवाङ्मिका श्रीभट्टमल्लविरचिता । १
- (२३) श्रीलक्ष्मीसहस्रम्-वालबोधिनीव्याख्यया-
ऽवतरणिकया च सहितम् । ८

- २४ ब्रह्मसूत्रवृत्तिः मरौचिका श्रीविजनाथभट्टकृता (वेदान्त) २
- २५ क्रोडपत्रसंग्रहः । अत्र श्रीकालीशङ्करसिद्धान्तवागीशविरचितानि अनुमानजागदीश्याः प्रत्य-
क्षानुमानजागदीश्याः प्रत्यक्षानुमानमाधुर्या व्युत्पत्तिवादस्य शक्तिवादस्य सुक्तिवादस्य शब्द-
शक्तिप्रकाशिकायाः कुसुमाञ्जलेषु क्रोडपत्राणि : (न्यायः) २
- २६ ब्रह्मसूत्रम्, द्वैताद्वैतदर्शनम् । श्रीसुन्दरभट्टरचितसिद्धान्तसेनुकाऽभिधट्टीकासहितश्रीदेवाचार्यै-
प्रणीतसिद्धान्तजाह्नवीयुतम् २
- २७ षड्दर्शनसमुच्चयः । बौद्धनैयायिककापिलजैनवैशेषिकजैमिनीयदर्शनं संक्षेपः । मणिभट्टकृत-
टीकया सहितः । हर्षिभट्टसंस्कृतः । २
- २८ शुद्धद्वैतमार्तण्डः प्रकाशव्याख्यासहितः । प्रमेयरत्नार्णवश्च २
- २९ अनुमानचिन्तामणिव्याख्यायाः शिरोमणिपुस्तकद्विधित्याजागदीशी टीका । १२
- ३० वीरमित्रोदयः । महामहोपाध्यायश्रीमित्रमिश्रविरचितः परिभाषा सस्कारप्रकाशात्मकः । ९
- ३१ वीरमित्रोदयः । महामहोपाध्यायश्रीमित्रमिश्रविरचितः आह्निकप्रकाशः ५
- ३२ स्मृतिसारोद्धारः विद्वद्रविवदम्भरत्रिपाठिसंकलितः । ४
- ३३ वेदान्तरत्नमञ्जूषा । श्रीभगवत्पुरुषोत्तमाचार्यकृता । २
- ३४ प्रस्थानरत्नाकरः । गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमजी महाराजविरचितः २
- ३५ वेदान्तपरिजातसौरभं नाम ब्रह्ममीमांसाभाष्यं श्रीनिम्बार्काचार्यविरचितम् । १
- ३६ योगदर्शनम् । परमहंसपरिवाजकाचार्य-नारायणतीर्थविरचित-योगसिद्धान्तचन्द्रिका-समा-
ख्यया संवलितम् । २
- ३७ वेदान्तदर्शनम् । परमहंसपरिवाजकाचार्यश्रीरामानन्दसरस्वती स्वामिकृत ब्रह्माऽमृतवर्षिणी
समाख्य व्याख्यासंवलितम् । ४
- ३८ विश्वप्रकाशः । कोशः । विद्वद्र श्रीमहेश्वरसुरिविरचितः । २
- ३९ श्रीसुबोधिनी । श्रीवल्लभाचार्यविनिर्मिता । श्रीमद्भागवतव्याख्या गोस्वामीश्रीविठ्ठलनाथदीक्षि-
तविरचित टिप्पणीसहिता । २
- ४० वीरमित्रोदयः । महामहोपाध्यायश्रीमित्रमिश्रविरचितः पुजाप्रकाशः । ३
- ४१ वेदान्तसिद्धान्तसंग्रहः । श्रुतिसिद्धान्तापरनामकः । श्रीब्रह्मचारिवनमालिमिश्रविरचितः । द्वैता-
द्वैतदर्शनानुगतः । २

पत्रादिप्रेषणस्थानम् }

हरिदास गुप्तः,
चौखम्बा, बनारस, सिटी,

THE

CHOWKHAMBÂ SANSKRIT SERIES;

A

COLLECTION OF RARE & EXTRAORDINARY SANSKRIT WORKS.

NO. 202.

वेदान्तसिद्धान्तसंग्रहः

श्रुतिसिद्धान्तापरनामकः

श्रीब्रह्मचारिवनमालिमिश्रविरचितः

द्वैताद्वैतदर्शनानुगतः

तद्दर्शनीयतात्पर्यकतत्कृतपद्यकदम्बव्याख्यानरूपः ।

द्वैताद्वैतदर्शनानुसारिणी वेदान्तकारिकावलोच

पण्डितश्रीपुरुषोत्तमप्रसादशर्मकृता; मूलकृतैव कृतयाऽध्यात्मसुधातरङ्गिण्याख्यटीकया सहिता

श्रीयुतकान्यकुब्जकवीन्द्रवर—दुःखभञ्जनशर्मतनुजनुवा सहित्यसङ्ख्ययोगाद्यनेकशास्त्रा-

ध्यापकेन—देवीप्रसादशर्मकविना संशोधितौ ।

VEDÂNTASIDDHÂNTASANGRAHA,

WITH A COMMENTARY BY SRÎ BANAMALI MISHRA,

AND VEDÂNTA KÂRIKAVALI,

By Pandit Purushottama Prasad Sarma,

With a Commentary called Adhyatmasudha Tarangini,

Edited by Devi Prasada Sarma Kavi.

FASCICULUS III - 2

PUBLISHED & SOLD BY THE SECRETARY;

CHOWKHAMBÂ SANSKRIT BOOK-DEPÔT,

BENARES.

AGENTS:- OTTO HARRAS OWITZ, LEIPZIG

PANDITA JYESHTHÂRAMA MUKUNDAJI, BOMBAY;

PROBSTHAIN & CO; BOOKSELLERS, LONDON.

Printed by Jai Krishna Das Gupta,

at the Vidya Vilas Press.

BENARES.

Price Rupee one.

॥ श्रीः ॥

—:०:—

आनन्दवनविद्योतिसुमनोभिः सुसंस्कृता ॥

सुवर्णाऽङ्कितभव्याभशतपत्रपरिष्कृता ॥ १ ॥

चौखम्बा-संस्कृतग्रन्थमाला मञ्जुलदर्शना ॥

रसिकालिकुलं कुर्यादमन्दाऽऽमोदमोहितम् ॥ २ ॥

स्तवकः—२०२

- १ अस्या चौखम्बा—संस्कृतग्रन्थमालायां प्रतिमासं पृष्ठशतके सुन्दरैः सीसकाक्षरैरुत्तमेषु पत्रेषु एकः स्तवको मुद्रयित्वा प्रकाशयते । एकस्मिन् स्तवके एक एव ग्रन्थो मुद्रयते ।
- २ प्राचीना दुर्लभाश्चामुद्रिता मीमांसावेदान्तादिदर्शनन्याकरणधर्मशास्त्रसाहित्यपुराणादिग्रन्था एवात्र सुपरिष्कृत्य मुद्रयन्ते ।
- ३ काशिकराजकीयप्रधानसंस्कृतपाठशालाऽध्यापकाः पण्डिता अन्ये च शास्त्रदृष्टयो विद्वांस एतत्परिशोधनादिकार्यकारिणो भवन्ति ।
- ४ भारतवर्षीयैः, ब्रह्मदेशीयैः, सिंहलद्वीपवासिभिश्चैतद्ग्राहकैर्देयं वार्षिकमभिमतं मूल्यम्—मुद्राः ७ आनकाः ८
- ५ अन्यैर्देयं प्रतिस्तवकं " " १ " •
- ६ प्रापणव्ययः पृथग् नास्ति ।

साम्प्रतं मुद्रयमाणा ग्रन्थाः—

- (१) संस्काररत्नमाला । गोपीनाथभट्टकृता खण्डे २
- (२) शब्दकौस्तुभः । भट्टोजिदीक्षितकृतः १०
- (३) श्लोकवार्तिकम् । भट्टकुमारिलविरचितम् पार्थसारथिभिरभूतन्यायरत्नाकराख्यया व्याख्यया सहितम् । सम्पूर्णम् । १०
- (४) भाष्योपबृंहितं तत्त्वत्रयम् । विशिष्टाद्वैतदर्शनप्रकरणम् । श्रीमन्नोकाचार्यप्रणीतम् । श्रीनारायणतन्त्रविरचितभाट्टभाषाप्रकाश-सहितं सम्पूर्णम् (वेदान्तः) २
- (५) करणप्रकाशः । श्रीब्रह्मदेवविरचितः १
- (६) भाट्टचिन्तामणिः । महामहोपाध्यायश्री-गागाभट्टविरचिता । तर्कपादः (मीमांसा) २
- (७) न्यायरत्नमाला श्रीपार्थसारथिभिरविर-चिता सम्पूर्णः (मीमांसा) २
- (८) ब्रह्मसूत्रभाष्यम्—बादरायणप्रणीतवेदान्त-

सूत्रस्य यतीन्द्रश्रीमद्विज्ञानभिक्षुकृतव्या-ख्यानम् । सम्पूर्णम् । (वेदान्तः) ६

- (९) स्याद्वादमञ्जरीमन्निषेणानिर्मिता सम्पूर्णा २
- (१०) सिद्धित्रयम्—विशिष्टाद्वैतब्रह्मनिरूपणपरम् श्रीभाष्यकृतां परमगुरुभिः श्री ६ श्रीयामु-नमुनिभिर्विरचितम् । सम्पूर्णं (वेदान्तः) १
- (११) न्यायमकरन्दः । श्रीमदानन्दबोधभट्टार-काचार्यसंगृहीतः । आचार्यचित्सुखमुनि-विरचितव्याख्योपेतः (वेदान्तः) ४
- (१२) विभक्त्यर्थनिर्णयो न्यायानुसारिप्रथमादि-सप्तविभक्तिविस्तृताविचाररूपः म० म० श्रीगिरिधरोपाध्यायविरचितः सम्पूर्णः (न्यायः) ५
- (१३) विधिरसायनम् । श्रीअप्पयदीक्षितकृतम् । सम्पूर्णम् (मीमांसा) २
- (१४) न्यायसुधा (तन्त्रवार्तिकटीका) भट्टसो-मेश्वरविरचिता । (मीमांसा) १६

व ह वा अस्य श्रोर्भवति य एवं वेदेति,, पूर्वं पुरुषस्येशस्य विचित्र-
रूपत्वं तज्ज्ञानस्य श्रीप्राप्तिरूपं फलं चोक्ता “अथाऽत आदेशो नेति
नेति न ह्यस्मादिति नाऽन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति”
“प्राणावै सत्यं तेषामेव सत्यमिति” जडजीववैलक्षण्यमुक्त्वा ततः
परमुत्कृष्टमन्यत् निषिद्ध्य प्राणोपलक्षितविश्वसत्तायास्तदधीनत्वमे-
वोक्तम् ॥ ४ ॥

“ननु न वारे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय
सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासित-
व्यो मैत्रेय्यात्मनो वारे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञातेनेदं सर्वं विदित”
मित्युपक्रमानुरोधेन जीवस्यैव द्रष्टव्यत्वादिकं तच्चेशाभेदे सत्येव
तस्योपपद्यते तयोरभेदस्तु द्वैतमिथ्यात्वे सत्येव स्यादित्यत आह—

कामाय ह्यात्मनः सर्वं प्रियं स्यादित्युपक्रमः ।

आत्मत्वेनैव तद्विद्धि स्यादुपसंहृतिश्चितः ॥ ५ ॥

कामायेति । उपक्रमोपसंहारावात्मत्वेनैव न तु जीवत्वेनेशत्वेन
च । यथा सिद्धपाकविषयकपाकत्वप्रकारकज्ञानादसिद्धपाकविषयि-
केच्छा जायते सिद्धे इच्छाविरहात् तथाऽऽत्मत्वेन जीवस्योपक्रमेऽपि
दर्शनश्रवणमननानिदिध्यासनानुपपत्त्योपसंहार ईश्वरविषयक एव,
यथा वा चातुर्मास्ये पर्वद्वये द्वयोः प्रणयन्तीति प्रणयनविधायकस्य
वाक्यस्य सार्थक्यायाऽतिदेशप्राप्तगार्हपत्यापादानकाहवनीयावधिकप्र-
णयनातिरिक्ताहवनीयापादानकोत्तरवेद्यवधिकापूर्वप्रणयनविषयकत्वं
कल्प्यते तथा दर्शनादिविध्यन्यथानुपपत्त्योपसंहारस्येशविषयकत्वं
कल्प्यते नचाऽतीवेशाभेदेनोपसंहारोपपत्तिः प्रत्यक्षसिद्धजीवाभिन्ने-
शस्याऽपि प्रत्यक्षसिद्धत्वेन दर्शनादिविधिवैयर्थ्यात् अज्ञानाद्यधिष्ठा-
नतया सदा प्रत्यक्षाच्चिन्मात्रादातिरिक्तविशेषमनङ्गीकुर्वतो दर्श-
नादिविधिवैयर्थ्यमेव । नच प्रत्यक्षेण विशिष्टं गृह्यते न शुद्धं विशि-
ष्टभावे विशेष्यभानावश्यकत्वात् । तद्विज्ञानेन सर्वेषां देवानां विज्ञा-
नेन फलं भवति इत्यर्थः तद्विज्ञाने सर्वविज्ञानमनुपपन्नमेव ।
अधिष्ठानतत्त्वज्ञानेन ह्यध्यस्तस्य नाश एव न ज्ञानम् न हि शुक्ति
ज्ञानेन रूप्यं ज्ञातमपि तु नष्टम् अतो जीवादत्यन्तविलक्षणः सदनन्तगु-
णालयो हरिरेव विहितदर्शनादिविषयः “सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः

सर्वं वेदे”त्युत्तरश्रुतिः सर्वस्याऽऽत्माधारकत्वं बोधयन्ती सर्वस्य सत्य-
त्वं बोधयति “इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं
सर्वं यद्यमात्मे”त्यपि श्रुतिरपीदं सर्वं यद्यस्मिन् सोऽयमात्मा परमा-
त्मेत्यर्थपरा सत्याधाराधेयभावं बोधयन्ती भेदपरा ॥ ५ ॥

“स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य नवाह्याञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्र-
हणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः स यथा वीणायै वाद्यमानायै न
वाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य श-
ब्दो गृहीतः स यथाऽर्द्धेन्धनाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्ये-
व वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्चसितमेतद्यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः साम-
वेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्य-
नुव्याख्यातानी”ति संगृह्णाति—

दुन्दुभिशब्दयोः सत्त्वं वीणातच्छब्दयोर्यथा ।

धूमाम्नोश्चैव सत्यमीश्वरजगतोस्तथा ॥ ६ ॥

परस्परभिन्नानां समसत्ताकानां दुन्दुभितच्छब्दानां वी-
णातच्छब्दाग्निधूमादीनां दृष्टान्तत्वं द्वैतसत्यत्व एवोपपद्यते
न हि दुन्दुभ्यादौ तच्छब्दादिरध्यस्तः किन्तु तद्धीनः त-
था ब्रह्मक्षत्रादीनां सर्वेषामन्याधारकत्वं निषेधन्ती ब्रह्माधारकत्वं
चाऽऽक्षिपन्ती दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तेन ब्रह्मसमसत्ताकत्वं बोधयति य-
था दण्डादिना ताड्यमानस्य भेर्यादेस्तारमन्दरूपान्वाह्यान् ग्रहीतुं न
शक्नोति दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन आहननमाघातः तद्विशिष्टस्य वा दुन्दु-
भेर्ग्रहणे सति शब्दसामान्यविशिष्टदुन्दुभिर्ग्रहणे सति तद्गता-
विशेषा गृह्यन्ते एवं वीणादावपीत्यर्थः यथा सामान्यं विना विशेषो-
नाऽवतिष्ठते तथा ब्रह्म विना जगन्नाऽस्तीत्येवं प्रतीयते न तु ब्रह्मणि तद्-
ध्यस्तमिति दृष्टान्तानानुगुण्यात् सामान्ये विशेषस्याऽनध्यासात् ।
ततो जगदुत्पत्तिविषये आर्द्धेन्धनाग्निधूमदृष्टान्तवाक्येऽपि लीलया-
ऽनायासेन निश्चसितवज्जगत्सर्जनमित्येवं प्रतीयते न तु तत्राऽ-
ध्यासः ॥ ६ ॥

“स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा त-
द्यथा रथनाभौ चाऽराः सर्वे समर्पिता एवमेवाऽस्मिन्नात्मनि सर्वे प्राणाः
सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मानः समर्पिता”

इति श्रुति संगृह्णाति—

चिज्जडानां चितां भेदं स्पष्टं बोधयति श्रुतिः ।

तथा जीवबहुत्वं च स वा इत्यादिका स्फुटम् ॥ ७ ॥

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां प्राणिनामधिपतिः पालको राजा शिक्षकश्च रथनाभावित्यादिसर्वाणि भूतानीत्यन्तेन जडानां च सर्वेषां ब्रह्माधारकत्वमुक्तं सर्व एत आत्मानः समर्पिता इत्यन्तेन मुक्तानां तदाधारकत्वमुच्यतेऽन्यथा सर्वाणि भूतानीत्यन्तेन पुनरुक्तिः स्यात् ॥७॥

“रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत” इति श्रुति संगृह्णाति—

जीवं जीवं प्रतीशानोऽन्तर्यामी बहुधाऽभवत् ।

माया विचित्रशक्तिः स्यादन्तर्यामितया बहुः ॥ ८ ॥

रूपं रूपं जीवादिकं प्रत्यन्तर्यामितया बभूव मायाभिर्विचित्रशक्तिभिरन्तर्यामितया मत्स्याद्यवतारादिना बहुरूपः प्रतीयते इत्यर्थः ॥८॥

ननु विश्वं दृष्टिसृष्टिरेव “अस्मादात्मनः सर्वे प्राणा” इत्यादिश्रुतिस्तत्र मानामिति मन्दाशङ्कामपाकर्तुं श्रुतिं व्याख्याति—

सर्वे लोकास्तथा प्राणा देवा भूतानि सर्वशः ।

अस्मादात्मन ईशानाज्जायन्ते सृष्टिकालतः ॥ ९ ॥

ईशकर्तृकैवेयं सृष्टिरित्यर्थः ॥ ९ ॥

यत्रैषोऽभूत्प्रसुप्तो वा एषोऽन्तर्हृदये विभुः ।

तस्मिञ्छेत इतीत्थं हि प्रक्रान्तो जगदीश्वरः ॥ १० ॥

इदंपदेनेश्वरं परामर्शयितुं “यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेत” इति सुप्ताधारेण प्रस्तावकं वाक्यमुदाहरति ॥ १० ॥

जीवानां दर्शनं नास्ति सर्वलोकादिगोचरः ।

जीवात्सुप्तोत्थितात्सृष्टिर्युज्यते न कथं च न ॥ ११ ॥

“यथोर्णनाभिस्तन्तूनुच्चारयति यथाऽग्नेः शुद्रा विष्कुलिङ्गा व्युच्चर-

न्त्येवमेवाऽऽत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि
सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्रा-
णा वै सत्यं तेषामेव सत्यमिति” श्रुत्योर्णनाभितन्त्वग्निविष्णुलिङ्गदृष्टा-
न्तेन सुप्ताधारतया प्रस्तुतादिदंपदेन परामृष्टादीशाद् देहद्वारा जी-
वानां च परमार्थसतां सृष्टिकाले सृष्टिरुच्यत इत्यर्थः । “अथ यदा
सुषुप्तो भवति यदा न कस्य च न वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः
सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतितिष्ठन्ति ताभिः प्रत्यवसृष्य पुरीत-
ति शेत्” इति सुप्तावज्ञातनाडीसत्त्वं वदन्त्या श्रुत्या दृष्टिसृष्टिमत्
भङ्गात् ॥ ११ ॥

संस्कारादृष्टदेहानां सुप्तौ ज्ञानस्य वर्जनात् ।

उत्थितिर्न ततोऽतः स्यान्निद्रितस्य कथञ्चन ॥ १२ ॥

ज्ञानार्थं श्रवणादौ स्वर्गार्थं यागादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् दृष्टिसृ-
ष्टिमते कार्यकारणनियमाभावादित्यपि बोध्यम् ॥ १२ ॥

“जीवेशावाभासेन करोति माया ऽविद्या च स्वयं भवती”ति
श्रुतिं व्याख्याति—

आभासो हि भ्रमस्तेन युतावीशासुधारिणौ ।

करोत्याच्छाद्य तत्त्वं सा जीवम्प्रतीशजीवयोः ॥ १३ ॥

जीवं प्रतीशजीवयोस्तत्त्वमाच्छाद्य जीवाधिकरणकान्यथाज्ञान-
विषयौ तौ संपादयतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

अन्यथा ज्ञानमेवाऽऽह—

जीवे वपुरभिन्नत्वं तत्तुल्यत्वं परेशितुः ।

भासयन्ती मुधा माया विद्याशब्दोदिता स्वयम् ॥ १४ ॥

अहं गौरः स्थूल इत्यादिना जीवस्य देहाभेदभ्रमजनिका

अवजानन्ति मां मूढाः मानुषीं तनुमाश्रितम्

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्

नाऽहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं नाऽभिजानाति लोको मामजमव्यय-

मित्युक्तं जीवं प्रतीशस्याऽन्यथा ज्ञानं जनयतीति जीवं प्रती-

शतत्वमाच्छादयन्ती मायापदेन जीवतत्त्वमाच्छादयन्ती चाऽविद्या-
पदेन व्यवहियते इत्यर्थः ॥ १४ ॥

कृतिगोचरतेशस्य जीवस्याऽपि हि बाधिता ।

जगतोऽनीश्वरत्वं स्यात् जीवो नष्टो भवेदथ ॥ १५ ॥

जन्यस्येश्वरत्वे मानाभावः सर्वजनकेश्वरबोधकश्रुतिविरोधः ।

जन्यस्य जीवस्य नाशवश्यकत्वान्निर्मोक्षप्रसङ्गश्च स्यात् ॥ १५ ॥

ननु जीवेशयोर्भेदं मायाकृतमाहेयं-

श्रुतिरिति व्याख्यामाशङ्क्य निराकरोति -

भेदं मायाकृतं ब्रूते जीवेशयोर्दुराग्रहात् ।

अनादित्वं च षण्णां स उपेक्ष्यो व्याहृतार्थकः ॥ १६ ॥

जीवेश्वरौ विशुद्धा चिद्विभागस्त्वनयोर्द्वयोः ।

अविद्या तच्चित्तोर्योगः पडस्माकमनादय-

इति भेदस्याऽनादित्वं मायाकृतत्वं च ब्रुवन्नुन्मत्तइवोपेक्ष्यः ॥ १६ ॥

ईशस्य स्वातन्त्र्यं मायाकृतं जीवस्य पारतन्त्र्यं चाऽविद्याकृत-
मित्येतच्छ्रुत्यर्थं परोक्तं दूषयितुमुपक्षिपति-

स्वातन्त्र्यं परमेशस्य मायाधीनं ब्रवीति यः ॥

अस्वातन्त्र्यं तथा जीवेऽविद्यया कल्पितं मुधा ॥ १७ ॥

स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं चांभे मुधा मिथ्या ॥ १७ ॥

दूषयति ।

सोपेक्ष्यो वेदविद्वेषी मायास्वामित्वमागमैः ।

स्फुटमुक्तं हि चेशस्य व्याहृतैवं स्वतन्त्रता ॥ १८ ॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं च महेश्वर--

मित्यादि श्रुतिभिः

प्रकृतिर्या मया ख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी ।

पुरुषश्चाऽप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि ।

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।

स ईशो यद्वशे माये"त्यादिस्मृतिभिश्च मायास्वामित्वं हीशस्यो-

क्तम् । निरवधिकस्वातन्त्र्यं पराधीनमित्येतद्व्याहतम् ॥ १८ ॥

अस्वातन्त्र्यं सदा जीवे सिद्धं प्रत्यक्षतः स्फुटम् ।

मुक्तौ तद्भगवान् ब्रूते जगद्ध्यापारनिवारकः ॥ १९ ॥

जगद्ध्यापारवर्जमिति सूत्रकृता मुक्तौ जीवस्य जगज्जनकत्वं वारय-
ता स्फुटमस्वातन्त्र्यमुक्तम् ॥ १९ ॥

ननु जीवेशभेदो मायिक इत्येतच्छ्रुत्यर्थस्तत्राऽऽह—

भिदाया मायिकत्वे च स्यात्तदूट्टाष्टिः प्रभोः कथम् ।

मायामोहं विना युक्तं न मायिकस्य दर्शनम् ॥ २० ॥

मायामोहं विना मायिकभेदादर्शनात्स्वभिन्नजीवपालनोपदेशा-
दौ प्रवृत्तिर्न स्यादित्यर्थः ॥ २० ॥

“न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति अथ रथान्
रथयोगान्पथः सृजते न तत्राऽऽनन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथाऽऽनन्दा-
न्मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वै शान्ताः स्रवन्त्यः पुष्करिण्यो भवन्त्यथ
वै शान्ताः स्रवन्तीः पुष्करिणीः सृजते स ह कर्त्ते”ति श्रुतिं व्याख्याति—

रथादीनाञ्चतुर्थोऽत्र सामयिको भाव ईरितः ।

सृष्टिः पश्चाद्रथादीनामुदितेश्वरवृत्ता ॥ २१ ॥

॥ २१ ॥

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहृत्याऽसुप्तः सुप्तानभिचाकशीति ।

शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पौरुषं एकहंसः ।

प्राणेन रक्षन्नपरं कुलायं वहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा ।

स ईयते अमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पौरुष एकहंस-

इत्युत्तरवाक्यानुसारेणेश एवाऽत्र कर्त्ता न जीव इत्याह—

योऽसुप्तोऽलुप्तविज्ञानः सुप्तान् भासयतीतरान् ।

स एवाऽत्र हि कर्त्तेशोऽतोऽतादृग् न देहभृत् ॥ २२ ॥

य इति । स्वप्नावस्थया शरीरं शरीराभिमानिनं जीवं प्रतिहृत्या-
ऽऽच्छाद्य स्वयमसुप्तस्तं प्रकाशयति शुक्रं ज्योतिष्मज्जीवमादाय ना-
डीविशेषं विहाय हृदयस्थानमेति हिरण्मयः प्रकाशरूपः पौरुषोऽन्त-

यामी एकहंसः सदैव सारासारविवेकज्ञः ॥ २२ ॥

स्वामिकानां रथादीनां सृष्टिम्प्राह श्रुतिः स्फुटम् ।

भवेत्सत्त्वमतस्तेषां त्रिकालाबाधलक्षणम् ॥ २३ ॥

श्रुतिप्रामाण्यानुपपत्त्या स्वामिकरथादीनां पारमार्थिकसत्यत्वं
स्यात् ॥ २३ ॥

यदा यस्य प्रतीतिः स्यात् तदा बाध्यत्वमात्रतः ।

त्रैकालिकस्य बाधस्याऽभावः सत्त्वं भवेद् दृढम् ॥ २४ ॥

यस्मिन्काले यत्प्रतीतं तत्कालाबाध्यत्वमात्रेण त्रैकालिको यो
बाधस्तदभावरूपं सत्यत्वं सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

स्वामिकरथादीनां मृषात्वे तत्सृष्टिवोधकश्रुतेरप्रामाण्यं स्या-
दित्यर्थः ।

अप्रामाण्यं श्रुतेस्तस्यास्तन्मिथ्यात्वोररीकृतौ ।

कर्त्ता तत्र परेशः स्यादुपादानं हि वासना ॥ २५ ॥

तत्रेशः कर्त्ता वासनोपादानम् ॥ २५ ॥

ननु जीव एव तत्र कर्त्ता किं न स्यात्तत्राऽऽह—

स्वतन्त्रस्तत्र जीवश्चेत्स्वानिष्टोत्पादनं कथम् ।

इष्टमेव सदा कुर्यात्स्वप्ने तर्ह्यसुभृद्भ्रशम् ॥ २६ ॥

स्वप्ने यदि जीवः स्वतन्त्रः कर्त्ता स्यात्तर्हि व्याघ्रादिकं कथमु-
त्पादयेत् प्रत्युत स्वाभीष्टानेवोत्पादयेत् ॥ २६ ॥

ननु शुक्तिरूप्यादेरिव कर्त्तारं विनैव स्वाप्नानां सृष्टिः स्यात्त-
त्राऽऽह—

विना कारणमुत्पत्तिर्वस्तुनो नैव युज्यते ।

उत्पत्तौ शुक्तिरूप्यादेर्मानं किञ्चिन्न विद्यते ॥ २७ ॥

स्वप्नदृष्टमन्त्रादेर्न बाधो दृश्यते यतः ।

अतो मिथ्या न सर्वं स्याद्यत्स्वप्ने दृष्टिगोचरः ॥ २८ ॥

वस्तूत्पत्तौ कर्त्ताऽपेक्ष्यते शुक्तिरूप्यं न वस्तु न वा तस्योत्पत्ति-

मानाभावात् । इदमेतावद्रूप्यतया ज्ञातं रूप्यमत्र नाऽसीदित्यनुभवाच्च
॥ २७ ॥ २८ ॥

ननु “वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिव”दिति सूत्रं प्रपञ्चे स्वप्नवैलक्षण्य-
बोधकमनुपपन्नं भवतामुभयोरपि सत्यत्वात्तत्राऽह--

यस्य तत्रैव बाधः स्यात्तन्मिथ्यात्वमुरीकृतम् ।

तद्वैलक्षण्यमाहाऽत्र सूत्रं न स्वाप्नमात्रतः ॥ २९ ॥

यस्य स्वशिरश्छेदादेः ॥ २९ ॥

“आत्मैवेदमग्र आसी”दिति श्रुतिं व्याख्याति--

आसीदेव परेशानोऽस्याग्रेऽकार्पीन्न किञ्च न ।

आसीद्व्याकृतं पूर्वं नामादिना विरच्यते ॥ ३० ॥

अस्य प्रपञ्चस्याऽग्रे इदमग्रे परमात्माऽऽसीदेव तदानीं न किं
चिदकार्पीदित्यर्थः नन्वितरनिषेध एव किं न स्यात्तत्राऽऽह ।

आसीदिति । “तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रि-
यत” इत्युत्तरश्रुत्या प्रलये विकृतप्रधानसत्त्वस्याऽनन्तरं नामादिना
विक्रियमाणत्वस्य चोक्तत्वात् ॥ ३० ॥

“ब्रह्म वा इदमग्रआसीत् तदात्मानं वा वेदाऽहं ब्रह्माऽस्मीति त-
स्मात् सर्वमभव”दिति श्रुतिं व्याख्याति--

ब्रह्माऽऽसीद्यत्पुरा सृष्टेस्तद्ब्रह्माऽस्मीत्यवोन्निजम् ।

तत्सर्वं व्यापकत्वाद्धि सर्वं चाऽभवदीश्वरः ॥ ३१ ॥

सर्वं समाप्नोषि ततो ऽसि सर्वमिति स्मृतेः ॥ ३१ ॥

“तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा
मनुष्याणा”मिति श्रुतिं व्याख्याति--

यो देवानां तथर्षीणां मनुष्याणां तथा परम् ।

ब्रह्माऽवेत्सोऽभवद्ब्रह्म कीटभृङ्गनयाद् बुधः ॥ ३२ ॥

यथा भृङ्गं ध्यात्वा कीटो भृङ्गो भवति तथा ब्रह्मज्ञानान्निवृत्ता-
विद्य आविर्भूतपूर्णगुणो भवतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

“तद्धेतत्पश्यन्नुपिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चे”ति

श्रुतिं व्याख्याति ।

सूर्योऽहं मनुरेवाऽहं वामदेवो ब्रवीति यत् ।
तदन्तर्याम्यभिप्रायं तदभेदार्थकं परम् ॥ ३३ ॥
नियम्यानां हि भेदेन तत्र भेदप्रसञ्जनम् ।
अन्तर्यामिणमाहाऽहं वामदेवेरितं वचः ॥ ३४ ॥

सूर्याद्यन्तर्याम्यभिन्न इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ ३४ ॥
नन्वन्तर्यामिणि भेदप्रसक्त्यभावात्किमभेदोपदेशस्तत्राऽऽह--

सूर्याद्युत्तरसोन्याय्या सप्तम्यर्थे हि लक्षणा ।
वाच्यार्थाभेदविज्ञानमयोग्यत्वान्न सम्भवेत् ॥ ३५ ॥

तस्मादहं नामाऽभवत् तस्योपनिषदहमिति—
अहंनामा हरिर्नित्यमहेयत्वात्प्रकीर्तित-
इत्यादिश्रुतेः ।

सर्वान्तर्यामिको विष्णुः सर्वनाम्नाऽभिधायते-
एषोऽहं त्वमसौ वेति न तु सर्वस्वरूपत-

इत्यादिस्मृतेश्चाऽहं शब्दोऽन्तर्यामिणि रूढः “अहं तत्तेजोरश्मीन्
नारायणं पुरुषं जातमग्रतः तमिममहं विजानाती”ति श्रुत्यन्तरे अहे-
येऽहंशब्दप्रयोगाच्च अन्यथाऽहं विजानामीति स्यात् सूर्यादिप्रातिप-
दिकसुव्विभक्तेः सप्तम्यर्थे लक्षणा युक्ता ह स्फुटम् एतदन्तर्यामि-
स्वरूपं पश्यन्वामदेवः प्रतिपेदे शिष्यान्प्रतिपादितवानित्यर्थः ॥ ३५ ॥

सविभक्तिकनाम्नां ते सर्वेषां लक्षणा मते ।

आधुनिकी जघन्या च साऽनुशासनिकी मम ॥ ३६ ॥

तत्र सविभक्तिकसर्वप्रातिपदिकानां लक्षणा जघन्याऽऽधुनिकी
च । सुव्विभक्तिमात्रे सा सुपांसुलुगिति सूत्रेण प्रथमैकवचनस्य सोः
सर्वसुव्विभक्त्यर्थे लक्षणाया उक्तत्वादानुशासनिकी ॥ ३६ ॥

यथाश्रुताभेदस्तु परमतेऽपि न सम्भवतीत्याह—

विशिष्टस्य मिथ्यात्वं स्वीकुर्वता परेण हि ।

नाऽङ्गीकृतो भेदोऽत्र निर्विशेषात्मवादिना ॥ ३७ ॥

दण्डिपुरुषभावे पुरुषभानवद्विशिष्टब्रह्मभावे विशेष्यभानावश्य-
कत्वेन तन्मात्रबोधार्थलक्षणा व्यर्था ॥ ३७ ॥

विशिष्टग्रहणे तूच्चैर्विशेष्यग्रहणं भवेत् ।

लक्षणाऽपि तव व्यर्था ज्ञातार्थस्य विवर्जनात् ॥ ३८ ॥

भेदाभावस्याऽभेदस्य वा विशेष्याधिकस्य लाक्षणिकबोधविष-
यत्वेऽद्वैतहानेः ॥ ३८ ॥

“य एवं वेदाऽहं ब्रह्माऽस्मीति स इदं सर्वं भवति तस्य ह देवाश्च
नाऽभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवतीति श्रुतिं व्याख्याति—

विशेष्याधिकधर्मस्य भेदाभावादिकस्य च ।

अङ्गीकारे भवेद् ध्वस्तमद्वैतं तावकं भृशम् ॥ ३९ ॥

ब्रह्माऽस्तीति विजानाति यः स सर्वमिदं भवेत् ।

सर्वैकमत्यमाप्नोति जीवतत्त्वस्य बोधतः ॥ ४० ॥

यो वामदेववज्जातसर्वान्तर्यामीशापरोक्षोऽहं ब्रह्मपूर्णानन्दरूपो-
ऽस्मीत्येवं शुद्धं जीवस्वरूपं जानाति स इदं यत् मनुष्यगन्धर्वदेवर्षिं
ब्रह्मलोकादौ प्रसिद्धं भोक्तृजातं तत्सर्वं भवति तत्तदनुभाव्यानन्दा-
न्प्राप्नोति हस्तिपदे सर्वपदानामन्तर्भूतत्वं यथा तद्वत् “सोऽश्नुते
सर्वान्कामा” निति श्रुतेः ॥ ३९ ॥ ४० ॥

तस्य भूतिं न विघ्नन्ति देवास्तेषां पदं यतः ।

न स वाञ्छति पूर्णत्वात्प्रियः स्यादात्मवत्परम् ॥ ४१ ॥

आविर्भूतपूर्णानन्दत्वात् क्षुद्रानन्दहेतुदेवपदानाकाङ्क्षी सुरा-
णामात्मवत्प्रियोऽतस्ते तदन्तरायं न कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

“अप्यनेवंचित् महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धाऽन्ततः क्षीयत एवा-
ऽऽत्मानमेव लोकमुपासीत् स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हाऽस्य
कर्म क्षीयत” इति श्रुतिं व्याख्याति—

ब्रह्मज्ञेन कृतं कर्म सकामं क्षीयते ततः ।

ब्रह्मज्ञेन कृतं तत्र क्षीयते फलतः क्वचित् ॥ ४२ ॥

अज्ञेन कृतं सकामं कर्म नद्वरफलकं ब्रह्मज्ञेन निष्कामं तदन्तः-

करणशुद्धिद्वारा मोक्षरूपाक्षयफलकमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

“यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरो योऽशनायापिपा-
से शोकं मोहं जरां मृत्युमपेत्येवं वैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः
पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्या
चरन्ती”ति श्रुतिं व्याख्याति—

अव्यक्तोऽप्यपरोक्षत्वं कृपया याति विश्वभृत् ।

अन्तर्याम्यखिलानां यः शोकमोहादिवर्जितः ॥ ४३ ॥

अक्षैरिन्द्रियैः सह वर्त्तत इति साक्षा जीवास्तानातयति प्रेर-
यतीति साक्षात् अव्यक्तस्वभावोऽपि कृपया विषयतया अपरोक्ष-
ज्ञानमतति प्राप्नोतीत्यपरोक्षात् सर्वान्तर्यामी शोकाद्यस्पृष्टो यस्त-
मात्मानमन्तर्यामिणं विदित्वा वेदितुं सर्वैषणा विहाय संन्यासमनु-
तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

“इदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्वा य ओताश्च प्रोताश्चेति द्यौर्लोके-
षु गार्गीति कस्मिन्नु द्यौर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गा-
र्गीति कस्मिन्वाऽऽदित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति
कस्मिन्नु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति कस्मि-
न्नु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु दे-
वलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु प्र-
जापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु
ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स हो वाच गार्गि माऽतिप्राक्षीर्मा ते
मूर्द्धा व्यपसद् अनतिप्रश्ना वै देवता न अतिपृच्छसि गार्गि माप्राक्षी-
रिति ततो ह गार्गी उपररामे”ति श्रुतिं व्याख्याति—

अवादीनामशेषाणां लोकानामाश्रयः परम् ।

ब्रह्म नाऽस्त्याश्रयस्तस्य तत्प्रश्नो हि निवारितः ॥ ४४ ॥

अवादीनां प्रजापतिलोकान्तानां चेतनाचेतनानामाश्रयो ब्रह्मलो-
काज्ञानरूपं ब्रह्म बहुवचनं बहुरूपाभिप्रायेण

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।

रुद्रं समाश्रिता देवा रुद्रो ब्रह्माणमाश्रितः ॥

ब्रह्मा मामाश्रितो राजन्नाऽहं कञ्चित् समाश्रये-

इत्यादिस्मृतेः

॥ ४४ ॥

किञ्ज्योतिरयं पुरुष इति ज्ञानसाधने पृष्ठे आदित्यचन्द्राग्निवा-
चां ज्ञानसाधनत्वे कथिते अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्त-
मिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किञ्ज्योतिरेवाऽयं पुरुष इति पृष्ठे
आत्मज्योतिः आत्मनैवाऽयं ज्योतिषाऽस्त इति स्वविषयकत्व-
रूपमात्मनः स्वप्रकाशत्वं कथितं संगृह्णाति—

परमात्मैव जीवस्य सुप्त्यादौ ज्ञानसाधनम् ।

स्वप्रकाशोऽपि तद्योगात् गृह्णाति स्वसुखं तदा ॥ ४५ ॥

सुप्तौ नाडीस्थभगवन्मूर्त्तियोगाज्जीवः स्वानन्दमनुभवति स्वप्र-
काशत्वं तु मामहं जानामीत्यनुभवेन

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।

यत्र चैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यती—

त्याद्यागमेन च सिद्धं “कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः पुरुषः
प्राणेषु दृढ्यन्तर्ज्योतिः समानः सन्नुभौ लोकौ सञ्चरति ध्यायतीव
लेलायतीव सुधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमभिक्रामती”त्युत्तरवाक्यमपी-
श्वरपरमेव जीवस्य समानतया लोकद्वयसञ्चरणाभावात् सञ्च-
रत्यादेरन्तर्भावितण्यर्थत्वकल्पनात् ॥ ४५ ॥

“स वा एष एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च
पापं च पुनः प्रतियोन्यां प्रतियोन्यां द्रवति स ह यत्किञ्चित्पश्यत्य-
नन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष” इति श्रुतिं व्याख्याति—

रत्वेत्याद्या रवाः सर्वेऽन्तर्भावितणिजर्थकाः ।

असङ्गोऽत्र परं ब्रह्म निर्लेपत्वादिलक्षणम् ॥ ४६ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहे—

तिस्मृतेः ॥ ४६ ॥

पूर्वोत्तरानुसारेण गीर्णेहेति निषेधति ।

भेदं ब्रह्मगतं प्राप्तमन्तर्यामितया स्फुटम् ॥ ४७ ॥

“ईशानं भूतभव्यस्य यस्मिन्पञ्च पञ्चजताः आकाशश्च प्रतिष्ठित”

इति पूर्वस्य “सर्वस्य वशी सर्वेशानः सर्वस्याऽधिपतिः सर्वमिदं प्र-
शास्ति यदिदं किञ्च स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवाऽसाधुना
कनीयानेष भूनाधिपतिरेष लोकेश्वर एष लोकपालः स सेतुर्विधरण
एषां लोकानामसम्भेदाये”त्युत्तरस्य च वाक्यसमूहस्याऽनुसारा-
द्भावप्रधाननिर्देशेन ब्रह्मगतमन्तर्यामित्वादिना प्रसक्तभेदं “नेहना-
नाऽस्ति किञ्चने”त्यनयानिषिध्यते ॥ ४७ ॥

“तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा-
श्रद्धया यज्ञेनाऽनाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रवा-
जिनो लोकमीप्सन्तः प्रयजन्तीति श्रुतिं व्याख्याति—

सर्वेशानं तदामृश्य जिज्ञासा तस्य विधीयते ।

ज्ञेयः प्राप्यः स एव स्यात् मुक्तानां गुणसागरः ॥ ४८ ॥

सर्वस्य वशीत्यादिना प्रकृतं सर्वेश्वरं तच्छब्देन परामृश्य तद्वि-
विदिषा विहिता स एव मुमुक्षूणां ज्ञेयो मुक्तानां प्राप्यश्चेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

“यो भूमा तत्सुखं नाऽल्पं सुखमस्ति भूमैव सुखं यत्र नान्यत्पश्यति-
नाऽन्यच्छृणोति नाऽन्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्राऽन्यत्पश्यत्यन्य-
च्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्म-
र्त्यं स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नी”ति श्रुतिं व्याख्याति—

भूमा पूर्णगुणो विष्णुः पूर्णानन्दः सदैव हि ।

जीवोऽल्पस्तमपेक्ष्येशं स्वल्पानन्दः स्वभावतः ॥ ४९ ॥

जडे सुखाप्रसक्त्या जीवे सुखमात्रनिषेधासम्भवेन पूर्णसुख-
स्यैव हि जीवे निषेधः ॥ ४९ ॥

यस्मिन् दृष्टे श्रुते काङ्क्षाऽन्यद् द्रष्टुं श्रोतुमेव च ।

जायते न स भूमा हि पूर्णानन्दः सदा भवेत् ॥ ५० ॥

अलौकिकानन्तगुणे दृष्टे श्रुते चाऽन्यविषयकदिदृक्षा न जायते
स भूमा विजिज्ञास्यः ॥ ५० ॥

यस्मिन्दृष्टे श्रुते काङ्क्षा स्यादन्यदीयदर्शने ।

तदल्पं पूर्णता तस्य विद्यते न सदा भृशम् ॥ ५१ ॥

तज्जीवस्वरूपमल्पं न तस्य सदाविर्भूतपूर्णता संसारदशायाम-

विद्यया ऽऽवृतत्वात् ॥ ५१ ॥

आत्मैवेदं स एवेदमित्यादयो गिरः स्फुटम् ।

आहुः सार्वार्त्म्यमीशस्य सर्वव्याप्तृत्वलक्षणम् ॥ ५२ ॥

“स एवाऽधस्तात्स उपरिष्ठात्स पश्चात्स परस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति एवमहमेवाऽधस्तादहमेवेदं सर्वमित्यन्तं एवमात्मैवाऽधस्तादित्याद्यात्मैवेदं सर्व”मित्यन्तं च वाक्यं व्याख्याति—

सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व-

इत्यनुसारात्सर्वव्यापकत्वरूपसार्वार्त्म्यमुक्तम् तच्च सर्वस्वातन्त्र्यलक्षणं बहूनां न सम्भवतीति भूमाहङ्कारात्मनामभेदसिद्धिः मुमुक्षुज्ञेयः भूमत्वाहङ्कारत्वात्मत्वगुणविशिष्टः परमात्मोपदिश्यते न भूमन्ः सकाशादहङ्कारादेः पृथगुपदेशो व्यर्थः ॥ ५२ ॥

आत्मैवोपरि चाऽधस्तात्सोऽधस्तादुपरीति च ।

उपर्यधो हि सम्बन्धो ऽपरथा व्याहतो भवेत् ॥ ५३ ॥

यथाश्रुताभेदः सर्वेण जडादिना सहाऽसम्भवी ।

सर्वं नाऽस्ति किन्तु स एवेत्यर्थ उपर्यधः सम्बन्धोक्त्यनुपपत्तिरक्षरार्थास्पर्शश्चेत्यर्थः ॥ ५३ ॥

“ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगदि”ति श्रुतिं व्याख्याति-

व्याप्तं सर्वं परेशेन यत्किञ्चिद् दृश्यते जगत् ।

ईशावास्यमितीत्येतद्वाक्यमाह स्फुटं किल ॥ ५४ ॥

ईशा परेशेन वास्यं पाल्यं व्याप्यमित्यर्थः ॥ ५४ ॥

“यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवाऽनुपश्यति सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते” इति श्रुतिं व्याख्याति—

सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।

आधाराधेयभावेन भेदो भूतेशयोः स्फुटः ॥ ५५ ॥

यो हरितत्वज्ञानी सर्वभूतानि तदाधारकाणि तमन्तर्यामितया सर्वभूतेषु पश्यति ततो दर्शनान्न विजुगुप्सते न ग्लायति सर्वस्ये-

शाधीनत्वं पश्यतो रागद्वेषाद्यभावात् ग्लान्यभाव इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

“यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवा ऽभूद्विज्ञानतः तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः” इति वाक्यं व्याख्याति—

ब्रह्मतत्त्वधिया ऽविद्याशोकनिवर्त्तनं ततः ।

ज्ञानत्वानन्दतायैश्च जीवेशैक्यं हि पश्यतः ॥ ५६ ॥

यस्मिन्परमात्मनि सर्वाणि भूतानि परेशाधीनानि तदाधारकाणि विज्ञानत आत्मैवाऽभूत् आत्मयाथात्म्यज्ञानविरोध्यज्ञानात्माऽविद्या नाऽभूदित्यर्थः । तत्राऽऽत्मतत्त्वे को मोहो यथार्थात्मतत्त्वधीप्रतिबन्धकः तद्विरोधितत्त्वधियो जातत्वात् । अविद्याहेतुकदेहगेहादिष्वहं-ममेतिधियोऽभावात् पुत्रवित्तादिनाशहेतुकशोको न भवति ज्ञानानन्दत्वादिना जीवानां जीवेशयोश्चैकत्वमनुपश्यतः ॥ ५६ ॥

“यो ऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मिवायु”रिति श्रुतिं व्याख्याति—

पुरुषो यो ह्यसावीशः सोऽन्तर्यामी मयि प्रभुः ।

प्रथमाया भवेद् वृत्तिः सप्तम्यर्थे हि लक्षणा ॥ ५७ ॥

अन्यथा वायुरमृतमथेदं भस्मान्तं शरीरमित्युत्तरवाक्यविरोधः स्यात् न हि शरीरादेरपि जीवेश्यम् ॥ ५७ ॥

“ब्रह्मविदाप्नोति परं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद विहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिते”ति वाक्यं संगृह्णाति—

सत्यं ज्ञानमनन्तं यो ब्रह्म जानाति बुद्धिमान् ।

गुहायां हृदये कामान्प्राप्नोति सोऽखिलान् नरः ॥ ५८ ॥

ब्रह्मणा हेतुना सह युगपत् सर्वान्कामान्सर्वयोग्याशेषानानन्दानश्नुत इत्यर्थः । मायिनां सत्यत्वादिविशिष्टस्य सृष्टाभूतस्य ज्ञानं मोक्षाहेतुरिति वाक्यमसंगतम् न च लक्षणया शुद्धब्रह्मज्ञानं मोक्षकमिति वाच्यम् सत्यादिपदैर्लक्षणया ह्यसत्यादिकमेव बोधनीयं न च तज्ज्ञानं मोक्षहेतुः न च सत्यत्वादिधर्मं त्यक्त्वा सच्छक्तिमात्रे लक्षणा विशेष्यमात्रस्य शाक्तबोधेनैव विषयीकृतत्वेन लक्षणावैयर्थ्यात् ॥ ५८ ॥

“तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुर्वा-

योरग्निरग्रेरापोऽद्भ्यः पृथिवी"त्यादि वाक्यं संगृह्णाति—

शुद्धं ब्रह्म तदामृश्य ह्याकाशादेस्ततो जनिम् ।

वदन्ती जगतां कर्तुर्ज्ञानं मोचकमाह हि ॥ ५९ ॥

सत्यादिवाक्यबोधितं शुद्धं ब्रह्म तत्पदेन परामृश्य जगत्कर्तृत्वा-
दिविशिष्टमेव शुद्धं मुमुक्षुर्ज्ञेयमिति प्रतिपादितमित्यर्थः ॥ ५९ ॥

“अम्भस्यपारे भुवनस्य मध्ये नाकस्य पृष्ठे महतो महीयान्—

शुक्रेण ज्योतींषि समनुप्रविष्टः प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः ।

यस्मिन्निदं सर्वं—

यस्मिन् देवा अधि विश्वे निपेदुः येनाऽऽवृतं खञ्ज दिवं
महीं च ।

येनाऽऽदित्यस्तपति तेजसा यमतः समुद्रे कवयो वयन्ति ।

यद्वदक्षरे परमे प्रजाः ।

यतः प्रसूता जगतः प्रसूतीः तोयेन जीवान् विससर्ज भूम्याम् ।

यदोषधीभिः पुरुषान्पशूंश्च विवेश भूतानि चराचराणि ॥

यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात् ।

तदेवर्तं तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम् ।

य एवं विदुरमृतास्ते भवन्ती”-

ति श्रुतिं संगृह्णाति-

सर्वाधारो ऽधिशायी यो जगतां जनको हरिः ।

अखिलव्यापिनस्तस्य ज्ञानं मोक्षस्य कारणम् ॥ ६० ॥

समुद्रस्य भुवनमध्ये रूपविशेषेण तिष्ठति, निरधिकमहान् शु-
क्रेण ज्योतिः स्वरूपेणाऽन्तर्यामितया ज्योतींषीतिसूर्यादीननु प्रविष्टः,
प्रजापतिः ब्रह्मा यस्य गर्भे चरति, यस्मिन्निदं सर्वम् आब्रह्म स्तम्बप-
र्यन्तं तिष्ठति, ये कवयः क्रान्तदर्शिनः समुद्रे वयन्ति जानन्ति, यतो
जगज्जातम्, यो देहद्वारा जीवान्ससर्ज, एकं मूलरूपेणाऽवतारादिना-
ऽनन्तरूपं तदेव ब्रह्मपदवाच्यम्, य एवं पश्यन्ति मुक्तास्ते भवन्ती-
त्यर्थः ॥ ६० ॥

“अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।

तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ।

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः सप्तजिह्वाः सप्त इमे लोकाः”

“इत्यादिकां महत्वादिगुणविशिष्टस्य प्राणादिविश्वजनकत्वादिविशिष्टस्य ब्रह्मणो ज्ञानं मोक्षकं वदन्तीं श्रुतिं संगृह्णाति—

महत्वादिगुणाम्भोधेर्ज्ञानं बन्धविमोचकम् ।

प्राणादिविश्वकर्तुश्च तथेत्याह श्रुतिः स्फुटम् ॥ ६१ ॥

अक्रतुं निर्लेपं तस्यैव तं पश्यत्यथ वीतशोको मुक्तो भवति ॥६१॥

“सहस्रशीर्षं देवं विश्वज्ञं विश्वशम्भुवम् ।

विश्वं नारायणं देवमक्षरं परमं पदम् ॥

विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम् ।

विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति ॥

याति विश्वस्याऽऽत्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम् ।

नारायणं महाज्ञेयं विश्वात्मानं परायणम् ॥

नारायणः परो ज्योतिरात्मा नारायणः परः ।

यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयते ऽथ वा ॥

अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणःस्थितः”

इति श्रुतिं संगृह्णाति—

सविशेषं परं ब्रह्म जगद्ध्यापि सविग्रहम् ।

मुमुक्षुणां महाज्ञेयं श्रुतिराह जनार्दनम् ॥ ६२ ॥

पदं मुक्तप्राप्यम् विश्वस्य प्रतिपालकम् आत्मनां जीवानामीश्वरं नियन्तारं शिवं सुखरूपम् मुमुक्षुणां महाज्ञेयं ज्योतिः स्वप्रकाशरूपम्, आत्मा आततो व्यापकः, ब्रह्म गुणपूर्णम्, अन्तः अन्तर्यामितया वह्निर्व्यापकतया, अतस्तद्व्याप्यत्वेनाऽपि विश्वस्य सत्यत्वम् ॥ ६२ ॥

“अन्यत्र धर्मादन्यत्राऽधर्मान्यत्राऽस्मात्कृताकृतात् अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति वयांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रह्मिण्योमित्येतत् एतदेवाऽक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाऽक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तदि”ति श्रुतिं संगृह्णाति—

सर्वशब्दामिधेयस्य सत्यानन्तगुणाम्बुधेः ।

ज्ञानं हेतुः पुमर्थानां चतुर्णामाह हि श्रुतिः ॥ ६३ ॥

धर्मादेरन्यत्र कृतात्कार्यादकृतादनादेः प्रकृतेर्जीवाश्च भूतादि-
कालाच्चाऽन्यत्र परमात्मनि यत्तत्त्वं पश्यासि तद्वदेति तत्त्वे पृष्टे
सर्वे वेदाः सर्वाणि वयांसि च वचांसि यत् सर्वशब्दप्रवृत्तिनिमि-
त्तैरनन्तैर्विशिष्टं वदन्ति यदीयप्राप्तिमिच्छन्तो ब्रह्मचर्यादिकं
कुर्वन्ति तत्त्वं मुक्तैः पद्यते प्राप्यत इति पदं तुभ्यं संग्रहेण व्या-
ख्यास्यामि अनन्तगुणाब्धेः साकल्येन व्याख्यानासम्भवात् एतद् एत-
देव प्रणववाच्यं ब्रह्मतज्ज्ञानादेव पुमर्थचतुष्टयावाप्तिरित्यर्थः ॥ ६३ ॥

“नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा वृणुते तनुं स्वामि”ति
श्रुतिं संगृह्णाति—

श्रुतादिना गम्यो ऽयं परमात्मा कदाचन ।

प्रसादादेव तस्यैव लभ्यः स्यात्करुणानिधिः ॥ ६४ ॥

॥ ६४ ॥

“ऋतं पिवन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ती”ति श्रुतिं व्याख्याति ।

रूपभेदेन संख्येशे द्वित्वादिः सूपपद्यते ।

भक्तापितस्य भोक्तृत्वं प्रसिद्धं जगदीश्वरे ॥ ६५ ॥

ऋतपानकर्तृत्वादिविशिष्टपरेश एवोऽत्रोक्तः एतत्सर्वं परे आत्म-
नि प्रविष्टमिति प्रस्तुत्य “एष हि द्रष्टा संप्रष्टा श्रोता रसयिते”त्या-
दिश्रुत्या—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वर—

मित्यादिस्मृत्या च भोक्तृत्वोक्तेः न चाऽनश्नन्नन्य इति
विरोधः तस्याऽपुण्यमेवाऽमुं गच्छतीतिसावधारणश्रुत्यनुसा-
रात्पापफलाभोक्तृत्वपरत्वात् न च द्वित्वसंख्यानुपपत्तिः अ-
दितिः पाशान् प्रयुनक्तीत्यत्रैकपाशेऽवयवाभिप्रायेण बहुवचनं यथा
तथा रामकृष्णावित्यादाविव द्विवचनोपपत्तेः न च द्वा सु-

पर्णा सयुजा इत्यादाविव संख्यया भेदः स्यात् ह्य सुपर्णा
इत्यादौ हि प्राक् संख्याऽनिश्चयाभावात्तया भेदसिद्धिः । प्रकृते यस्य
ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः मृत्युर्यस्योपसेचनमिति पूर्वं यः
सेतुराजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् अभयं तितीर्षन् पारमित्युत्तरत्र
चैकत्वनिश्चयान्न संख्या भेदिका अत एवैकादश प्रयाजान् प्रयजती-
त्यादावावृत्त्यैवैकादशत्वसंपादनम् प्रयाजानां पञ्चत्वस्य प्राक् नि-
श्चयात् गुहाप्रविष्टत्वं तु यो वेद निहितं गुहायामित्याद्युक्तमन्तर्या-
मिणः सूपपन्नम् । साधून्प्रति सुखहेतुत्वात् छायात्वं खलान्प्रति-
दुःखहेतुत्वादातपत्वं च प्रतियोगिभेदेनोपपन्नं विस्तृतं सूत्रवृत्तौ ॥६५॥
ननु तर्हि जीवस्याऽभोक्तृत्वं स्यादिति मन्दशङ्कां निरस्यति—

इन्द्रियादियुतो जीवो भुङ्क्ते कर्मफलानि वै ।

संसारे मुक्तिगो नैवं स्वानुभूतुष्टिरेव यत् ॥ ६६ ॥

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिण—

इति श्रुतेः । मुक्तौ तु स्वसुखानुभवेन तुष्टः ॥ ६६ ॥

“मुक्तानां विष्णुप्राप्तिं बोधयन्तीं श्रुतिं” संगृह्णाति—

सारथिर्यस्य विज्ञानं मनः प्रग्रह एव च ।

सोऽध्वनः पारमभ्येति विष्णोस्तत्परमं पदम् ॥ ६७ ॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति सदा शुचिः स तु तत्पदमाप्नोति यस्मा-
द् भूयो न जायते विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः सोऽध्वनः
पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदमिति” । पद्यते मुक्तैः प्राप्यते इति
पदं विष्णोः स्वरूपं लोको वा ॥ ६७ ॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति—

रिति श्रुतिं संगृह्णाति—

पुरुषो हरिरेवोक्तो ह्यव्यक्तात्प्रकृतेः परः ।

सर्वभूतेषु गूढत्वं तस्यैव सूपपद्यते ॥ ६८ ॥

इन्द्रियसाधकत्वादर्थः शब्दादयस्ततः पराः तेभ्यो मनः परं सूक्ष्मत्वात् संकल्पादिरूपात्ततोऽध्यवसायात्मिका बुद्धिः कारणत्वान्महानात्मा महत्त्वं तद्धेतुत्वात्ततः परमव्यक्तं प्रधानम् ततः परस्तन्त्रियामकः पुरुषो हरिः “एष सर्वेषु भूतेषु गूढो ह्यात्मा न प्रकाशते” “दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मदर्शिभिः” रित्युक्तम् । अन्तर्यामितया सर्वगूढत्वमेकाग्रबुद्धिदृश्यत्वं तस्यैव सूपपन्नम् ॥ ६८ ॥

यस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नाऽत्येति कश्चन ।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाश्रुपैर्वाह्यदोषैः ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतननामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषामन्तः शान्तिः शाश्वती-

नेतरेषा—

मिति श्रुतिं संगृह्णाति—

अन्तर्यामित्वविज्ञानाल्लोकाश्रयत्वगोचरात् ।

चेतनोत्तमताज्ञानान्मुक्तिमाह श्रुतिः स्फुटम् ॥ ६९ ॥

अग्निवाय्वादिद्यथा भुवनं तत्स्थं प्राणिजातं प्रविष्टो बहिश्चाऽस्ति तथैक ईशोऽन्तर्यामितया सर्वप्राणिषु प्रविष्टो व्यापकतया बहिश्चेत्येतत्स्वरूपस्याऽचिन्त्यशक्तेर्ज्ञानं तथा बहुचेतननियामकत्वतत्कामपूरकत्वादिविशिष्टस्य ज्ञानं मुक्तिहेतुरित्यर्थः ॥ ६९ ॥

“न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाती”ति श्रुतिं संगृह्णाति—

सूर्यादीनां प्रकाशस्याऽत्रेशाधीनत्वमुच्यते ।

सर्वमितिपदं ब्रूते सूर्यादीन् प्रस्तुतान् स्फुटम् ॥ ७० ॥

सर्वमित्यनेन प्राक् प्रस्तुतं सूर्यादिकमेव गृह्यते हरियोजनं सर्वे-
ऽभिलिप्सन्त इत्यत्र यथा प्रकृता ऋत्विज एव गृह्यन्ते नाऽन्ये-
तद्वत् ॥ ७० ॥

नन्वधिष्ठानीभूतब्रह्मभानेनाऽध्यस्तं सर्वं भातीत्यर्थः किं न स्यात्
तत्राऽऽह—

भेदेऽनुशब्दः स्यात्सार्थकः स न विद्यते तव ।

शता भानाश्रये शक्तः षष्ठी तस्येति ते वृथा ॥ ७१ ॥

चैत्रं गच्छन्तं मैत्रोऽनुगच्छतीत्यादिषु क्रियाभेदे सत्येवाऽनुशब्दः
प्रयुज्यते । न हि त्वन्मते ब्रह्मभानातिरिक्तभानमस्ति शता शत-
प्रत्ययोऽपि भानाश्रयवाचको भानमात्रे ब्रह्मण्यसङ्गतः तस्येति पण्य-
पि ते वृथा ॥ ७१ ॥

“अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि इति शुश्रुम पूर्वेषां ये
नस्तद्याचाक्षिर” इति श्रुतिं व्याख्याति—

अन्यत्साकल्यतो ज्ञातादज्ञातात्तुच्छतः परम् ।

अन्यथा शुश्रुमेत्यादिविरोधो दुस्तरः भवेत् ॥ ७२ ॥

साकल्येन प्रमितान्तुच्छाच्चाऽन्यत् अन्यथा पूर्वेषां सकाशात्
इति शुश्रुम ये पूर्वं तद्याचाक्षिरे इति विरोधः स्यात् ॥ ७२ ॥

“यद्याचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं
यदिदमुपासते यन्मनसा न मनुते येनाऽऽहुर्मनो मतं यच्चक्षुषा न प-
श्यति येन चक्षूंषि पश्यति यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रसिद्धं श्रुतं
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्राणायत” इति श्रुतिं व्याख्याति—

यच्छ्रुत्वा मनसा मूर्तिः कल्प्यते योगिभिः परम् ।

तदेव ब्रह्म विद्धि त्वं नेदं यन्मनसा कृतम् ॥ ७३ ॥

अतर्यामीन्द्रियाणां यः कथं तैर्गृह्यतां हि सः

अव्यक्तोऽपि स्वयं चित्ते कृपयाऽऽविर्भवेत्कचित् ॥ ७४ ॥

गोचरः श्रवणादीनां कृपया भवतीश्वरः ।

श्रवणादौ हि जीवस्य स्वातन्त्र्यं वार्यतेऽनया ॥ ७५ ॥

यच्छ्रुत्वा मनोमयी मूर्तिः कल्प्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि मनो-
मयी मूर्तिं ब्रह्म न भवतीत्यर्थः अन्यथा यदिदं मन्यसे सुवेदेति दहर-
मेव नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपमिति ब्रह्मणः सूक्ष्मत्वेन वेदनोक्ति-
र्विरुद्धयेत ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

‘ते मन्ये विदितं नाऽहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च यो
नस्तद्वेद नो न वेदेति वेद च यस्याऽमतं तस्य मतं यस्य न वेद सः
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानता’मिति श्रुतिं व्याख्याति—

इयत्तया विजानाति यस्तस्य विदितं न हि ।

नेयत्तया विजानाति विदितं तस्य योगिनः ॥ ७६ ॥

नाऽहं मन्ये सुवेदेति साकल्यादिना नो न वेदेति मन्ये किन्तु
साधनसम्पन्नस्तत्प्रसादेन यःकश्चन वेद च येन साकल्येन ब्रह्म ज्ञातं
तेन न ज्ञातमतत्त्वज्ञानित्वात् येन तथा न ज्ञातं किन्तु स्वयोग्यगुण-
विशिष्टमेव ज्ञातं तेन ज्ञातं सम्यग्ज्ञानित्वात् । भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य
धीराः प्रेत्याऽस्माल्लोकादमृता भवन्तीत्युत्तरवाक्यविरोधः स्यात् ॥ ७६ ॥

‘कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवती’ति शौनकेन पृष्टे
‘द्वे विद्ये वेदितव्ये यद्वेदविदो वदन्ति परा धैवाऽपरा च तत्राऽपरा ऋग्वे-
दो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरण’मित्यादिकाम-
परामुक्त्वा ‘अथ परा ययाऽक्षरमधिगम्यत’ इति ऋगादिरूपाया एवा-
ऽक्षरत्वेन परविद्यात्वमुत्कृष्टविषयकत्वात् अतस्तस्याः परविद्यात्वो-
पपादनाय विषयस्य परमत्वं निरूपयति ‘यत्तददेश्यमग्राह्यमगोत्र-
मवर्णमचक्षुरश्रोत्रं तदपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सूक्ष्मं तदव्ययं यद् भूत-
योनिं परिपश्यन्ति धीराः यथोर्णनाभिः सृजते गृहीते च यथा पृथि-
व्यामोपधयः सम्भवन्ति यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरा-
त्सम्भवतीह विश्व’मितिमां श्रुतिं संगृह्णाति—

साकल्येन त्वदृश्यत्वमक्षरस्योपपद्यते ।

अन्यथा परिपश्यन्ती व्याहतं भवेत्स्फुटम् ॥ ७७ ॥

अक्षरस्य सर्वथा ऽज्ञेयत्वे कस्मिन् भगवो विज्ञात इति प्रश्नस्य

परिपश्यन्ति धीरा इत्युत्तरस्य चाऽसङ्गतिः स्यात् ॥ ७७ ॥

भगवतोऽङ्घ्रिकञ्जस्य श्रीगोपालस्य रेणवः ।

क्रियासुर्वैभवं वाचामघराशेऽश्व शोधनम् ॥ १ ॥

भुक्त्वा श्यामाकमुष्टिं विपदमदमयद्दीनबन्धुर्द्विजाते—

र्दत्वा भूतीः पराः स्वाः धृतकर इति मा देहि मां पद्मया यः ॥

द्रौपद्याः शाकलेशात् त्रिभुवनमपुष्यज्वनां दुःप्रसाद्यो

वाक्यानां संग्रहान्मे भवतु मुररिपुः कारितात् स्वेन तुष्टः ॥ २ ॥

श्रीगोविन्दविहारभूषितभुवो वृन्दावनात्प्राग्दिशि ।

क्रोशान्तात्त्रियुगे पुरे मुनिभरद्वाजीयवंशोद्भवाः ॥

श्रीसन्नाहमुचो वसन्ति विबुधो वर्णी ह्यभूत्तत्कुले ।

सम्पूर्णः श्रुतिसंग्रहो विरचितोऽयं तेन कृष्णेच्छया ॥ ३ ॥

इति श्रीवेदान्तसिद्धान्तसंग्रहे वनमालिरचिते

सप्तमोऽध्यायः

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।



श्रीहरिशरणम् ॥

वेदान्तकारिकावली ॥

अध्यात्मसुधातरङ्गिण्याख्यव्याख्याऽलङ्कृता ।

द्वैताद्वैतमतानुगता ।

श्रीगणेशाय नमः ।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ॥

श्रीधर्मदेवपादाब्जं स्वभूवंशाब्धिसम्भवम् ।

संसारतापशान्त्यर्थं बुद्धौ संधारयेऽनिशम् ॥ १ ॥

अथ सकलब्रह्मरूपादिवन्दितादपीठाचिन्त्यानन्तस्वरूपगुणशक्तिः श्रीवासुदेवाक्षतो जगदुद्दिधीर्षुर्भगवाँच्छ्रीसुदर्शनो नियमानन्दसमाख्यया ऽवनीतलावतीर्णः सर्ववेदान्तशास्त्रार्थमनेकप्रबन्धैर्वाक्यार्थरूपेण सञ्जग्राह, ताँश्च प्रबन्धाद् छङ्गावतारस्तच्छिष्यप्रवरो भगवाँच्छ्रीश्रीनिवासाभिधो निगदं वभाषे, श्रीपुरुषोत्तमाचार्यादयश्च विवरणयामासुः, तेषां शब्दतोऽर्थतश्चाऽपारत्वेनाऽतिगम्भीरांशयत्वेन चाऽल्पबुद्धीनां तज्जिज्ञासूनां तत्र प्रवृत्त्यनर्हतामवगम्य तेभ्यस्तदर्थजिग्राहयिषया सुकरोपायस्य पूर्वाचार्य्यप्रणीतशास्त्रार्थसंग्रहरूपस्याऽध्यात्मसुधातरङ्गिण्याख्यग्रन्थस्याऽऽरम्भः श्रीश्रीनिवासानुग्रहैककामेन मया क्रियते, तस्याऽर्थसंग्रहश्लोकाश्च,

अत्र सप्त तरङ्गाः स्युः प्रथमे प्रत्यगात्मनः ।

द्वितीये निर्णयो ज्ञेयो ऽचित्स्वरूपस्य संग्रहः ॥ १ ॥

तृतीये भण्यते तत्त्वं परेशस्य यथागमम् ।

संप्रदायानुसारेण सिद्धान्तश्च समासतः ॥ २ ॥

चतुर्थे तदुपायस्य पञ्चमे सहकारिणः ।

षष्ठे विरोधिनो रूपं चरमे फलनिर्णयः ॥ ३ ॥

एतावान्सर्वशास्त्रार्थः पूर्वाचार्य्यैर्निरूपितः ।

सनन्दनपदद्वन्द्वानुगैर्ज्ञेयो हि वैष्णवैः ॥ ४ ॥

अध्यात्माख्यसुधानद्यां वैष्णवैर्यत्नतोऽनिशम् ।

संसारतापशान्त्यर्थं प्लवनीयं मुमुक्षुभिः ॥ ५ ॥

स च पदार्थमात्रेण निर्णीयते विशेषविस्तारस्तु तत्र तत्र पूर्वेः
कृतत्वादेव, अथ ग्रन्थारम्भे सदाचारप्राप्तं ग्रन्थनिर्विघ्नसमाप्त्यर्थं
स्वेष्टदेवताश्रयणरूपमङ्गलमाचरति—

श्रीमुकुन्दं जगद्योनिं निर्दोषं सद्गुणार्णवम् ।

ब्रह्मरुद्रमहेन्द्रादिवन्द्यं नित्यं समाश्रये ॥ १ ॥

श्रीमुकुन्दं नित्यमहं समाश्रय इत्यन्वयः, समाश्रयणं च
शरीरवाङ्मनोवृत्तीनामैक्यमत्या सदैव तत्प्रवर्णीकरणं, मुक्तिं ददा-
तीति मुकुन्दः “संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतु”रिति श्रुतेः,

स्कान्दे

बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः ।

कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः ॥

हरिवंशे

ततो मुक्तिर्मया तत्र प्रार्थिता देवसंनिधौ ।

मुक्तिं प्रार्थयमानं मां पुनराह त्रिलोचनः ॥

मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः ।

तस्माद्भूत्वा तु वदरीं तत्राऽऽराध्य जनार्दनम् ॥

मुक्तिं प्राप्नुहि गोविन्दान्नरनारायणाश्रमे ।

गीतं च,

मोक्षयिष्यामि मा शुच इत्यादिस्मृतेः “तन्निष्ठस्य मोक्षव्यपदेशा”
दिति सूत्राच्च मुमुक्षुभिर्मुकुन्द एव उपासनीयो नाऽन्यः अप्रयोज-
कत्वादिति भावः, ” समाश्रयणे हेतुमाह सद्गुणार्णवमिति, सतां
कल्याणरूपाणां ज्ञानशक्तिवलेद्वर्य्यवीर्यादीनां कारुण्यवात्सल्य-
सौशील्यादीनां च गुणानां स्वाभाविकयावदात्मवृत्तीनां हर्णवम्
“यः सर्वज्ञः सर्ववित् सत्यकामः सत्यसंकल्पः” “आनन्दं ब्रह्मणो
विद्वान्” “पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रि-
या चे”ति श्रुतेः, ननु गुणवत्त्वेऽपि दोषयोगे कथं समाश्रयणीय इति
चेत्तत्राऽऽह निर्दोषमिति, निर्गताः सर्वे दोषा यस्मात्तं “य आत्मा अ-
पहतपाप्मेत्यादिश्रुतेः, ननु गुणवत्त्वनिर्दोषत्वयोः सतोरपि तदधि-

कस्य सत्त्वे समाश्रयणीयत्वायोगादिति चेत्तत्राऽऽह जगद्योनिमिति,
“ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ” इत्यादिश्रुतेः चेतनाचेतनस्य
जगतो निमित्ताभिन्नोपादानत्वात् सर्वोत्तमत्वसिद्धिरिति भावः
“ प्रधानक्षेत्रज्ञपतिरिति श्रुतेः,

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

इति स्मृतेश्च, ननु ब्रह्मादेरपि जगत्कारणत्वेन प्रसिद्धत्वात् त-
त्साम्यस्य विद्यमाने आश्रयणीयत्वस्याऽपि योगो दुर्वारः कथमेकस्यैव
समाश्रयणीयत्वमित्याशङ्क्य न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते इत्यादि
श्रुत्यर्थकथनेन समादधन्नाह ब्रह्मरुद्रमहेन्द्रादिवन्द्यमिति “ यं सर्वे
देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्चेति श्रुतेः तेषामपि जन्यत्वात् त-
च्छिष्यत्वात् तद्वाराश्रकत्वात् तद्वत्तैश्वर्य्यवत्त्वाच्च न तत्साम्यश-
ङ्कावकाश इत्यर्थः तच्चोपरिष्ठाभिपुणं वक्ष्यते ॥ १ ॥

तत्त्वज्ञानाय मन्दानां तुष्ट्यर्थं तत्त्वदर्शिनाम् ।

श्रीनृसिंहप्रसादार्थं तन्यते कारिकावली ॥ २ ॥

प्रत्यक्तत्वं समासेन तत्राऽऽदौ भण्यते मया ।

संप्रदायानुसारेण शास्त्राचार्य्योक्तयुक्तिभिः ॥ ३ ॥

स्पष्टार्थौ ॥ २ ॥ ३ ॥

तत्र तावज्जीवात्मतत्त्वं सामान्यविशेषाभ्यां निरूप्यते--

देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणादिभ्यो विलक्षणाः ।

ज्ञानस्वरूपा ज्ञातारो ह्यहमर्थाश्च ते मताः ॥ ४ ॥

तत्र केचिद्देह एवाऽऽत्मेत्याहुः तन्न मृते शरीरे चैतन्यानुपलब्धेः
भौतिकत्वाच्च, देहो नाऽऽत्मा भौतिकत्वात् घटादिवदिति प्रयोगात्,
अन्ये इन्द्रियाण्येवाऽऽत्मेत्याहुः तन्न स्वप्नादौ तल्लयदर्शनात् करणत्वा-
च्च, इन्द्रियगणो नाऽऽत्मा करणत्वात् वास्यादिवदिति, एके मनस ए-
वाऽऽत्मत्वं भावयन्ति तदसत् सुषुप्तौ तस्याऽपि लयात् अन्तःकरणत्वा-
च्च, मनो नाऽऽत्मा सुषुप्त्यादौ ह्यननुगतत्वात् देहादिवत् करणत्वाच्च
चक्षुरादिवदिति, एवमेव बुद्धेरप्यनात्मत्वमनुमेयम् अन्तःकरणत्वावि-

शेषात्, अन्ये प्राण एवाऽऽत्मेत्यवगच्छन्ति सर्वाविस्थानुगतत्वेन हेतु-
ना, तन्न, सुषुप्त्यादौ प्राणस्य सत्त्वेऽपि चौरैर्भूषणादिहरणदर्शनात्
प्राणस्याऽचैतन्यनिश्चयः वायुत्वाच्च, प्राणो न चेतनः वायुत्वात् व्य-
जनजन्यवायुवदित्यादिप्रमाणमाश्रित्याऽऽह,

देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणादिभ्यो विलक्षणाः

इति, द्वन्द्वसमासः आदिशब्दः अहश्चित्तप्रकृत्यादिजडवर्गसंग्र-
हार्थः, “तस्माद्वा एतस्मादन्नमयादन्यः तस्माद्वा एतस्मात्प्राणम-
यादन्यः तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तरात्मा विज्ञानमय” इ-
त्यादिश्रुतेः,

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाऽयं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे

इति श्रीभगवदुक्तेश्च, देहादिभिन्ना ज्ञानेच्छादिगुणाश्रया विभ-
वोऽसंख्येया अचेतना आत्मानो द्रव्यविशेषा इति तार्किकादीनामपि
राद्धान्तत्वात्तत्राऽतिव्याप्तिवारणाय विशेषमाह ज्ञानस्वरूपा इति,
ज्ञानं चेतनं स्वरूपं येषां ते तथा, “यथा सैन्धवघनोऽनन्तरो बाह्यः
कृत्स्नो रसघन एव एवं वा अरे अयमात्माऽनन्तरो बाह्यः कृत्स्नः
प्रज्ञानघन एव अत्राऽयं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवती”ति श्रुतिभ्यः, नन्वेवं
मायावासिद्धान्ते ऽतिप्रसङ्गस्तैरपि देहेन्द्रियादिजडवर्गात्यन्तभि-
न्नज्ञानस्वरूपत्वमात्मनः स्वीकारादित्याशङ्क्य विशेषान्तरमाह ज्ञा-
तारइति, जानन्तीति ज्ञातारः नित्यधर्मभूतज्ञानाश्रया इत्यर्थः, “योऽयं
वेद जिघ्राणीति स आत्मा कृतम” इत्युपक्रम्य “पुरुषो द्रष्टा श्रोता
रसयिता घ्राता मन्ता वोद्वा विज्ञानात्मा पुरुषः विज्ञातारमरे केन
विजानीयात् जानात्येवाऽयं पुरुषः न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते
अविनाशित्वात् न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशि-
त्वात् न हि मन्तुर्मतेर्न हि विज्ञातुर्विज्ञातेः अविनाशी वा अरे अय-
मात्माऽनुच्छित्तिधर्मा” इत्यादिश्रुतिभ्यः, “ज्ञोऽत एवे”ति सूत्रात्,

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।

इति श्रीमुखोक्तेश्च, कर्तृत्वादीनामप्युपलक्षणं “कर्ता शास्त्रार्थव-
त्त्वा”दितिसूत्रात्, ननु ज्ञानस्य ज्ञानाधारत्वमनुपपन्नमिति चेन्न माणि-
द्युमण्यादौ प्रत्यक्षेण धर्मिधर्मयोर्भेदग्रहणात्, विशेषविचारश्च सिद्धा-
न्तरत्नमञ्जूपादौ द्रष्टव्यः, अथ तेषां स्वरूपमाह अहमर्थाश्च, अहमि-

त्यस्य प्रत्ययस्य विषय एवाऽर्थः स्वरूपं येषां ते, तत्र प्रमाणमाह ते मता इति, प्रत्यक्षादिप्रमाणनिर्णीता इत्यर्थः ॥ ४ ॥

तान्येव प्रमाणानि दर्शयति—

सर्वावस्थानुगत्या वै प्रत्यक्षागममानतः ।

मुक्तानामनुभूत्या चाऽनुमानेनाऽपि निश्चयात् ।

प्रतिविम्बादिवादश्च पापीयानप्रमाणतः ॥ ५ ॥

अयं भावः, प्रमाणं तावत्त्रिविधं प्रत्यक्षानुमानशब्दभेदात्, तत्र विषयेन्द्रियसंनिकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं हरिगाथां शृणोमि श्रीजगन्नाथं पश्यामि भगवन्निर्मालयगन्धं जिघ्रामीत्यादि, तत्रेन्द्रियसंनिकर्षमेव प्रत्यक्षप्रमाणं, व्याप्तिजन्यं ज्ञानमनुमितिः, तत्करणमनुमानं, व्यवभिचारशून्यत्वे सति साहचर्यनियमो व्याप्तिः, सा द्विधा अन्वयव्यतिरेकभेदात्, तत्र हेतुसाहचर्यनियमेऽन्वयव्याप्तिः यत्र धूमस्तत्राऽग्निरिति, साध्याभावसाधनाभावसाहचर्यनियमो व्यतिरेकव्याप्तिः यत्र बहव्यभावस्तत्र धूमाभाव इत्यादि, आप्तवाक्यं शब्दः, आप्तो नाम यथार्थवक्ता निर्दोषबुद्धिः, तत्राऽऽप्ततमो वेदः, तदर्थस्मर्तारो मन्वादय आप्ततराः, उभयार्थकारा आप्ता, एतेषां वाक्यं प्रमाणं, तत्र प्रत्यक्षानुमानयोः क्वचिद्व्यभिचारदर्शनात् शास्त्रसापेक्षप्रमाणत्वं, शास्त्रस्य तु अव्यभिचारिताविषयकत्वात् निरपेक्षप्रमाणत्वमिति विवेकः, अन्येषामुपमानादीनामत्रैवाऽन्तर्भावात् त्रीण्येव प्रमाणानि, तथा चाऽऽह भगवान्मनुः—

प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च निगमाभिधम् ।

त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सतेति ॥

प्रत्यक्षागममानतः, सर्वावस्थानुगत्या निश्चयात् अनुमानेनाऽपि मुक्तानामनुभूत्या च निश्चयादित्यन्वयः, तत्रा, ऽहं जानामि शृणोमि जिघ्रामीत्यादिप्रत्यक्षप्रतीतिभ्यः, किञ्च, नित्यमुक्तस्यैकाऽद्वितीयादिशब्दप्रतिपाद्यस्याऽपि अहमर्थत्वमुद्घुष्यते श्रुतिभिः “ब्रह्मैवेदमग्र आसीत् स चाऽऽत्मानं वेदाऽहं ब्रह्माऽस्मीति बहु स्यां प्रजायेय नामरूपे व्याकरवाणी”त्यादिभिः, तथा च “निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती”त्यादिना तत्साम्यापन्नानां मुक्तानामपि शास्त्रभिन्नाहमर्थस्वरूपत्वं मुक्तावपि अहमर्थस्याऽनुगतत्वं सिद्धं “तद्वै पश्यन्नुषिर्वामदेवः अहं

मनुरभवं सूर्य्यश्चेति मुक्तानामपि तथैवाऽनुभवश्रवणाच्च वेदमातर्य्य-
पि अस्मत्प्रयोगश्रवणाच्च,

वेदाऽहं समतीतानि वर्त्तमानानि चाऽर्जुन ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ॥

माप्नुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः

इत्यादिना श्रीभगवद्गीताशास्त्रेऽपि अहमर्थस्यैव सर्वज्ञत्वजगद्धेतु-
त्वसर्वशास्त्रविषयत्वमुक्तप्राप्यत्वसर्वपापानिवृत्तिरूपमोक्षदातृत्वादि-
प्रतिपादनादहमर्थस्वरूप एव श्रीभगवान् वासुदेवस्तथैव क्षेत्रज्ञाश्चे-
त्यवगम्यते, तथा च प्रत्यक्षागममानतः, प्रत्यक्षागमाभ्यामनुमानेन मु-
क्तानामनुभूत्या चाऽहमर्थस्य सर्वास्वप्यवस्थासु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमू-
र्छाजन्ममरणादिषु नरकस्वर्गापवर्गेषु चाऽनुगतिरनुवृत्तिस्तयाऽऽत्म-
स्वरूपत्वनिश्चयादिति वाक्यार्थः, ननु चेतनप्रतिविम्ब एव जीवः
यथा एक एव सूर्य्यः अनेकेषु जलपूरितघटेषु प्रतिविम्बात्मना भाति
घटाभावे तदभावः एवमेकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्माऽविद्यान्तःकरणरूपेष्-
पाधिषु प्रतिविम्बायितं सज्जीवात्मना भिन्नतया प्रतीयते उपाध्यप-
गमे चैकमेवाऽवाशिष्यते, उपाधेश्च कल्पितत्वात्तत्कृतभेदोऽपि
कल्पितः उपमासूर्य्यकादिवदितिन्यायात्,

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदिति

श्रुतेश्चेति चेत्तत्राऽहं प्रतिविम्बादिवादश्च पापीयानिति, अयं भावः,
विम्बरूपं शुद्धबुद्धनिर्विशेषनित्यमुक्तं चिन्मात्रं सावयवं रूपवन्नवेति,
नाऽऽद्यः अवैदिकत्वापत्तेः निर्विशेषाद्वितीयासिद्धान्तभङ्गाच्च, द्वितीये
उपाधेरप्यविद्यादेर्निरवयवत्वनीरूपत्वसाम्यात् निरवयवस्य निरवयवे
प्रतिविम्बत्वानुपपत्तेः, अन्यथा रसादीनां रूपादौ रूपादीनां कालादौ
प्रतिविम्बदर्शनापत्तेः, तस्य चाऽदृष्टश्रुतत्वात्, किञ्च चित्प्रतिविम्बग्रा-
हकोपाधिः सत्यो मिथ्या वा, नाऽऽद्यः द्वैतापत्तेः अद्वैतासिद्धान्तभङ्गात्
अनिर्माक्षप्रसङ्गात् अपासिद्धान्तप्रसङ्गाच्च, नाऽपि द्वितीयः मिथ्याभूतो-
पाधौ सत्यज्ञानरूपस्य प्रतिविम्बानुपपत्तेः, अन्यथा मृगमरीचिका-
जलेऽपि सूर्य्यप्रतिविम्बापत्तरिति तात्पर्य्यं हृदि निधायाऽहं पापीया-

निति मुमुक्षुभिर्हयमित्यर्थः, तत्र हेतुमाह अप्रमाणतः, प्रमाणशून्यत्वात्, ननूक्तश्रुतिसूत्रयोस्तत्र मानत्वात्कथमप्रामाण्यमिति चेन्न तयोरन्यार्थ परत्वात्, तथाहि, यथा सूर्यः स्वप्रभाव्याप्त्या जलेषु व्याप्य तद्गतशैत्यद्रवत्वादिधर्मैर्न लिप्यते, प्रत्युत स्वोष्मणा तान्युष्णीकृत्य प्रकाशयति, यथा वा चन्द्रः स्वकरनिकरेण तेषु व्याप्य तच्छैत्यं वर्द्धयन् प्रकाशयति, न तद्गतद्रवेण क्लेदनादिभावं प्राप्नोति, तथैक एव परमपुरुषो विश्वस्मिञ्चेतनाचेतनात्मके जगति स्वस्वरूपेणैव व्याप्य सर्वं प्रकाशयति, तदन्तरात्मतया न च तद्गुणदर्शैर्लिप्यते सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्वाह्यदोषैः ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः

इत्यादिभिः श्रुतिभिरैकार्थ्यात्, तत्रैकधा समष्ट्यन्तर्यामी बहुधा व्यष्ट्यन्तर्यामीति श्रुतिसूत्रयोर्निर्गलितार्थः, नाऽत्र प्रतिविम्बवादगन्धोऽपीति भावः, आदिशब्दो ऽवच्छेदवादस्याऽप्यप्रामाण्यद्योतकः, तथा हि, बेनोपाधिना शुद्धनिर्विशेषनित्यमुक्तचिन्मात्रं ब्रह्माऽवच्छिद्य जीवभावं प्रापितः स उपाधिः परिच्छिन्नो विभुर्वा, नाऽऽद्यः उपाधेर्गमनादौ घटगमने तदवच्छिन्नाकाशवच्चितो गमनानुपपत्त्या पदे पदे बन्धमोक्षौ स्यातां पूर्वदेशावच्छिन्नस्याऽनादिवद्भस्य चेतनस्याऽकस्मान्मोक्षसाधनज्ञानादि विनैव मोक्षः, उत्तरदेशवर्त्तिनित्यमुक्तचेतनस्य निर्हेतुकोऽकस्मादेव बन्धः स्यात्, कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च, नाऽपि द्वितीयः उपाधेर्विभुत्वेन चेतनस्याऽपि विभुत्वात् कृत्स्नस्याऽप्यवच्छिन्नत्वप्रसङ्गात् जगदान्ध्यापत्तेः मुक्तप्राप्त्योच्छेदापत्तेः उक्रान्तिगत्याद्यनुपपत्तेश्चेत्यलं विस्तरेण ॥ ५ ॥

एतावता ब्रह्मसाधारण्यमुक्तमिदानीं तत्राऽतिप्रसङ्गं वारयन्नचेतनसाधारण्यं दर्शयति—

ब्रह्मात्मकाश्च तद्व्याप्यास्तदाधेयाश्च सर्वदा ।

तदधीनाः स्वभावेन स्थित्यादौ शास्त्रमानतः ॥ ६ ॥

ब्रह्मात्मका इति । निरतिशयवृहत्स्वरूपगुणशक्त्यादिवस्तु ब्रह्मशब्दाभिधेयो भगवाञ्छ्रीपुरुषोत्तम आत्मा अन्तरात्मा येषां ते तथा, “एष सर्वभूतान्तरात्मा दिव्यो देव एको नारायणः,” इति श्रुतेः—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।

इति श्रीमुखोक्तेः, आत्मेति तूपगच्छन्ति प्राहयान्ति चेति न्याया-
च्च, किञ्च तद्याप्या इति, तस्य ब्रह्मणो व्याप्याः,

यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ॥

अन्तर्वहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ।

“क्षीरे सर्पिरिवाऽऽहितः, मिति श्रुतेः

मया ततमिदं सर्वं जगद्व्यक्तमूर्तिनेति

श्रीमुखोक्तेश्च, किञ्च तदाधेया इति, तस्य ब्रह्मणो भगवतः श्री-
कृष्णस्याऽऽधेयाः परमात्माऽऽधारका इत्यर्थः, “यस्मिन् द्यावापृ-
थिवी चाऽन्तरीक्षं प्रोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैर्यस्मिन्निद्रो बरुणो
मित्रो ऽयमा देवा ओकांसि चक्रिरे” इत्यादिश्रुतेः—

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इवेति

स्मृतेश्च, किञ्च सर्वदा स्थित्यादौ स्वभावेन तदधीनाः इति,
सर्वदा पूर्वोक्तासु सर्वावस्थासु जाग्रदादिवन्ध्रमोक्षादिषु तस्य हरेर-
धीना इति, “एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उ-
न्निनीपते एष एवाऽसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो ऽधो-
निनीपते,,

स कारयेत्पुण्यमथाऽपि पापं न तावता दोषवानोपिताऽपि ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

“अज्ञो जन्तुरनीशश्च आत्मनः सुखदुःखयोः ।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा”

इत्यादिश्रुतिभ्यः,

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ॥

सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाऽभयमेव च ।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ॥

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः

इति श्रीमुखोक्तेश्च, तत्रोपाधिशङ्कां वारयति स्वमावत इति स्वतः
स्वरूपेणैवेत्यर्थः, तत्र प्रमाणमाह शास्त्रमानत इति, तच्च पूर्वमेवो-
दाहृतं, मोक्षधर्मं प्रहादः ।

यदि स्यात्पुरुषः कर्ता शक्ताऽऽत्मश्रेयसे ध्रुवम् ।

आरम्भास्तस्य सिद्धेर्युर्न तु जातु पराभवेत् ॥

अप्रियस्य च निर्वृत्तिरनिर्वृत्तिः प्रियस्य च ।

लक्ष्यते यतमानानां पुरुषार्थस्ततः कुतः ॥
 अनिष्टस्याऽपि निर्वृत्तिरिष्टसंवृतिरेव च ।
 अग्रयत्नेन पश्यामः केषाञ्चित्तत्त्वभावतः ॥
 प्रतिरूपतराः केचिद् दृष्टान्ते बुद्धिमत्तराः ।
 विरूपेभ्योऽल्पबुद्धिभ्यो लिप्समाना धनागमम् ॥
 अश्वमेधपर्वणि श्रीव्यासः ।

युधिष्ठिर तव प्रज्ञा न सम्यगिति मे मनः ॥
 न हि कश्चिदयं मर्त्यः स्ववशः कुरुते क्रियाः ।
 ईश्वरेण प्रयुक्तोऽयं साध्वसाधु च मानवः ॥
 करोति पुरुषः कर्म तत्र का परिदेवने—
 त्यादिस्मृतयोऽप्यत्राऽनुसन्धेयाः ॥ ६ ॥

अथोभयवैलक्षण्यं दर्शयंस्तयोश्चाऽतिप्रसङ्गं वारयंस्तत्रसंख्याप-
 रिमाणविषयकविवादं निराकरोति अर्द्धेन—

भिन्नाश्च प्रतिदेहं वै ह्यणवः परिमाणतः ॥ ६ ॥

अत्र केचित्कल्पितोपाधितो जीवानां बहुत्वमाहुः अन्ये सत्योपा-
 धिकृतं तेषामसंख्येयत्वमभ्युपगच्छन्ति तन्निरासाय विशिनाष्टि भिन्ना-
 श्च प्रतिदेहं वा इति, प्रतिदेहं स्वभावेन भिन्ना विलक्षणा इतियावत्,
 वा इतिनिश्चये शास्त्रप्रमाणसिद्धमित्यर्थः, “नित्यो नित्यानां चेतनश्चे-
 तनानामेको बहूनां यो विदधाति कामा”नितिश्रुते: “अंशो नानाव्य-
 पदेशा”दिति न्यायात् ।

न त्वेवाऽहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः पर—

मित्यादिस्मृतेश्च, अथ परिमाणेऽपि विप्रतिपत्तयः तत्र बाह्या म-
 ध्यमपरिमाणं वदन्ति तार्किकमीमांसकादयो विभुत्वमङ्गोचक्रुः तन्नि-
 राकरोति ह्यणवः परिमाणत इति परिमाणतो ह्यणव इत्यर्थः हि शब्दो
 ऽवधारणे स च मध्यमवैभवपरिमाणव्यावृत्त्यर्थः तत्र न तावन्मध्य-
 मपरिमाणत्वं संभवति अनित्यत्वापत्तेः बाह्याभ्युपगत आत्मा अनि-
 त्यः मध्यमपरिमाणकत्वात् यदेवं तदेवं घटादिवत् मध्यमपरिमाणको
 नाऽऽत्मा सावयवत्वात् घटादिवदित्यादिप्रयोगात् नाऽपि विभुत्वम् अ-
 संभवात् तत्रैकत्वं बहुत्वं वा आत्मन इतिविवेचनीयम् आद्ये एकस्यैव

ह्यनेकोपाधियोगेन सर्वेषामपि सर्वान्तःसुखदुःखाद्यनुभवापत्तेः अहं
त्वमयमित्यादिप्रतीत्युच्छेदापत्तेः अन्यथा एकस्मिन्नपि शरीरेऽनेकोपा-
धिकरचरणाद्भिभेदेन स एवाऽहमितिप्रतीत्यभावापत्तेः नाऽपि द्वितीयः
तत्राऽपि उपाधेरणुत्वं विभुत्वं वेति विवेचनीयम् आद्ये उपाधेरल्पपरि-
माणिकदेशस्थितौ सत्यां सर्वदेहरतिसुखदुःखाद्यनुभवापत्तेः द्वितीये
सर्वोपाधीनां सर्वक्षेत्रज्ञैः संवन्धाविशेषात् सर्वेषां सुखादिः सर्वैरप्य-
नुभूयेत नियामकाभावात् एतद्द्रूपणं पूर्वकल्पेऽपि समानम् उभयथा
ऽप्यसंभवसाम्यात् तस्मादणुपरिमाणकत्वमेवेति राद्धान्तः “अणुर्ह्येव
आत्मा चेतसा वेदितव्यः यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश अणुर्ह्येव
आत्मा यं वा एते सिनीता,, इत्यादिश्रुतिभ्यः उक्कान्तिगत्या गतीनां
नाऽणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारादितिसूत्राच्च ननु अणुपरिमाणा-
भ्युपगमेऽपि अणोश्चेतनस्य देहाल्पैकदेशवृत्तित्वेन सर्वावयवगतसु-
खादेर्युगपदनुभवानुपपत्त्या तवाऽपि पूर्वोक्तदोषस्याऽविशेषात्कथं चा-
ऽणुत्वमिति चेन्न धर्मिणो ऽणुत्वेऽपि तदाश्रितधर्मभूतज्ञानस्य
विभुत्वात् सामञ्जस्यं बहुगुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः विभुत्वकथनम् ।
इत्यादिन्यायात् अणुनश्चक्षुषः प्रकाशो व्याप्त एवमेवाऽस्य पुरु-
षस्य प्रकाशो व्याप्तो,, व्याप्तो वै पुरुष,, इत्यादिश्रुतेः ।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ॥

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारते—

ति श्रीमुखोक्तेश्च न च प्रकाशस्याऽऽश्रयं विनाऽन्यत्र व्याप्त्यसंभव
इतिवाच्यं दीपं विना तत्प्रभायाः वन्निह विना तदौष्ण्यादेः पुष्पं विना त-
द्वन्धस्य धर्मिणं विना जातिसमवायादेर्व्याप्तेः सुप्रसिद्धत्वात् एतेनैव
क्वचिच्छ्रुतौ वैभवपाठस्याऽपि गतिरुक्ता विभुधर्माश्रयस्य तथात्वं
शक्त्यैवाऽवगम्यते इति भावः विशेषश्च जिज्ञासुभिः वेदान्तरत्नमञ्जू-
षायां द्रष्टव्यः एतावता ग्रन्थेन वक्ष्यमाणविशेषकाणां त्रिविधानामपि
क्षेत्रज्ञानां साधारण्यं निरूपितम् । इदानीं तेषां विशेषं व्यञ्जयन्नाह ।

नित्यमुक्तादिभेदेन ज्ञातव्यास्त्रिविधाः खलु ।

सदा पश्यन्ति चेत्यादिर्नित्यमुक्तान्समादिशत् ॥ ७ ॥

जहात्येनामिति श्रुतिर्वदमुक्तान्प्रचक्षते ।

अजो ह्येकस्तथा भूयो वद्वानाह सनातनी ॥ ८ ॥

खल्विति निश्चये जीवात्मानस्त्रिविधा ज्ञातव्या इति सम्बन्धः, त्रैविध्यमेवाह नित्यमुक्तादिभेदेनेति, नित्यमुक्ता वद्धमुक्ता वद्धाश्चेत्युद्देशः तानेवोद्दिष्टलक्षणप्रमाणाभ्यां श्रुतिमुखेन विवेचयन्नादौ नित्यमुक्तलक्षणमाह, सदा पश्यन्ति चेत्यादि, त्रैकालिकसंसारदुःखसामान्यात्यन्ताभाववत्त्वे सति सदैव स्वभावतो भगवदनुभाषिततत्स्वरूपगुणादिविषयकानुभवानन्दवत्त्वं नित्यमुक्तलक्षणं “तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय” इति श्रुतेः, तत्र वद्धमुक्तेष्वतिप्रसङ्गवारणाय त्रैकालिक इति, समाधिनिष्ठेष्वतिप्रसङ्गवारणाय सदा स्वभावत इति, श्रीपुरुषोत्तमोऽतिप्रसङ्गवारणाय भगवदनुभाषितेत्यादिपदसंनिवेशः, तथैव श्रुतावपि पदसंग्रहप्रयोजनमनुसन्धेयं तेऽप्यसंख्येयाः श्रुतौ बहुवचनपाठात् लक्षणश्रुतिरेवात्राऽपि प्रमाणं तत्र विष्वक्सेनजयविजयादयः पार्षदाः गरुडशेषादीनि यानासन्धानि शङ्खचक्रधनुर्वाणहलमुसलादय आयुधाः मुरल्यादयो वाद्याः करीटकुण्डलकौस्तुभवैजयन्तीवनमालाकैयूरकटकङ्कुलीयकाश्चीनूपुरपीताम्बरादय आनन्तर्याम्या भूषणाम्बरादयः विमलादयश्च शक्तिविशेषा इति विवेकः ॥ ७ ॥

अथ वद्धमुक्तानाह जहात्येनामिति रित्यादि, “जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य” इति श्रुतिः, अनादिकर्मात्मिकाविद्याकृतप्रकृतिसम्बन्धतत्कार्यदुःखादितत्साधनदेहादिरूपबन्धविनिर्मुक्ता इति तेऽपि द्विविधाः विश्वात्मभगवद्भावापन्ना एके—

वहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ॥

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति चेति—

वचनात्, प्रत्यक्स्वरूपमापन्नाश्चाऽन्ये, अथ वद्धानाह—

अजो ह्येकस्तथा भूयो वद्धानाह सनातनीति ।

“अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते” इति सनातनी श्रुतिः वद्धानाहेतियोजना, अनादिकर्मजन्यदेवतिर्यङ्मनुष्यादिदेहतत्सम्बन्धवत्सु आत्मात्मीयाभिमानवन्तो वद्धाः, तेऽपि द्विविधाः मुमुक्षवो बुभुक्षवश्चेति, “तत्र मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये” इति श्रुतेः, आध्यात्मिकादिविविधसांसारिकदुःखानुभवजातक्लेशवशान्निर्विणास्ततो मोक्षमिच्छवो मुमुक्षवः, तेऽपि द्विविधाः तत्रैके भगवद्भावापत्तिकामाः ।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।

इति भगवदुक्तेः, स्वस्वरूपापत्तिकामाश्चाऽन्ये इति “स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते इति श्रुतेः, वैषयिकभोगेच्छयो बुभुक्षवः, तेऽपि द्विविधाः भाविश्रेयस्का नित्यसंसारिणश्चेति ॥ ८ ॥

अथ वद्धानां विशेषमाह सार्द्धद्वाभ्याम् ।

बन्धमोक्षार्हता तेषां शास्त्रमानेन गम्यते ।

इति, तेषां बन्धमोक्षार्हता बन्धमोक्षयोर्योग्यता वक्ष्यमाणगत्या शास्त्रमानेन ज्ञायते पराभिध्यानात् तिरोहितं ततोऽस्य बन्धविपर्ययावितिन्यायात्, तत्र बन्धप्रकारमाह—

अनादिकर्मरूपेण मायायोगेन यन्त्रिता इति ॥ ९ ॥

अनादितो भगवत्पराङ्मुखत्वेनाऽनादितत्सङ्कल्पाच्चाऽनादिकर्मरूपा या माया कार्यकारणयोरभेदात् तस्या योगः सम्बन्धस्तेन यन्त्रिताः संनद्धाः सन्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिदेहजन्यदुःखादिकर्मफलमनुभवन्तः संसारचक्रे भ्रमन्तीत्यर्थः “अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानमिति श्रीभगवदुक्तेः ।

अविद्याकर्मसंज्ञाऽन्या तृतीयाशक्तिरिष्यते ।

यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्टिता नृप सर्वगा ॥

संसारतापानखिलानवाप्नोत्यतिसन्ततान् ।

तया तिरोहितत्वाच्चेत्यादिश्रीपराशरोक्तेः ॥

अथ मोक्षप्रकारमाह—

अहैतुकया हरेर्विष्णोः कृपया चाऽथ संश्रयात् ।

मुच्यते नाऽत्र सन्देहस्तदुक्तेनैव वर्त्मना ॥ १० ॥

अर्चिरादिकया गत्या गच्छन्ति परमं पदम् ।

एवं प्रत्यक्स्वरूपं वै सङ्क्षेपेण निरूपितमिति ॥ ११ ॥

अहैतुको निर्हेतुका या श्रीविष्णोः कृपा तथा “यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीश” मित्यादिश्रुतेः ।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।

इति श्रीमुखोक्तेश्च, कथमित्याशङ्क्याऽऽह आचार्यसंश्रयादिति

सत्सम्प्रदायनिष्ठस्य शास्त्रोक्तलक्षणसम्पन्नस्य श्रीगुरोः संश्रयणात्
सम्यक्निर्मायिकश्रद्धाविश्वासाज्जिवप्रणिपातपरिप्रश्नसेवादिपुरःस-
रं श्रीगुरुं समाश्रित्येत्यर्थः ल्यवर्थेयं पञ्चमी तथाच “तद्विज्ञानार्थं स
गुरुमेवाऽभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।

यस्य देवं परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः—

इत्यादिश्रुतेः, अनयैव श्रुत्या गुरुशिष्ययोः लक्षणमपि निरूपितम्
तथा हि श्रीभगवद्विज्ञानार्थी परमेश्वरवच्छ्रीगुरौ परभक्तिमान्
मुमुक्षुः शिष्योऽत्र विवाक्षितः शासनार्हत्वाच्छिष्य इति यावत्,
श्रोत्रियः शास्त्रोक्तभगवत्स्वरूपगुणादिविषयकशास्त्रज्ञानसम्पन्नो
ऽन्यथा शिष्यसंशयनिरसनाऽयोगात् किञ्च न केवलं शास्त्रमात्राव-
गाही अपि तु ब्रह्मनिष्ठः शास्त्रप्रतिपाद्यपरब्रह्मश्रीपुरुषोत्तमविषयक-
साक्षादनुभूतिमानितिलक्षणसम्पन्नो गुरुस्तमभिगच्छेत् संश्रयेदि-
तिश्रुतेर्निर्गलितार्थः ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

आचार्य्योपासनं शौच—

मित्यादिभगवद्वचनाच्च आचार्य्याश्रयणादुत्तरकृत्यमाह तदुक्तेनै-
व वर्त्मना इति, तदुक्तेनैव तदुपदिष्टेनैव नाऽन्यथेति अवधारणार्थः
तदुपदिष्टसाधनमनुष्ठाय निर्मुक्तस्वपरस्वरूपादिविषयकसंशयास्ता-
न्निदिध्यासनाभ्यासेन साक्षादनुभूय मुच्यन्ते, संशयो नात्र कार्य इ-
त्याह, नाऽत्रसन्देह इति, तथा श्रुतयः “प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्यां
ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः,

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः,

क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे,

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा
विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती”त्यादयः ॥ १० ॥

तत्प्राप्तिप्रकारमाह अर्चिरादिकया गत्येति, “तेर्चिपमभिसम्भव-
न्ती” त्यादि ।

अग्निज्योतिरहः शुक्लः पण्मासा उत्तरायणम् ।

इति श्रुतिस्मृतिनिर्दिष्टमार्गेणेत्यर्थः परमं पदं गच्छन्तीति योज-
ना, परं पदमित्यत्र पदशब्दः स्थानवाचकः, “क्षयन्तमस्य रजसः प-

राक” इति “आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्” यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् तदक्षरे परमे व्योमन् योऽस्याऽध्यक्षः परमे व्योमन् तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय” इत्यादिश्रुतिभ्यः, अत्र रजस्तमसी शब्दौ स्वाश्रयभूतप्रकृतिपरौ केवलयोः स्वाश्रयं विनाऽवस्थानायोगात् तथा च रजसः पराके प्रकृतिमण्डलपरतदुत्तरदेशे क्षयन्तं वसन्तं तमोवाच्यप्रकृतेः परं विलक्षणं आदित्यवत्प्रकाशरूपं वर्णं यस्य तदित्यर्थः, महाभारते—

दिव्यस्थानमजरं चाऽप्रमेयं दुर्विज्ञेयं चागमैर्गम्यमाद्यम् ।

गच्छ प्रभो रक्ष चाऽस्मान् प्रपन्नान् कल्पे कल्पे जायमानः स्वमूर्त्येति देवानां वाक्यं, तत्रैव भीष्मः ।

प्रविश्य वज्रं वृत्रं च दारयामास भारत ।

दारितश्च स वज्रेण महायोगी महासुरः ॥

जगाम परमं स्थानं विष्णोरमिततेजसः ।

विष्णुभक्त्या हि तेनेदं जगद्वाप्तमभूत्तदा ॥

तस्माच्च निहतो युद्धे विष्णोः स्थानमवाप्तवान् ।

इति, तत्रैव ।

ज्ञानविज्ञानिनः केचित्परं पारं तितीर्षवः ।

अतीव तत्पदं पुण्यं पुण्याभिजनसंवृतम् ॥

यत्र गत्वा न शोचन्ति न च्यवन्ति व्यथन्ति च ।

ते तु तद्ब्रह्मणः स्थानं प्राप्नुवन्तीह सात्त्विकाः ॥

वनपर्वणि च

यमाहुः सर्वभूतानां प्रकृतेः प्रकृतिं पराम् ।

अनादिनिधनं देवं प्रभुं नारायणं हरिम् ॥

ब्रह्मणः सदनात्तस्य परं स्थानं प्रकाशते ।

देवाश्च यन्न पश्यन्ति दिव्यं तेजोमयं पदम् ॥

अत्यर्कानलसंदीप्तं स्थानं विष्णोर्महात्मनः ।

स्वयैव प्रभया राजन् दुष्प्रेक्ष्यं देवदानवैः ॥

यतयस्तत्र गच्छन्ति देवं नारायणं हरिम् ।

तत्र गत्वा पुनर्नेमं लोकमायान्ति भारत ॥

स्थानमेतन्महाराज ध्रुवमक्षयमव्ययम् ।

ईश्वरस्य सदा ह्येतत्प्रमाणं च युधिष्ठिरेति ॥

वैष्णवेच—

एकान्तिनः सदा ब्रह्म ध्यायिनो योगिनो हि ये ।

तेषां तत्परमं स्थानं यद्वै पश्यन्ति सूरयः ॥

इति, योगे याज्ञवल्क्ये च—

ॐकाररथमारुह्य मनः कृत्वा तु सारथिम् ।

ब्रह्मलोकपदान्वेयी याति विष्णोः परं पदम् ॥

इत्यादिस्मृतिभ्यश्च, सङ्क्षेपेणेति, अन्यत्र विस्तृतत्वादिति

भावः ॥ ११ ॥

इति श्रीहयग्रीवानुग्रहाश्रितेन पुरुषोत्तमप्रसादाख्येन वैष्णवे-

न विरचितायामध्यात्मसुध्रातरङ्गिण्यां प्रत्यगात्म-

निर्णयो नाम प्रथमस्तरङ्गः ॥ १ ॥



एतावता प्रत्यक्चेतनतत्त्वं लक्षणप्रमाणाभ्यां निरूपितम् इदानी-
मचित्पदार्थतत्त्वं निर्देशलक्षणप्रमाणैः निर्णायते ।

अचेतनपदार्थं यच्चैतन्यगुणवर्जितम् ।

प्राकृतं कालरूपं चाऽप्राकृतं चेति तत्त्रिधा ॥ १ ॥

यत्पदार्थं परार्थं स्वार्थहीनं चैतन्यगुणेन ज्ञानेन हीनं च भवति
तदचेतनं बोध्यमिति शेषः तत्राऽचेतनमिति निर्देशः परार्थत्वे सति
ज्ञानानधिकरणत्वमिति तल्लक्षणम्, एवं सामान्येनाह्ना तस्य
विशेषमाह तद्विधेति तदचेतनं त्रिविधमित्यर्थः त्रैविध्यमेव निर्दिशति
प्राकृतं कालरूपं चाऽप्राकृतं चेति १ अथ तस्य त्रैविध्यं लक्षणमुखेन
विवेचयन्नादौ काललक्षणमाह ।

प्रकृतेस्तन्निवद्धानां कालः कलयितोच्यते ।

ब्रह्मात्मको ह्यनादिश्चाऽप्यनन्तो नित्य एव च ॥ २ ॥

परमाणोः परार्द्धातं तत्कार्यं मुनयो जगुः ।

चिरक्षिप्रादिवुद्धीनां कारणं च तथोच्यते ॥ ३ ॥

प्रकृतेस्तन्निवद्धानां प्रकृतिसंवद्धानां जीवानां च कलयितृत्वे स-
त्यचेतनत्वं कालस्य लक्षणम्, अचेतनेत्युक्ते ऽप्राकृते ऽतिव्याप्तिस्तद्वार-
णाय प्रकृतिशब्दसन्निवेशः तथाभूतकलयितृत्वमात्रे परब्रह्मण्यतिप्र-
सङ्गापत्तिस्तद्वारणायाचेतनत्वंमिति, इतिपदसन्निवेशप्रयोजनं बोध्यं,
“कालः कलयतामहम्” इति भगवदुक्तेः विभूतितद्वतोरभेदविवक्षया
नाऽत्र विरोधः, तत्र स्वातन्त्र्यं वारयन्नाह ब्रह्मात्मक इति “ज्ञः काल-
काल इति श्रुतेः, अवस्तुत्वशङ्कां वारयति नित्य इति, हीति निश्चये
परसंमतनित्यत्वे व्यभिचारवारणायाऽऽह अनादिश्चाऽप्यनन्त इति
आद्यन्तशून्य इत्यर्थः “अथ ह वा नित्यानि पुरुषः प्रकृतिः कालः”
इति श्रुतेः ।

अनादिर्भगवान्कालो नाऽन्तोऽस्य द्विज विद्यते ।

इति पराशरोक्तेश्च, एवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थः नित्याभाववि-
पयकशङ्काभावमाह नित्यो नेतीति न अपि तु नित्य एव ॥ २ ॥

तत्कार्यं दर्शयति परमाणोरिति, परमाणोरारभ्य घटिकाप्रहर-
दिवसपक्षमासवत्सरादिपरार्द्धपर्यन्तं तत्कार्यं कालस्योपादेयरूप-

कार्यं मुनयः पराशरव्यासादयो जगुरित्यनेन नाऽत्र विस्तारापेक्षेति
द्योतितं पुराणेषु द्रष्टव्यं, कार्यान्तरमाह चिरक्षिप्रादिवुद्धीनामिति
तत्प्रतीतिव्यवहाराणामित्यर्थः आदिशब्द इदानीं युगपद्भूतभवि-
ष्यद्वर्तमानादिसंग्रहार्थः स चाऽखण्डत्वात् स्वरूपेण नित्यः कार्यरूपे-
णाऽनित्यः तत्कार्यं चौपाधिकम् । उपाधिश्च सूर्यपरिभ्रमणरूपा
क्रियैवेति तस्य चाऽल्पाधिकपरिमाणदेशसंयोगात्परमाण्वादिकाल-
व्यवहारो वेदान्तरत्नमञ्जूषादौ पूर्वाचार्यैर्विस्तृत इति, किञ्च सर्वं
प्राकृतं वस्तु आब्रह्मभुवनं कालभक्ष्यं न तत्र विवेकिभिर्मुमुक्षुभिर-
भिनिवेशः कर्तव्य इत्यत्र कालनिरूपणस्य प्रयोजनं, ब्रह्मरुद्रेन्द्रादी-
नामप्यैश्वर्यं नश्वरङ्कालतन्त्रत्वात् कर्मजन्यत्वाच्च इहलोकवृत्तिरा-
ज्यादिवत्, “यथेह कर्माचितो लोकः क्षीयत एवमेवाऽमुत्र पुण्यचितो
लोकः क्षीयत” इत्यनुमानागमाभ्यामित्याभिप्रायेणाऽऽह तथोच्यत
इति विवेकिभिर्न तु पण्डितमानिभिर्मूर्खैरिति शेषः ॥ ३ ॥

अथ प्राकृतं निरूपयति लक्षणमुखेन—

सत्त्वादेराश्रयं द्रव्यं प्राकृतं तद्गुणास्त्रयः ।

सत्त्वं रजस्तम इति जीवबन्धनहेतवः ॥ ४ ॥

महदाद्यण्डपर्यन्तं कार्यं कारणमेव च ।

स्वतन्त्रसत्तया हीनं कालतन्त्रं च नित्यदा ॥ ५ ॥

परिणामादिभिर्युक्तं नित्यं चाऽनित्यमेव च ।

कारणं नित्यमेवाऽत्राऽनित्यं कार्यं प्रचक्षते ॥ ६ ॥

सत्त्वादिगुणाश्रयत्वं प्राकृतस्य लक्षणं बोध्यम् “अजामेकां लो-
हितशुक्लकृष्णां सिताऽसिता च रक्ता च” इति श्रुतेः गुणानेवाह तद्गु-
णास्त्रय इति तस्य प्राकृतस्य त्रयो गुणा बोध्या इति शेषः तान्निर्दिशति
सत्त्वं रजस्तम इति तत्र ज्ञानादिकारणत्वे सति गुणत्वं सत्त्वगुणत्वं
सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानमिति श्रीमुखोक्तेः रजसो लोभ एव चेति वच-
नात् लोभादिहेतुत्वे सति गुणत्वं रजस्त्वं प्रमादादिकारणत्वे
सति गुणत्वं तमस्त्वं प्रमादमोहौ तमस इति वचनात् अथ तेषां
विशेषकार्यमाह जीवबन्धनहेतव इति जीवानां संसारचक्रभ्रामणे
ऽसाधारणकारणानीत्यर्थः तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।

सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघे--

तिवचनात् किंचेदमेव सत्त्वं रजस्तमसी अभिभूय उत्कटं सत् श्रीमुखोक्तशमदमादिसाधनकदम्बाचरणद्वारेण मोक्षासाधारण हेतुरपि भवतीति ज्ञातव्यं शमो दमस्तपः शौचमित्यादीनां मोक्षोपायानां तस्यैव कार्यत्वादित्यभिप्रायः अन्यथा सत्त्वात् संजायते ज्ञानमित्युक्तविरोधात् ।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ॥

तन्निवध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ॥

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निवध्नाति भारते--

तिवचनात् ॥ ४ ॥

अथ कार्यं संग्रहेण दर्शयति ॥

महदाद्यण्डपर्यन्तं कार्यंम इति तन्मूलमाह कारणमेवचेति कारणं मायाप्रकृतिप्रधानाव्यक्तादिपदाभिधेयमित्यर्थः “मायां तु प्रकृतिं विद्यात्” “प्रधानक्षेत्रज्ञपतिगुणेशः” “अव्यक्तात्पुरुषः पर” इत्यादिश्रुतेः तत्स्वरूपमाह स्वतन्त्रसत्तया हीनमिति तत्त्वं नाम परतन्त्रसत्तायुक्तं परस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य विश्वात्मनो नियन्तुस्तन्त्राधीना परतन्त्राचासौ सत्ता चेति तदाश्रयमित्यर्थः यदासीदधीनमासीदिति श्रुतेः एतेन निरीश्वरसांख्यपक्षो निरस्तः । सांख्यैः तस्य स्वातन्त्र्याभ्युपगमात् ब्रह्मात्मकत्वादेरप्युपलक्षणं ब्रह्मात्मकं तदाधेयं तद्याप्यं चेत्यर्थः पूर्वोक्तं सिद्धान्तं विरागार्थं स्मारयति कालतन्त्रमिति सर्वावस्थासु सृष्टिस्थितिभङ्गादिषु कालाधीनमित्यर्थः ॥ ५ ॥

परतन्त्रसत्तायाश्चेतनेऽपि सत्त्वात्तद्विवेकदर्शनाय विशेषान्तरमाह परिणामादिभिर्युक्तमिति परिणामिसत्ताकं तर्हि मिथ्यैव स्यादित्यादित्याशङ्क्याह नित्यं चानित्यमेव चेति नित्यानित्ययोरितरेतरविरोधित्वात् कथमुभयत्वयोगइतिचेत्तत्राह ॥

कारणं नित्यमेऽवात्रानित्यं कार्यं प्रचक्षत--

इति अत्रानयोर्द्वयोर्मध्ये कारणं नित्यमेव प्रपञ्चमूलत्वात् आद्यन्तशून्यत्वं नित्यत्वं गौरनाद्यन्तवतीति श्रुतेः ।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्मनादी उभावपी--

ति श्रीमुखोक्तेः अथ भारते वाष्ण्याख्याने भीष्मः ।

अनाद्यन्तावुभावेतावलिङ्गौ चाप्युभावपि ।
 उभौ नित्यावविचलौ महद्भ्यश्च महत्तरा--
 विति कार्यं त्वनित्यमेव उत्पत्तिनाशवत्त्वात् ।
 अव्यक्तं कारणं यत्तत्प्रधानमृपिसत्तमैः ।
 प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मिका ।
 अक्षयं नान्यदाधारममेयमचरं ध्रुवम् ॥
 हेतुभूतमशेषस्य प्रकृतिः सा परा मुने ।
 दैवो ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यये--

तिस्मृतिभ्यश्च, सृष्टिक्रमश्च प्रलयावसाने सृज्यमानप्रपञ्चवैचित्र्ये
 कारणीभूतप्राणिकर्मसहकृतात् अनन्ताचिन्त्यशक्तेः श्रीपुरुषोत्तमात्
 प्रकृतौ विक्षेपो जायते तत आदौ सात्त्विकादिभेदावच्छिन्नस्त्रिविधो
 महानुत्पद्यते ततो ऽहंकारः सोऽपि त्रिविधः वैकारिकतैजसभूतादि-
 भेदात् वैकारिकाहंकारादिन्द्रियाधिष्ठात्र्यो देवता मनश्च तदेववृत्तिभे-
 दात् स्थानभेदाच्चान्तःकरणचतुष्टयसंज्ञां लभते मनोबुद्धिचित्ताहं-
 काररूपां तत्र मननसंकल्पादिहेतुर्मनः इदमेव मनः शब्दादिसंवद्धं
 सद्बन्धहेतुः तत्परित्यागेन सपरिकरश्रीभगवत्प्रावण्ये सति मोक्ष-
 हेतुश्च ॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्तौ निर्विषयं स्मृतम् ॥

इतिवचनात् बोधनहेतुर्बुद्धिः देहादावहंकरणहेतुरहंकारः
 चिन्तनहेतुश्चित्तं तेषां चन्द्रब्रह्मरुद्रक्षेत्रज्ञा देवताः कचिच्चैषां वा-
 सुदेवादयश्चतुर्व्यूहदेवता अधिष्ठातृत्वेनोच्यन्ते तेषां मन आदि-
 पूपास्यत्वेन प्रतिपादनात्तत्तत्सिद्धान्तविरोधः चन्द्रादीनामधिष्ठा-
 तृत्वं व्यूहदेवानां तदन्तर्यामितयोपास्यत्वमित्यभिप्रायः अथ तै-
 जसाहङ्कारादिन्द्रियाणि इन्द्रियत्वं च ज्ञानकर्मेकतरकरणत्वं
 तानि द्विविधानि ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च शब्दादिज्ञान-
 करणत्वं ज्ञानेन्द्रियत्वं तानि पञ्च श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणभे-
 दात् शब्दमात्रग्राहकमिन्द्रियं श्रोत्रं स्पर्शमात्रग्राहकमिन्द्रियं त्वक्
 रूपमात्रग्राहकमिन्द्रियं चक्षुः रसमात्रग्राहकमिन्द्रियं रसनं गन्धमात्र-
 ग्राहकमिन्द्रियं घ्राणं तेषां दिग्वातार्कवरुणाश्विन्योऽधिष्ठात्र्यो देवताः
 शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च विषयाः वचनादानादिक्रियाकरणं कर्मेन्द्रि-

यं वाक्पाणिपादपायूपस्थसंज्ञकानि पञ्च तत्र वर्णोच्चारणासाधारणहे-
तुरिन्द्रियं वाक् शिल्पादानाद्यसाधारणहेतुरिन्द्रियं पाणिः विहरणक्रि-
यासाधारणकरणमिन्द्रियं पादः मलविसर्गासाधारणकरणमिन्द्रियं
पायुः आनन्दविशेषकरणमिन्द्रियमुपस्थ इति तेषां बह्विन्द्रोपेन्द्रसृत्त्युप्र-
जापतयोऽधिष्ठात्र्यो देवताः वचनादानविहरणविसर्गानन्दाः पञ्च कर्मा-
णोति विवेकः तानि चाऽणुपरिमाणकानि प्रति शरीरं भिन्नानि आमो-
क्षव्यवस्थितिस्वभावकानि च अथ भूतादिसंज्ञकनामसाहंकाराच्छ-
ब्दादिपञ्चतन्मात्राणि आकाशादिपञ्चमहाभूतानि चोत्पद्यन्ते उक्तलक्ष-
णाहंकारस्य महाभूतानां चान्तरालिकं व्यवहितसूक्ष्मपरिणामात्मकं
द्रव्यं तन्मात्रशब्दवाच्यं दुग्धदध्नोरान्तरालिककललादिपरिणामवत्
तदेव स्थूलावस्थापन्नं भूतशब्दाभिधेयं भवति एवं च तामसाहङ्का-
राच्छब्दतन्मात्रं तत आकाशः आकाशात्स्पर्शतन्मात्रं ततो वायुः,
वायो रूपतन्मात्रं ततस्तेजस्तेजसो रसतन्मात्रं ततो जलं जलाद्-
न्धतन्मात्रं ततः पृथिवीति शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्चैतेषां गुणाः तेषां
विवेकश्च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पृथिव्या गुणास्तेषु गन्धहीनाश्च-
त्वारोऽपां गुणास्तेषु गन्धरसहीनास्त्रयो गुणा अग्नेः शब्दस्पर्शावि-
तिवायोः शब्द आकाशस्येति श्रुत्या ज्ञेयः, अनयैवैषां लक्षणमप्युक्तं
तथाहि गन्धासाधारणगुणवत्त्वे सति शब्दादिमत्त्वं पृथिवीत्वं रसा-
साधारणगुणाश्रयत्वे सति गन्धराहित्यं जलत्वं रूपासाधारणगुणक-
त्वे सति गन्धरसहीनत्वं तेजस्त्वं स्पर्शासाधारणगुणाश्रयत्वे सति
रूपरसगन्धशून्यत्वं वायुत्वं तत्र देहधारणासाधारणहेतुर्वायुः प्राणः
स च पञ्चधा प्राणापानव्यानोदानसमानभेदात् स्पर्शाद्यनाधारत्वे
सति शब्दमात्राश्रयत्वमाकाशत्वमिति इत्थं प्रकृतिमहदहंकारा मनो
दशेन्द्रियाणि तन्मात्रपञ्चकं भूतपञ्चकञ्चेति चतुर्विंशतितत्त्वानि
प्राकृतानि तत्र प्रकृतिमहदहंकारा पञ्चमहाभूतानि च स्थूलदेहस्यो-
पादानकारणानि इन्द्रियाणि भूषणे रत्नानीव तदाक्रम्य स्थितानि प-
ञ्चतन्मात्राणि मनो दशेन्द्रियाणि प्राणश्च सूक्ष्मदेहस्योपादानानि तत्र
प्राणस्य स्पर्शतन्मात्रकार्यत्वात् तेनैकीकृत्य श्रुतौ षोडशसंख्यात्व-
व्यपदेशः “इमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ती”
त्यादि, शरीरत्वं नाम चेतननियताश्रयत्वे सति तद्भोगायतनत्वं चे-
तनायत्तस्थितिप्रवृत्तिकत्वे सति तदपृथक्सिद्धत्वं वा तद्विविधं नि-

त्यानित्यभेदात् तत्र विश्वमङ्गलाश्रयं परमयोगिधेयं ध्यातृपुरुषार्थचि-
न्तामणिरूपं श्रीरमाकान्तगोपीनयनाह्लादमूर्तेः श्रीविग्रहं नित्यमुक्तानां
पार्षदादीनां स्वाभाविकमनुष्यपक्षिभूषणाद्याकारं च तच्चाग्रे वक्ष्यते
अनित्यमपि द्विविधम् अकर्मजं तज्जन्यं चेति आद्यमोश्वरस्य विरा-
डादिरूपं गरुडादीनां मुक्तानां भगवदिच्छायततदिच्छया तत्तदा-
कारकं च कर्मजन्यं च कर्मतारतम्यादनेकविधं देवतिर्यङ्मनुष्यना-
रक्यादिभेदात् जरायुजाण्डजादिभेदाच्च महदादिशरीरान्तं तत्तद-
वस्थापन्नमपि प्रकृत्याभिन्नमेव तत्कार्यत्वात् सृष्ट्यं घटाद्यवस्थापन्न-
मपि यथा सृदभिन्नं तद्वत्कारणद्रव्यमेवावस्थान्तरापन्नं सद्रूपं च का-
र्य्यत्वेनाभिधीयते “सदेव सोम्येदमग्र आसीत् सन्मूलाः सर्वाः प्रजाः
सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा” इत्यादिश्रुतेः अन्यथा कार्योत्पत्तिरेव न स्यात्
न हि गगनकुसुमादेरुत्पत्तिः कापि दृष्टा श्रुतिगोचरा “असतः सम्भवः
कुत” इति स्मृतेः तस्मात्सदेवकार्य्यमुत्पद्यते तदपृथक्सिद्धं चेति
राद्धान्तः प्रकृत्यादीनि चेतनानां भोग्यतत्करणतत्स्थानरूपेणानेक-
विधानि तत्र भोग्यं शब्दादिकं तद्विशिष्टद्रव्यं च अन्नपानादिकं
तत्र करणं शरीरेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिकं भोगस्थानानि तत्तद्वद्वृत्ति-
मित्तकब्रह्माण्डवृत्तिचतुर्दशभुवनानि स्वर्गनरकादिभेदभिन्नानि सु-
खदुःखादिभोगायतनानि तान्येव प्रकृत्यादीनि श्रीपुरुषोत्तमस्य
क्रोडातदुपकरणतत्स्थानानि ब्रह्माण्डं च कपित्थाकारं पञ्चीकृतम-
हाभूतारब्धं चतुर्दशभुवनगर्भकं मुमुक्षुहेयं प्राकृतं चेति भुवनानि च
भूलोकभुवलोकस्वलोकमहलोकजनलोकतपोलोकसत्यलोकाख्यानि
सप्त अतलवितलसुतलतलातलरसातलमहातलपातालाख्यानि च
सप्त तच्च ब्रह्माण्डं दशगुणोत्तरावरेणः पञ्चमहाभूताद्यैरहङ्कारम-
हत्तत्त्वाभ्यां चावृतम् । एवमेकब्रह्माण्डसन्निवेशः ईदृशानन्तकोटिब्रह्मा-
ण्डानीश्वरविभूत्यात्मके प्रधाने ऽर्णवोदके बुद्बुदानोव भ्रमन्ति अत
एव तस्याप्यनन्तत्वं महदादिपृथिव्यन्तं समष्टिशब्दवाच्यं चतुर्मु-
खावसाना सृष्टिः साक्षात्परमेश्वरनिर्मिता तदुत्तरा च चतुर्मुखादि-
द्वारेण परस्परयेतिविवेकः महदादिपृथिव्यन्तं समष्टिशब्दाभिधेयं
यथा सेनावनधान्यराश्यादयः तेषामेकैकदेशमादाय क्रियमाणो
व्यवहारः अस्मदादिवुद्धीन्द्रियशरीरादिको व्यष्टिशब्दवाच्यः यथा
वृक्षधान्यादिव्यवहारः पञ्चीकरणप्रक्रिया च भगवाञ्छ्रीपुरुषोत्तमः

पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि सृष्ट्वा द्विधा विभज्य द्वयोर्भागयोः स्व-
 भागमेकं पृथङ् निधाय द्वितीयं भागं पुनश्चतुःकृत्य चतुर्भागांश्च भू-
 तान्तरेषु चतुर्षु संयोजयति एवञ्चिकीर्षितेषु पञ्चस्वपि भूतेषु एकै-
 कस्य भूतस्यार्द्धं स्वभागो द्वितीयार्द्धं चतुर्णां भूतानां भागेषु योज-
 नमिति तथाच स्वभागस्य भूयस्त्वेनान्यभागानामल्पत्वेन पृथि-
 व्यादिपृथग्व्यवहारोऽप्यविरुद्धः पञ्चीकृतत्वादेव शब्दादिपञ्चविष-
 याणां पञ्चस्वप्युपलम्भः सूपपन्नः किञ्च महदादिशरीरान्तेषु मध्ये
 शरीरं ह्यन्नविकारत्वादन्नमयः पुरुषो ऽभिधीयते मन एव कर्मेन्द्रिय-
 सहितं सत् मनोमयः पुरुषः प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियसहितं सत्
 प्राणमयः पुरुषो जीवात्मा आनन्दमयः पुरुषश्च परमात्मा परं ब्रह्म
 श्रीपुरुषोत्तम इति संक्षेपः अथ सृष्टिव्युत्क्रमेण प्रलयो न तु कारण-
 नाशक्रमेण कारणनाशानन्तरमनाधारस्य कार्यस्य स्थित्यनुपपत्तेः
 क्रमश्च पृथिवी गन्धतन्मात्रद्वारेणाप्सु लीयते आपो रसतन्मात्रद्वारेण
 तेजसि तेजो रूपतन्मात्रद्वारा वायौ वायुश्च स्पर्शतन्मात्रद्वाराऽऽकाशे
 स च शब्दतन्मात्रद्वारा तामसाहङ्कारे इन्द्रियाणि स्वकारणभूते राज-
 साहङ्कारे मनो देवताश्च वैकारिके त्रिविधोऽप्यहङ्कारो महति स चाव्य-
 क्ते सोऽपि पुरुषे स च ब्रह्मणि श्रीपुरुषोत्तमइतिसङ्क्षेपः अस्य विस्तरः
 श्रुतिस्मृत्यादिप्रमाणपूर्वकं वेदान्तरत्नमञ्जूपायां श्रीपुरुषोत्तमाचार्य्य-
 पादैर्निरूपितस्तत्रैव तज्जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्यम्। इतिप्राकृतपदार्थसंग्रहः॥६॥

अथाऽप्राकृतं निरूपयति—

सूर्यवर्णं ततो भिन्नं तमसः परमुच्यते ।

अनावरकरूपं चाप्राकृतं विद्ध्यचेतनम् ॥ ७ ॥

ततस्ताभ्यां पूर्वनिरूपिताभ्यां प्राकृतकालाभ्यां भिन्नमत्यन्तवि-
 लक्षणं तत्र हेतुमाह सूर्यवर्णमितिप्रक शात्मकं सूर्यस्यापि प्राकृत-
 त्वाविशेषात् प्राकृतमेव स्यादित्याशङ्का तु ततो भिन्नमिति पूर्वोक्त-
 विशेषणैव निरस्ता तत्र प्रमाणमाह तमसः परमुच्यत इति श्रुति-
 भिरितिशेषः आदित्यवर्णं तमसः परस्तादित्यादिश्रुतिप्रमाणसिद्ध-
 मित्यर्थः अनावरकरूपं चेति आवरकस्वभावशून्यं तथाभूतमचेतनं
 वस्तु अप्राकृतं विद्धीतिसंबन्धः श्रोत्रपेक्षायामध्यमपुरुषप्रयोगो ऽवि-
 रुद्धः एतेन श्रुतिनिरूपितमेवेदं लक्षणमित्युक्तं भवति तथा च आ-

दित्यवत्प्रकाशरूपं प्रकाशकं च तमोवाच्यप्रकृत्यादेः परमिति श्रुत्यर्थः
 त्रिगुणाश्रयप्रधानकालाभ्यां विलक्षणं प्रकाशात्मकमनावरकस्वभा-
 वमचेतनद्रव्यं तत्त्वमिति श्रीपुरुषोत्तमाचार्य्यपादोक्तेः एतेन त्रिगुणा-
 त्मकद्रव्यभिन्नमपि शुद्धमायाकार्य्यमेवेति पक्षनिरासः तत्र प्राकृत-
 मण्डलवहिर्वृत्तिनित्यविभूतिपरमव्योमविष्णुपदपरमपदादिशब्दाभि-
 धेयमपरिच्छिन्नमेव प्राकृतदेशवृत्ति ह्यवतारविभूत्याख्यं तु लीलार्थं
 भगवत्संकल्पात्परिच्छिन्नमिव दृश्यमानमप्यपरिच्छिन्नमेवाचिन्त्यश-
 क्तियोगात् तच्च श्रीभगवद्गीतैकादशाध्याये विश्वरूपाख्ये श्रीमुखैनेव
 गीतं पार्थाय साक्षाद्दर्शितं च तदेवं भगवदीयानादिसंकल्पात्तस्य
 तदीयानां नित्यमुक्तानां च भोग्यतदुपकरणादिरूपं तत्र भोग्यं भग-
 वद्विग्रहादि भोगोपकरणं च भूषणायुधयानासनालङ्कारकुसुमपत्रफ-
 लादि स्थानं च गोपुरचत्वरप्राकारमणिमण्डपसभावनोपवनसरोवर
 वाप्यादिकं तत्रेश्वरस्य नित्यमुक्तानां च विग्रहसंस्थानं तदीयाना-
 यनन्तेच्छासिद्धं स्वाभाविकं यावदात्मवृत्ति वद्धमुक्तानां तु भगव-
 त्प्रसादलभ्यसाक्षात्कारनिवृत्तप्रकृतिसंबन्धानाम् अनादिसिद्धैरेव
 विग्रहादिभिर्योगमात्रं न तु तत्र जन्यत्वादिविकारशङ्कापि निर्विकार-
 त्वात् यथोत्सवादिसमये प्राक्सिद्धा एव वस्त्रभूषणालङ्कारादयो म-
 हाराजैः स्वभृत्येभ्यो दीयन्ते तथैव प्रकृतिवियोगसमये पूर्वसिद्ध-
 नित्यनिर्विकारतत्सेवोपकरणार्हा विग्रहादयोऽपि श्रीपुरुषोत्तमेन दी-
 यन्ते ते ब्रह्मालंकारेणालङ्कुर्वन्तीतिकौशीतकीनामाम्नायात् श्रीभग-
 वद्विग्रहश्च स्वरूपवदनन्तासंख्येयकल्याणगुणाश्रयः गुणाश्च निरति-
 शयसौन्दर्य्यमार्दवलावण्यसौगन्ध्यसौकुमार्यादयः सर्वगन्धः सर्व-
 रसः आप्रणखात् सुवर्णं इत्यादिश्रुतिभ्यः श्रीभगवतः सर्वदर्शनस्प-
 र्शनगमनादिसर्वशक्तिमत्त्वान्न तत्र भिन्नेन्द्रियादिविभागकल्पनावका-
 शः गौरवात् “अपाणिपादो जघनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणो-
 त्यकर्ण” इत्यादिश्रुतेः तत्साम्यं भजतां मुक्तानामपि तथैव व्यवहारः
 निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति श्रुतेः किञ्च कालातीतवस्तुत्वान्न तत्र
 कालप्रभावः “कलामुहूर्तादिमयश्च कालो न यद्विभूतेः परिणामहेतु”
 रिति चतुर्थीशे ब्रह्मोक्तेरिति इत्यप्राकृतनिर्णयः ।

इति श्रीअध्यात्मतरङ्गिण्यामचेतनसंग्रहो नाम द्वितीयस्तरङ्गः ॥ २ ॥

एवं चेतनाचेतनतत्त्वं संगृह्य श्रीपुरुषोत्तमपदार्थं संगृह्णाति—

विश्वजन्मादिहेतुश्च शास्त्रयोनिःसमन्वितः ॥

शास्त्रेष्वस्पृष्टदोषो वै कल्याणगुणसागरः ॥ १ ॥

जन्म आदिर्येषां ते जन्मादयः जन्मस्थितिलयमोक्षाख्यास्तेषां विश्वजन्मादीनां हेतुः उपादाननिमित्तं च कारणं “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्वे”ति श्रुतेः जन्माद्यस्य यत इति सूत्रात् ।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तत—

इति श्रीमुखोक्तेः स्थेमसृष्टिलयमोक्षकारणमिति पूर्वाचार्य्योक्तेश्च तस्य कारणत्वं च शक्तिविक्षेपोपसंहारलक्षणपरिणामेनैव न तु स्वरूपपरिणामेन अतो न विकारप्रसक्तिशङ्कावकाशः “यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि यथा पृथिव्या औषधयः सम्भवति तथा क्षरात् सम्भवतीह विश्व”मिति श्रुतेः ।

प्रसार्थं च यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः ।

तद्वद्भूतानि भूतात्मा सृष्टानि प्रसते पुनः—

इति—

भारते भीष्मोक्तेः एतेन संघातारम्भविवर्तादिवादा निरस्ताः अथौतत्वात् कपोलकल्पिततर्कैकमूलत्वाच्च तद्विचारश्चाऽऽकरे पूर्वाचार्य्यैरनिरूपितः तत्रैव द्रष्टव्यः अत्र प्रमाणमाह शास्त्रयोनिरिति शास्त्रमेव योनिः ज्ञानकारणं यस्य सः न तु प्रमाणान्तरमिति सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमिति अन्वयव्यतिरेकश्रुतेः वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य इत्यादिस्मृतेः शास्त्रयोनित्वादिति सूत्राच्च ननु कुतः शास्त्रैकगम्यो भगवान्न प्रमाणान्तरगोचर इति चेत्तत्राह समन्वितः शास्त्रोष्विति शास्त्रेषु तत्प्रतिपाद्यतया सम्यगन्वितः वेदस्यापि शब्दब्रह्मत्वात्तद्वतशक्तेस्तच्छक्त्यभिन्नत्वात् स्वशक्त्यैव वेद्यः अन्यप्रमाणविषयत्वे परप्रकाशत्वापत्त्या स्वप्रकाशत्वहानिरित्यर्थः ननु विश्वजन्मादिहेतुत्वे विश्वस्य सुखदुःखादिवैचित्र्यदर्शनात्तत्कारणे ब्रह्मणि वैषम्यादियोगस्यावश्यम्भावादिति चेत्तत्राह अस्पृष्टदोषो वा इति वा इति निश्चये दोषैरस्पृष्टो ऽस्पृष्टदोषः दोषाश्च जन्मादिविकाराः पट् आध्यात्मिकादितापास्त्रयः अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाख्याः क्लेशाश्च द्वेषादिकार्य्यभूताः सञ्चितक्रिय-

माणप्रारब्धाख्यं पुण्यापुण्यरूपं त्रिविधं कर्म सत्त्वरजस्तमोरूपाः
प्रकृतेर्गुणाख्यः एते वद्धजीवदोषाः तैरस्पृष्टमाहात्म्यदिकटइत्यर्थः
य आत्मा अपहृतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपा-
स इत्यादिश्रुतेः ।

कर्मक्लेशविपाकाद्यैरस्पृष्टस्याखिलेशितुः ।

सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः ॥

परः पराणां सकला न यत्र ॥

क्लेशादयः सन्ति परावरेशे—

इत्यादिस्मृतेश्च एतेन निर्गुणश्रुतयो व्याख्याताः तासां हेयगु-
णादिनिषेधपरत्वात् अथ स विशेषश्रुतितात्पर्यं बोधयन्नाह कल्या-
णगुणसागर इति कल्याणरूपाणां ध्यातृकल्याणहेतूनां स्वाभाविका-
चिन्त्यानन्तयावदात्मवृत्तीनां संख्यादिपरिच्छेदशून्यानां गुणानां सा-
गरः विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि न ते
विष्णो जायमानो न जातो देवस्य महिम्नः परमं तमाप सत्यकामः
सत्यसङ्कल्पः स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया चेत्यादिश्रुतिभ्यः विवक्षि-
तगुणोपपत्तेश्चेत्यादिसूत्रात् ॥

यथा रत्नानि जलधेरसंख्येयानि पुत्रक ।

तथा गुणा ह्यनन्तस्याप्यसंख्येया महात्मनः ॥

ज्ञानशक्तिवलैश्वर्य्यवीर्य्यतेजांस्यशेषतः ।

भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ।

समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ ॥

तेजोवलैश्वर्य्यमहावबोधः ॥

स्ववीर्य्यशक्त्यादिगुणैकराशि—

रित्यादिस्मृतिभ्यश्च ॥

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशि—

मिति श्रीआद्याचार्य्यपादोक्तेश्च गुणाश्च ज्ञानशक्तिवलैश्वर्य्य-
तेजोवीर्य्यसौशील्यवात्सल्यार्जवसौहार्दसौम्यकारुण्यस्थिरत्वधैर्य्य-
स्वातन्त्र्यौदार्य्यदयामार्हवाद्यः तत्र ज्ञानं सर्वदेशकालवस्तुविष-
यकप्रत्यक्षैकरसानुभूतिः अघटघटनाहं सामर्थ्यं शक्तिः बलं सर्व-
धारणसामर्थ्यम् पेश्वर्य्यं चेतनाचेतनविश्वनियमनसामर्थ्यं वीर्य्यं
श्रमहेतौ सति श्रमशून्यता तेजः परैरनभिभूयमानत्वे सति पराभिभ-

वनसामर्थ्यम् एते गुणा भगवच्छब्दवाच्यपरब्रह्मश्रीपुरुषोत्तमाश्रिताः जगत्सृष्ट्याद्युपयोगिनः महत्त्वकारणोत्तमजात्याद्यनपेक्ष्य मन्दैरप्यमायया संश्लेषभावः सौशील्यं भृत्यदोषानुसन्धानराहित्यं वात्सल्यम् आश्रितदुःखासहिष्णुत्वं मार्दवं मनोवाक्कायव्यापारसाम्यम् आर्जवं स्वशक्तिमतिक्रम्यापि पररक्षणोद्यमः सौहार्दं ब्रह्मादिस्थावरा-
न्तैः साधारणोपायत्वं सौम्यं परदोषक्षपणस्वभावः कारुण्यं युद्धादावचलत्वं स्थैर्यं प्रतिज्ञापालकत्वं धैर्यं सदा सर्वत्र स्वायत्तस्वरूप-
स्थितिप्रवृत्तिकत्वे सति सर्वानियन्तृत्वं स्वातन्त्र्यम् आत्मपर्यन्तदानार्हत्वे सति सर्वपुरुषार्थदातृस्वभाव औदार्यं निर्हेतुकपरदुःखदुःखितत्वे सति तन्निराचिकीर्षा दया एते च तदाश्रयणे स्वानन्याश्रितरक्षणे चोपयोगिन इति विवेकः यः सर्वज्ञः सर्ववित् एष सर्वेश्वरः सर्वस्य शरणं सुहृत् सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सत्यः सोऽस्य महिमा यस्यैष महिमा आत्मदो धनदो बलदो यो विदधाति कामान् एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यदिच्छति तस्य तदित्यादिश्रुतयो ऽत्राऽनुसन्धेयाः ।

पेश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ॥

ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षणां भग इतीङ्गना ।

तस्मात्त्वमपि विप्रेन्द्र नारायणपरो भव ॥

तदन्यः को महोदारः प्रार्थितं दातुमीश्वर—

इति श्रीनारदोक्तेः, सकलफलप्रदो हि विष्णुरितिविष्णुधर्मे ॥

रत्नपर्वतमारुह्य यथा रत्नं महामुने ।

सत्त्वानुरूपमाधत्ते तथा कृष्णान्मनोरथान् ॥

यथा कल्पद्रुमात्सर्वं प्राप्यते मनसीप्सितम् ॥

तथैव प्राप्यते विष्णोरपि स्याद्दुर्लभं द्विज ।

अश्वमेधसहस्राणां सहस्रं यः समाचरेत् ॥

नाऽसौ पदमवाप्नोति मद्भक्तै र्यदवाप्यते ।

सुहृदं सर्वभूतानां मामेकं शरणं ब्रज ॥

सर्वलोकशरण्याय—

इत्यादिस्मृतयश्च ॥ १ ॥

किञ्च ॥

सत्यो ज्ञानमनन्तश्च सच्चिदानन्दविग्रहः ॥

अचिन्त्यानन्तशक्तिश्च गोपीकान्तो रमापतिः ॥ २ ॥

लक्षणान्तरमाह सत्यो ज्ञानमनन्तश्चेति सत्यत्वादिधर्माणा-
मसाधारणाश्रय इत्यर्थः तत्र सत्यत्वं कालत्रयावाधितविकाराद्यस्पृ-
ष्टस्वतन्त्रसत्ताश्रयत्वं ज्ञानत्वं च चित्स्वप्रकाशत्वम् अनन्तत्वं
देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यत्वं सर्वदेशकालवस्तूनामप्यात्मत्वा-
द्यापकत्वात्तदाधारत्वाच्च सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति श्रुतेः अथ
विग्रहं निरूपयति, सच्चिदानन्दविग्रह इति नित्यप्रकाशानन्द-
लक्षणो विग्रहो यस्य सः निरतिशयसौन्दर्यसौकुमार्यमाधुर्यलाव-
ण्यसौगन्ध्यसौस्पर्शाद्यनन्तासंख्येयकल्याणगुणाश्रयविग्रहक इति
यावत् तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम् एषोन्तरादित्ये हिरण्य-
यः पुरुषो दृश्यते हिरण्यकेशः हिरण्यश्मश्रुः आप्रणखात् सुवर्णः
आनन्दरूपममृतं यद्विभाति यदात्मको भगवांस्तदात्मिका व्यक्तिः
किमात्मको भगवान् ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मकः विश्वतश्चक्षुरुत
विश्वतोमुखः सर्वगन्धः सर्वरस इत्यादिश्रुतिभ्यः अथ सर्वशक्तिमाह
अचिन्त्यानन्तशक्तिश्चेति इयत्ताद्यवच्छेदेन चिन्तनार्हा चिन्त्या न-
चिन्त्या अचिन्त्या अन्तः परिच्छेदस्तद्रहिता ऽनन्ता अचिन्त्याश्च
ता अनन्ताश्च ताः शक्तयो यस्य अचिन्त्यानन्तस्वाभाविकयावदात्म-
वृत्तिशक्तिमानित्यर्थः परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी
ज्ञानेति श्रुतेः सर्वोपेताचेतिसूत्रात् ।

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः ॥

शतशो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः ।

भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णते—

तिस्मृतेश्च एतेनानिर्वचनीयशक्तिवादो निरस्तः स्वाभाविकत्वा-
दिविघ्नानात् अथ श्रयादिवैशिष्ट्यं विधत्ते गोपीकान्तो रमापति-
रिति गोपी श्रीवृषभानुतनया तस्याः प्रेमाधिष्ठात्र्याः कान्तः स्वा-
मीति तथा च ऋक्परिशिष्टश्रुतावाग्नायः ॥

राधया माधवो देवो माधवेन च राधिका ।

विराजत इति अन्योन्यसाहित्यप्रयोगेन तयोर्नित्यसम्बन्धः प्रे-
मोत्कर्षश्चोक्तो भवति प्रेमाधिष्ठात्र्या गोप्या वैशिष्ट्यमुक्ता ऽऐश्वर्या-
धिष्ठात्र्याः श्रियो वैशिष्ट्यं दर्शयति रमापतिरिति रमाया लक्ष्म्याः प-
तिः अस्या ऐश्वर्याधिष्ठातृत्वं च ईश्वरीं सर्वभूतानां यशसा ज्व-
लन्तीं लोके देवजुष्टामुदारामित्यादिश्रुत्या प्रोक्तं भगवत्स्वरूपगुण-

शक्त्यादिप्रतिपादनेनैवास्या अपि गुणशक्त्यादिनिर्णयो ज्ञातव्यस्त-
दनुरूपत्वाभ्रपृथक्कथनापेक्षा तथा चाह भगवान्पराशरः ॥

देवत्वे देवदेहेयं मानुषत्वे च मानुषी ।

विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येवात्मनस्तनुम् ॥

राघवत्वे ऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि ।

अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषा ऽनपायिनी—

इत्यादिना किञ्च श्रीश्रुते लक्ष्मीश्च पत्न्याविति श्रुतौ श्रीशब्दः
सत्यभामाख्यभृशक्तिपरः ।

कृष्णात्मिका जगत्कर्त्री मूलप्रकृतिरुक्मिणी ।

व्रजस्त्रीजनसंभूता श्रुतिभ्यो ब्रह्मसङ्गता ॥

इत्यत्र मन्त्रे च व्रजस्त्रीशब्दवाच्यायाः श्रीराधिकायाः सं-
ग्रहः उभयत्रैकैकामुपलक्ष्य तयोः प्रवृत्तिरिति गम्यते तस्मादुभ-
यत्र गुणोपसंहारन्यायेन त्रयाणां विधानं बोध्यं रमासत्य-
भामाव्रजस्त्रीभिः स्वासाधारणानपायिनीभिः पत्नीभिरुपास्यो भ-
गवान्वासुदेवश्रीकृष्णाख्यपरब्रह्मपुरुषोत्तम इति सांप्रदायिकानां
राद्धान्तः श्रौतः तासु चैश्वर्याधिष्ठात्री रमा श्रियं देवीमुपह्वये
इति मन्त्रवर्णात् देवस्य श्रीमुकुन्दस्य पत्नी देवी स्मरेम दे-
वीमित्याद्याचार्य्यपादोक्तेः देवस्य गायत्रीमन्त्रप्रतिपाद्यस्य सर्व-
शास्त्रार्थभूतस्य पत्नी देवीति श्रीपुरुषोत्तमाचार्य्यपादोक्तेश्च स्वरूप-
गुणशक्त्यादिभिः श्रीमुकुन्दानुरूपत्वेपि तत्पारतन्त्र्यस्यात्र वैलक्षण्यं
पत्नीत्वात् तथा च न तदवतारेष्वतिप्रसङ्ग इति विवेकः केचिदत्र
जीवभावमभ्युपगच्छन्ति तत्तुच्छम् ईश्वरीं सर्वभूतानामित्यादिश्रुति-
विरोधात् अन्ये मध्यमाक्षरत्वं भावयन्ति तदप्यसम्यक् प्रमाणाभावेन
युक्तिकौशलमात्रत्वात् प्रेमाधिष्ठात्री व्रजस्त्री ये त्वत्र केचिदप्रामाण्य-
शङ्कामुद्भावयन्ति तेह्यन्धाः राधयामाधवो० व्रजस्त्रीजन० इत्याद्युक्त-
श्रुतेः बलुवीवदनाम्भोजमालिने इत्यादिमन्त्रस्य च ।

यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं तथा प्रियम् ।

सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभे—

इति पाञ्च कार्तिकमाहात्म्ये इत्यादिस्मृतेश्च तेषां दृष्टिगोचरत्वा-
भावात् ।

श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे विप्राणां परिकीर्तिते ।

एकेन विकलः काणो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तित—

इति स्मृत्युक्तलक्षणस्य तत्र समन्वयात् ॥ २ ॥

आधारशक्तिश्च सत्यभामा तत्र द्वयोः वैशिष्ट्यमुक्ता ऽवशिष्टाया
भूशब्दवाच्याया वैशिष्ट्यं दर्शयन्नाह—

सत्यभामाप्रियो देवो मुकुन्दः पुरुषोत्तमः ।

मुक्तगम्यो हरिः कृष्णो भगवान्मधुसूदनः ॥ ३ ॥

सत्यभामायाः प्रियः सत्यभामाप्रियः सत्यभामा प्रिया यस्येति
वा तथा हरिवंशे श्रीभगवदुक्तिः ।

क्षमादयश्च मेदिन्यां शब्दाद्याश्च यथा गुणाः ।

ध्रुवाः पङ्कजगर्भाभे त्वयि स्नेहस्तथा मम ॥

रुचिरग्नौ यथा दिव्या प्रभा चैव दिवाकरे ।

कान्तिश्च शाश्वती चन्द्रे स्नेहस्त्वयि तथा मम—

इति नित्यसंबन्धे दृष्टान्ताः तमेव विशिनष्टि देव इति दिव्यति
द्योतते इति देवः तमेव भान्तमनुभाति सर्वमिति श्रुतेः असाधारण्यं
द्योतयन्नाह मुकुन्द इति संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुरिति श्रुतेः तन्नि-
ष्ठस्य मोक्षव्यपदेशादिति सूत्रात् तत्र हेतुमाह पुरुषोत्तम इति क्षरा-
क्षराभ्यामुत्तमत्वात् प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः अक्षरात्परतः पर इत्यादि-
श्रुतेः अत एव मुक्तगम्य इति मुक्तैर्गम्यः प्राप्यः मुक्तोपसृप्यत्वादिति
सूत्रात् अथ विशेषं निर्दिशति श्रीकृष्ण इति सदानन्दरूपः ।

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।

तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत—

इति शास्त्रात् अथैश्वर्यं व्यञ्जयन्नाह भगवानिति स्वासाधारणसम-
प्रज्ञानादिषड्भगाश्रयः तच्चरितगर्भितविशेषणमाह मधुसूदन इति ॥३॥

कचिद्ब्रह्मादीनामप्यैश्वर्ययोगः शास्त्रेषु दृश्यते तत्रातिप्रसङ्ग-
शङ्कां वारयन्नाह—

ब्रह्मरुद्रमहेन्द्रादिकिरीटार्चितपादुकः ।

योगिध्येयपदाम्भोजो भक्तानुग्रहतत्परः ॥ ४ ॥

ब्रह्मेत्यादि ब्रह्मा चतुर्मुखो भौतिकसृष्ट्येकदेशकर्त्ता रुद्रस्त्रिनेत्रो
भौतिकसृष्ट्येकदेशसंहर्त्ता महेन्द्रः सहस्राक्षः सुरनायकः एते आ-

दियेपां ते ब्रह्मादयस्तेषां किरीटैरर्चिते पादुके यस्य सः यं सर्वे देवा
नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्चेति श्रुतेः [वैष्णवे] ।

एते वयं वृत्ररिपुस्तथायं नासत्यदस्त्रौ वरुणः तथैषः ।

इमे च रुद्रा वसवः ससूर्याः समीरणाग्निप्रमुखास्तथाऽन्ये ॥

सुराः समस्ताः सुरनाथ कार्यमेभिर्मया यच्च तदीश सर्वम् ।

आज्ञापयाऽऽज्ञां प्रतिपालयन्तस्तवैव तिष्ठाम सदाऽस्तदोपाः ॥

तत्रैवाऽदितिः ।

ब्रह्माद्याः सकला देवा मनुष्याः पशवस्तथा ।

विष्णुमायामहावर्तमोहान्धतमसावृताः ॥

आराध्य त्वामभीप्सन्ते कामानात्मविशुद्धये ।

तत्रैव कालियः ।

ब्रह्माद्यैरर्च्यते दिव्यैर्यश्च पुष्पानुलेपनैः ॥

नन्दनादिसमुद्रभूतैः सोऽर्च्यते वा कथं मया ।

उद्योगपर्वणि सनत्सुजातः ॥

यत्तदुक्तं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद्यशः ।

यद्वै देवा उपासन्ते यस्मादको विराजते ॥

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।

सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् ।

गरीयसे ब्रह्मणो ऽप्यादिकर्त्रे—

इत्यादिस्मृतेश्च एतेन तेषां जीवत्वं स्पष्टं द्योतितं भवति अत
एव मुमुक्षुभिरुपेक्ष्याः मोक्षदातृत्वाभावात् परजन्यत्वात् परतन्त्र-
त्वात् परोपदिष्टविद्यायोगात् परदत्तैश्वर्यभागित्वात् परनियम्य-
त्वाच्च एषां हेतूनां मूलभूतं शास्त्रं वेदान्तरत्नमञ्जूषादौ द्रष्टव्यम् । एत-
दुक्तं भवति ब्रह्मरुद्रादीनां क्वचिदैश्वर्ययोगः श्रूयते इति सत्यं तथा-
पि तेषां भगवद्गाराधनलब्धपरेशप्रसादलभ्यत्वात् न निरतिशयपार-
मैश्वर्याश्रयत्वं कर्मजन्यत्वेन देशकालपरिच्छिन्नत्वात् यो ब्रह्माणं
विदधाति पूर्वं यो वा वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै अस्य देवमीदुषो दया
विष्णोरेव प्रवृद्धे हविर्भिर्दिदेह रुद्रो रुद्रीयमहित्वमिति वह्वृचः सोऽब्र-
वीद्वरं वृणीष्व अहमेव पशूनामधिपतिरसानीति तस्माद्गुद्रः पशूनाम-
धिपतिरित्यादिश्रुतेः तत्र विदधातीति ब्रह्माधिकारे स्थापयतीत्यर्थः ।

युगकोटिसहस्राणि विष्णुमाराध्य पद्मभूः ।
पुनस्त्रैलोक्यधातृत्वं प्राप्तवानिति शुश्रुमः ॥
मत्पुत्रत्वं च कल्पादौ लोकाध्यक्षत्वमेव च—
इति ॥

विश्वरूपो महादेवो सर्वमेधे महाक्रतौ ।

जुहाव सर्वभूतानि स्वयमात्मानमात्मना ॥

महादेवः सर्वयज्ञे महात्मा हुत्वात्मानं देवदेवो बभूव ।

विश्वाल्लोकान्व्याप्य विष्टभ्य कीर्त्या विराजते श्रुतिमान् कृत्तिवासा—
इति भारते ।

ते देवा ऋषयश्चैव नाना तनुसमाश्रिताः ।

भक्त्या संपूजयन्त्येनं गतिं चैषां ददाति सः ॥

ततस्ते विबुधाः सर्वे ब्रह्मा ते च महर्षयः ।

वेददृष्टेन विधिना वैष्णवं क्रतुमारभन् ॥

प्रापुरादित्यवर्णं तं पुरुषं तमसः परम्—

तत्रैव श्रीभगवान् ॥

येन यः कल्पितो भागः स तथा मामुपागतः ।

प्रीतोऽहं प्रदिशाम्यद्य फलमावृत्तिलक्षणम्—

इति नारायणीये ।

ब्रह्मादयः सुराः सर्वे विष्णुमाराध्य ते पुरा ।

स्वं स्वं पदमनुप्राप्ताः केशवस्य प्रसादत—

इति नारसिंहे, इत्यादि स्मृतेश्च ।

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दिता—
दिति श्रीभगवत्पादाद्याचार्योक्तेश्च अस्य विस्तरः श्रीपुरुषोत्त-
माचार्यपादैरुक्तः परीक्षापूर्वकः एवं ब्रह्माद्यधिकारदातृत्वं निरूप्य
परमयोगिध्येयत्वमाह योगध्येयपदाम्बुजइति योगिभिः श्रीसनत्कुमा-
रनारदशुकादिभिर्ध्यातुं योग्यं पदाम्बुजं यस्य सः ।

हरिवंशे—

श्रीनारदः ॥

यं विदुर्वेदतत्त्वज्ञाः ब्रह्माद्याः सनकादयः ।

विचिन्वन्तः प्रदीपेन विज्ञानाख्येन केशव ॥

यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते योगिनो यतचेतसः ।

सोऽसि वेदपुराणस्थस्तुभ्यं देव नमो नमः ॥

तत्रैव दुर्वासाः—

ये च विज्ञानतृप्तास्तु योगिनो वीतकल्मषाः ।

पश्यन्ति हृत्सरोजे हि तदेवेदं वपुः प्रभोः—

इति, ध्यानफलं दर्शयन्नाह भक्तानुग्रहतत्पर इति भक्तेषु योऽनुग्रहः
स एव परो गुणो यस्य सः भक्तविषयकानुग्रहार्थं वद्धपरिकर इत्यर्थः

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ॥

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ॥

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वते—

त्यादिश्रीमुखोक्तेः ॥ ४ ॥

अथकर्मफलदातृत्वं व्यञ्जयन्नाह—

यज्ञादीनां च भोक्ता हि जिज्ञास्यो मोक्षकाङ्क्षिणाम् ॥

स्वतन्त्रसत्त्वसम्पन्नः कृपागम्यो बृहत्तमः ॥ ५ ॥

यज्ञानां कर्मणाम् आदिना तपसां ज्ञानैश्वर्यादीनां भोक्ता पाल-
कः फलदाता ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वर—

मिति भगवदुक्तेः फलमत उपपत्तेरितिन्यायाच्च अथातो ब्रह्मजि-
ज्ञासेत्युपक्रमसूत्रार्थं संगृह्यन्नाह जिज्ञास्यो मोक्षकाङ्क्षिणामिति अत्र
कर्त्तरि षष्ठी कर्तृकर्मणोः कृतीतिशास्त्रात् मुमुक्षुभिर्जिज्ञास्य इत्यर्थः
सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो
निदिध्यासितव्य इति श्रुतेः ज्ञानेच्छायाम् इष्यमाणज्ञानस्यैव प्राधान्या-
ज्ज्ञानमत्र विधेयं तच्चोक्तलक्षणब्रह्मस्वभावगुणादिविषयकध्यानमेव न
तु श्रवणजन्यज्ञानमात्रं निदिध्यासितव्य इति विषयवाक्यं ध्यानस्यैव
विधानात् तत्साक्षात्कारासाधारणहेतुत्वाच्च ततस्तु तं पश्यति नि-
ष्कलं ध्यायमान इति श्रुतेः ।

आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।

इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदे—

तिसूत्रकारनिर्णयाच्च जिज्ञास्यत्वे हेतुमाह स्वतन्त्रसत्त्वसम्पन्न
इति स्वतन्त्रसत्ताया असाधारणाश्रय इत्यर्थः सदेव सौम्येदमप्र

आसीदेकमेवाद्वितीयं आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत् सर्वस्य वशी सर्वस्येशान एतदक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः भीषास्मादग्निश्चन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः आत्मा हि परमः स्वतन्त्रोऽधिगुण इत्यादिश्रुतेः ।

तपाम्यहमहं वर्षे निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ॥

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय—

इत्यादिश्रीमुखोक्तेश्च एतेन परतन्त्रसत्तावच्छिन्नविषयकजिज्ञासा व्यावृत्ता अथ सूत्रपठितब्रह्मपदं व्याचष्टे बृहत्तम इति स्वरूपगुणशक्त्यादिभिर्वृहत्तमं वस्तु ब्रह्मशब्दाभिधेयं बृहिवृहिवृद्धावित्यस्माद्धातोरौणादिकगणपठितो मन्प्रत्यययोगः ततो ब्रह्मशब्दो व्युत्पन्नः योगवृत्त्या तस्य निरतिशयबृहत्त्वपरत्वे सिद्धे असङ्कोचेन देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्ये वस्तुनि पर्यवसानमित्यवगम्यते तथाभूतश्च भगवच्छब्दवाच्याभिन्नो भगवान् रमाकान्तः श्रीपुरुषोत्तमएव शुद्धे महाविभूत्याख्ये परब्रह्मणि वर्त्तते ॥

मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारण—

इति श्रीपराशरोक्तेः श्रौतव्युत्पत्तिमत्त्वाच्चायमेवमुख्यार्थः बृहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति श्रुतेः,

हरिवंशे शिवः ॥

बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च तस्माद्ब्रह्मेति शब्दित—

इति ।

वैष्णवे ध्रुवः ॥

बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च यद्गुरुं ब्रह्मसंज्ञितम् ।

इति ॥

एष प्रकृतिरव्यक्तः कर्त्ता चैव सनातनः ।

परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्माद्बृहत्तमोऽच्युत ॥

इति स्मृतेश्च ।

अथ तत्प्राप्त्युपायं वक्ष्यमाणमपि निर्दिशति कृपागम्य इति स्पष्टार्थः विशेषश्चोपरिष्ठाद्वक्ष्यते यमेवैष वृणुते तेन लभ्य इति एवकारश्च कृपाऽसहकृतजिज्ञासया दुर्लभत्वद्योतनार्थः ।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ॥

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतस—

इति श्रीभगवदुक्तेः

अकृतात्मान इति मयि न कृतधात्मा चित्तं यैस्ते मन्नियोगानर्ह-
त्वात्प्रसादाविषया इत्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ सिद्धान्तमाह द्वाभ्याम्—

भिन्नाभिन्नं जगद्यस्मात्तदात्मकतयाऽस्मिन्नम् ।

तद्व्याप्यं च तदाधेयं तत्तन्त्रं श्रुतिभिर्मतम् ॥ ६ ॥

ध्यायेत्तमेव नित्यं वै मुमुक्षुः परमार्थदृक् ।

विरक्तः क्षुल्लकामेभ्यो ब्रह्मभावोपलब्धये ॥ ७ ॥

एतदुक्तं भवति शास्त्रेषु तावद्विविधवाक्यानि तत्र नित्यो नि-
त्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ज्ञाज्ञौ द्वा-
घजावीशानीशौ भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा पृथगात्मानं प्रेरि-
तारं च मत्वा जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशं द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानामित्यादीनि श्रौतानि ।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ॥

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।

मोक्षधर्मे ब्रह्मा ॥

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः ॥

स हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मा पुरुषोत्तमः ।

न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षवन्धैः स युज्यते ।

स सप्तदशकेनाऽपि राशिना युज्यते हि यः ॥

एवं बहुविधः प्रोक्तः पुरुषस्तु यथाक्रमम् ।

इति ।

श्रीमनुश्च ॥

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।

यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥

जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।

येन चेतयते सर्वं सुखं दुःखं च कर्मसु ॥

इत्यादिस्मार्तिकानि,,

“ भेदव्यपदेशाच्चाऽन्यः ” उभयेऽपि भेदेनैनमधीयते ” “ अधिकंतुभेदनिर्देशादित्यादिसूत्राणिच ” भेदपराणि वाक्यानि । सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति नेह नानाऽस्ति किंचन को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत ” इत्यादिश्रौतानि ।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि ॥

वासुदेवः सर्वमिति ।

मत्तः सर्वमहं सर्वं मयि सर्वम् —

इत्यादिस्मार्तानि चाभेदपराणि, सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेत्यादीनि निषेधपराणि अथात आदेशो नेति नेतीत्यादीनि च स्थूलादिनिषेधकानि तथा च सर्वाण्यपीतरेतरविरुद्धविषयकानि दृश्यन्ते सर्वेषामपि श्रौतवाक्यत्वात् वाधायोगात् अन्यथाऽर्द्धनास्तिकतावश्यंभाविनीति तदविरोधप्रकारेणान्वेतुकामो भगवांच्छ्रीवादायणो भिन्नाभिन्नतत्त्वं निर्णीतवान् “अंशो नानाव्यपदेशा” दन्यथा दासकितवादित्वमधीयत एके “उभयव्यपदेशास्त्वहिकुण्डलव” दित्यादितद्वटकश्रुतिमूलं घटकसूत्रं निर्ममे एवं च न कस्याऽपि विरोधः सर्वेषां स्वार्थपरत्वेनान्वयात् तथाहि परतन्त्रसत्तावाच्छिन्नत्वाच्चेतनाचेतनरूपस्य विश्वस्य यदासीत्तदधीनमासीत् ।

जगद्वशेऽवर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम् ॥

इत्यादिशास्त्रात् तेनैव हेतुना स्वरूपेणैव भिन्नः तद्विषयकानि भेदवाक्यानि ब्रह्मात्मकत्वतद्याप्यत्वादिवक्ष्यमाणहेतुभ्यश्चापृथक् सिद्धत्वादभिन्नश्चेति तद्विषयकानि चाभेदवाक्यानि भेदनिषेधविषयकानि वाक्यानि च स्वतन्त्रसत्तावच्छिन्नपृथक्सिद्धं वस्त्वन्तरनिषेधपरत्वेन स्वार्थवन्त्येव अस्थूलादीनि च श्रीपुरुषोत्तमपरब्रह्मस्वरूपगुणशक्त्यादिविषयकेयत्तानिषेधेन तस्य सर्ववैलक्षण्यप्रतिपादनेनैव कृतार्थानीति सर्वमनवद्यमित्येतत् तात्पर्यं बुद्धौ निधायाह भिन्नाभिन्नमिति यस्मादखिलं जगद्भिन्नाभिन्नं मुमुक्षुस्तमेव नित्यं ध्यायेदिति उत्तरश्लोकगतेनाऽन्वयः यस्मादिति उक्तलक्षणवृहत्तमस्वरूपगुणकाद्ब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमात् अखिलं जगदिति सर्वमपि चेतनाचेतनरूप-

पं विद्वं भिन्नाभिन्नमिति भिन्ने सत्येवाऽभिन्नं भिन्नाभिन्नमिति विग्रहः
ननु भिन्नाभिन्नत्वयोरितरेतरात्यन्तविरुद्धत्वात् कथं सामानाधिक-
रण्यमित्याशङ्क्य तत्प्रकारं निरूपयितुं तत्रादौ श्रुतिमुखेन समाधत्ते
श्रुतिभिर्मतमिति एकः सन् बहुधा विचचार एको देवो बहुधा स-
न्निविष्टः त्वमेको ऽसि बहुधा बहून्प्रविष्ट इत्यादिश्रुतिभ्यः व्याख्या-
ताश्चैताः स्मृतिकर्तृभिस्तत्र भगवान्मनुराह ॥

एकत्वे सति नानात्वं नानात्वे सति चैकता ।

अचिन्त्यं ब्रह्मणो रूपं कस्तद्वेदितुमर्हति ॥

इति ।

श्रीमुखेन भगवनाऽपि ।

एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखमिति ॥

हरिवंशे घण्टाकर्णेनाऽपि ।

केचिद्बहुत्वेन वदन्ति देवमेकात्मना केचिदमुं पुरातनम् ॥

वेदान्तसंस्थापितसत्त्वयुक्तं द्रष्टुं तमीशं वयमुद्यताःस्म ।

इत्यादिभिः ।

तत्रहेतुमाह तदात्मकतयेति तद्ब्रह्म आत्मा यस्य तत्तदात्मकं
तस्य भावस्तत्ता तयेति ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् एष सर्वभूतान्तरात्मा
दिव्यो देव एको नारायणः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा पतिं
विश्वस्यात्मेश्वरमित्यादिश्रुतेः ॥

अहमात्मा गुडाकेश ।

वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ॥

अहं भवो भवन्तश्च सर्वे नारायणात्मका—

इत्यादिस्मृतेश्च ।

आत्मेतितूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति चेति सूत्राच्च ब्रह्मात्मकत्वादिति
वेदविन्मतमिति श्रीआद्याचार्यपादोक्तेश्च तत्रैव विशेषणमुखेन हे-
त्वन्तरानाह तद्व्याप्यमित्यादि तेन व्याप्यं तद्व्याप्यम् ॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवापितम् ।

यो देवो ऽग्नौ अप्सु विश्वं भुवनमाविवेश ॥

ओषधिषु वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ।

इतिश्रुतेः ॥

मया ततमिदं सर्वं जगद्व्यक्तमूर्तिना ।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ॥
इत्यादिस्मृतेश्च ।

चकारो विशेषणान्तरसमुच्चयार्थः तदाधेयमिति तस्य पर-
मात्मन आधेयं ब्रह्माधारकमित्यर्थः ।

तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे यस्मिन्निन्द्रो बरुणो मित्रो ऽर्यमा देवा
ओकांसि चक्रिरे ।

इतिश्रुतेः ।

विष्टभ्याऽहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

इतिस्मृतेश्च ।

किंच तत्तन्त्रमिति तस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य तन्त्रमायत्तमित्यर्थः
परमेश्वरायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकामितिभावः “सर्वस्य वशी सर्व-
स्येशानः सोचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेतेत्यादिश्रुतेः ।

वशी जनस्पृहायत्ते स्वायत्तत्वप्रभुत्वयो—

रितिनिघण्टूक्तेः ।

वशीशब्दस्य स्वातन्त्र्ये शक्तिः ।

मोक्षधर्मे ॥

यत्किंचिद्वर्त्तते लोके सर्वं तन्मद्विचेष्टितम् ।

अन्यो ह्यन्यच्चिन्तयति स्वच्छन्दं विदधाम्यहम् ॥

इति ।

जगतो ब्रह्मात्मीयतद्व्याप्यतदाधेयतत्तन्त्रत्वादिस्वरूपत्वात्तथा-
त्वेन भिन्नत्वेऽपि तैरेव हेतुभिस्तदपृथक्सिद्धत्वादाभिन्नत्वमपीति
भिन्नाभिन्नत्वं सिद्धं यो यदात्मकः स ततो भिन्ननिर्देशार्हः सुवर्ण-
कुण्डलादिवद्, यद्वस्तु यद्व्याप्यं तत्तेनाभिन्ननिर्देशार्हम् अग्निधूमवत्
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व—

इति सर्वगत्वादनन्तस्य ।

सपवाहमवस्थित—

इत्यादिस्मृतेः ।

यद्यस्याधेयं तत्ततोऽपृथङ्निर्देश्यं पृथ्वीपार्थिवादिवत् यद्य-
त्तन्त्रं तत्ततोऽपृथङ्निर्देश्यं प्राणेन्द्रियवत् नवै वाचो न चक्षूंषि न श्रो-
त्राणि न मनांसीत्याचक्षते प्राण इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि भव-
न्तीत्यादिना छान्दोग्याम्नायात् एतेनैव तत्त्वमस्यादीन्यपि वाक्या-

निव्याख्यातानि भवन्ति तथाहि तच्छब्द उक्त लक्षणब्रह्मपरः त्वंशब्द तदात्मीयभूतजीवात्मान्तरात्मभूतपरः ब्रह्मणः सर्वात्मत्वेन सर्वशब्द-
वाच्यत्वात् “नामानि सर्वाण्यमाविशन्ति सर्वं नामे”त्यादिश्रुतेः एवं
तयोर्मुख्ययैव वृत्त्या सामानाधिकरण्यं सत्त्वचित्वादिसामान्यगुणै-
र्गुणवृत्त्या ऽपि समञ्जसं बोध्यं किञ्च सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादीना-
मपि तथैव गतिर्बोध्येति सङ्क्षेपः ॥ ६ ॥

* इत्थमौपनिषत्सिद्धान्तं निरूप्या ऽस्याऽनुबन्धचतुष्टयं निरू-
पयन्नादावधिकारिणं निर्दिशति मुमुक्षुरिति मुमुक्षुर्वै शरणमहं
प्रपद्य इतिश्रुतेः तमेव विशिनष्टि परमार्थदृगिति परमार्थरूपा हे-
योपादेयपदार्थविषयिका दृष्टिर्विवेकलक्षणा यस्य सः क्षुल्लकामे-
भ्यो विरक्त इति क्षुल्ला आतिक्षुद्राः कामाः काम्यन्ते ग्राम्यै-
रिति कामा विषयाः आब्रह्मभुवनात् लोकास्तद्गतभोगाश्च श-
ब्दादिबाह्येन्द्रियाविषयाः तद्विषयकसङ्कल्पादयोऽन्तःकरणविषयाश्च
तत्साधनभूतानि कर्मेन्द्रियसाध्यानि कर्माणि कर्मेन्द्रियाणि चैते-
भ्यो विरक्तः किञ्च ब्रह्मभावोपलब्धये इति ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभावो
मोक्षः तस्योपलब्धये ब्रह्मप्राप्तय इति एतदुक्तं भवति निष्कामो
विरक्तो हेयोपादेयविवेकवान् हरिगुरुभक्तिसम्पन्नो भगवदिदृशाल-
म्पटो ऽत्राऽधिकारी यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र
पुण्यचितो लोकः क्षीयते परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वे-
दमायात् ।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

इत्यादिश्रुतेः ।

पूर्वोक्तलक्षणः श्रीपुरुषोत्तम अस्य विषयः तं त्वौपनिषदं
पुरुषं पृच्छामि सर्वं वेदा यत्पदमामनन्ति वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य
इति शास्त्रात् श्रीभगवद्भावापत्तिलक्षणो मोक्षः अस्य प्रयोजनं निर-
ञ्जनः परमं साम्यमुपैति तन्माहिमानमेति वीतशोक इति श्रुतेः ।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।

मम साधर्म्यमागताः ॥

इति श्रीमुखोक्तेश्च ।

वाच्यवाचकसम्बन्धः तच्च समन्वयादिति सूत्रात् ।

नमामि सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती ।

इत्यादिस्मृतेश्च ।

इत्यनुबन्धचतुष्टयमस्य बोध्यम् ॥ ७ ॥

इति श्रीअध्यात्मसुधातरङ्गिण्यां परमात्मतत्त्वनिर्णयोनाम-
तृतीयस्तरङ्गः ।



इत्थं पदार्थवाक्यार्थनिरूपणेन समन्वयाविरोधाध्याय्योरर्थः संप्रहेण निरूपित इदानीं साधनानि निरूप्यन्ते ।

उपायाः श्रेयसः प्रोक्ता अधिकार्यनुसारतः ।

विविधाः श्रुतिभिस्ते वै निर्णीयन्ते स्वरूपतः ॥ १ ॥

श्रेयसः उपायाः श्रुतिभिर्विविधाः प्रोक्ता इत्यन्वयः वैविध्ये हेतुमाह अधिकार्यनुसारत इति अधिकारिवैविध्यात् साधनवैविध्यमित्यर्थः किञ्च त एव मुमुक्षूणामुपकाराय स्वरूपतो निर्णीयन्ते संक्षेपेण ॥१॥

तान्येव निर्देशमुखेन सामान्यतो दर्शयति अर्द्धेन ।

कर्मज्ञानं च भक्तिश्च प्रपत्तिश्च हरेर्गुरोः

प्रपत्तिशब्द उभाभ्यां षष्ठ्यन्तपदाभ्यामन्वेतव्यः हरेः प्रपत्तिः गुरोः प्रपत्तिश्चेति यावत् अन्यत् स्पष्टम्

अथ तेषां विशेषमाह ।

तत्र कर्म त्रिधा बोध्यं नित्यं नैमित्तिकं तथा ॥ २ ॥

काम्यं च भक्तियोगो ऽपि द्विधा प्रोक्तो मनीषिभिः ॥

आद्य उपायरूपश्च फलरूपस्तथा परः ॥ ३ ॥

तत्र तेषु मध्ये कर्म त्रिधा बोध्यमिति तदेव विभज्य निर्दिशति नित्यं नैमित्तिकं काम्यं चेति तत्राहरहः संध्यामुपासीत यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोतीत्यादिना नित्यकर्त्तव्यतया विधीयमानं सन्ध्योपासनहोमजपस्नानतर्पणादिकं कर्म नित्यशब्दाभिधेयम् एवं यज्ञदानाध्ययनानि त्रैवर्णिकाद्विजातिसाधारणानि याजनाऽऽदानाभ्यापनानि द्विजाग्न्यसाधारणानि तेषां त्रयाणाम् निष्कामतया ऽनुष्ठाने नित्यत्वं सकामत्वेनानुष्ठाने च वृत्तित्वमिति विवेकः याजनादिनापि यावद्देहयात्रामात्रमेवादानं कार्यम् अधिकं तु प्रतिग्रह एवेति भावः अथेन्द्रियनिग्रहतीर्थसेवनोपवासफलाहारदेहशोषणान्नदानादीनि सर्वसाधारणानि कर्त्तृत्वाद्यभिमानशून्यैर्मुमुक्षुभिरनुष्ठितानां तेषां बुद्धिशुद्ध्यादिपरम्परया ज्ञानभक्तिजनकत्वेन मोक्षहेतुत्वं कामनयाऽनुष्ठाने च वक्ष्यमाणे काम्ये कर्मणि संनिवेश इति विशेषः अथ केनचित्कालादिविशेषनिमित्तेन विधीयमानं श्राद्धादिकं नैमित्तिकम् अथ स्वर्गकामो यजेत इत्यादिना सकाममधिकृत्य विधीयमानं कर्म

काम्यं तत्र काम्यानां निषिद्धवत्संसारहेतुत्वाविशेषान्मुमुक्षुभिर्हे-
यत्वमेव नित्यं नैमित्तिकं च स्वस्ववर्णाश्रमाधिकारानुसारेण श्रीभग-
वदाज्ञापालनरूपभजनत्वात्तयोरावश्यकतयाऽनुष्ठेयम् ।

मोक्षार्थी न प्रवर्तत तत्र काम्यनिषिद्धयोः ।

नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया ।

इति स्मरणात् ।

तत्र त्रैवर्णिकानां वैदिकम् एकजातीनां स्वानुरूपपौराणिकत-
र्पणादि अन्नदानादिकं चेतिविशेषः ।

तथैव गीयते श्रीमुखेन ।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।

कर्माणि प्राविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

इति ।

विपर्यये दोषस्मरणात् ।

तथा च वैष्णवे ।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थस्तथाश्रमी ॥

परिव्राट् च चतुर्थोऽत्र पञ्चमो नोपपद्यते ।

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् ॥

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोपकारणमिति ।

सनत्सुजातश्च ।

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा—

इति ।

विष्णुधर्मे च ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मं वर्णाश्रमविभागजम् ।

उल्लङ्घ्य ये प्रवर्तन्ते स्वेच्छया कूटयुक्तिभिः ॥

विकर्माभिरता मूढा युक्तिप्रागल्भ्यदुर्मदाः ।

पापण्डिनस्ते दुःशीला नरकार्हा नराधमाः ॥

इति ।

किञ्च ।

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे ते य उल्लङ्घ्य वर्तते
आज्ञाच्छेदी ममद्वेषी मद्भक्तोपि न वैष्णवः ।

इति ।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।

मोहान्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥

इति श्रीमुखोक्तेः ।

ननु,

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रजेति—

धर्मसामान्यत्यागस्यापि श्रीमुखेनैव गानात् कथं नित्यनैमित्तिकयोरावश्यकानुष्ठेयत्वमिति चेत् सत्यं त्यागशब्दस्य फलकर्तृत्वादित्यागपरत्वात् तथा च क्रियायां स्वतन्त्रः कर्तेति स्वातन्त्र्यत्यागान्मुख्य एव त्यागसिद्धिर्न स्वरूपत्यागस्तच्च श्रीमुखेनैव निर्णीतं तत्रैव—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्यभिप्रवृत्तो ऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।

इति ।

किञ्च कर्त्तव्यहातव्ययोरपि निर्णयः स्वयमेव प्रोक्तः स्वीयाभिमतत्वेन—

एतान्यपि तु कर्माणि, सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।

इत्यलं विस्तरेण ।

अथ भक्तियोगमाह भक्तियोगोऽपि द्विधा मनीषिभिः प्रोक्त इति श्रीभगवतोऽनन्यत्वेन तदेकपरत्वेन भजनं भक्तिः भक्तिरस्य भजनमिति श्रुतेः ।

भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः ।

तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिशब्देन भूयसी ॥

इति स्मृतेश्च ।

अथ तस्य विशेषदर्शनाय द्वैविध्यमेवाह ।

आद्य उपायरूपश्च फलरूपस्तथापरः ।

तयोर्द्विविधयोर्मध्ये उपायरूपः साधनरूप आद्यः प्रथमः अपरो द्विविधः साधारणासाधारणभेदात् तत्र साधारणाधिकारिकत्वात् साधारणः ।

सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र हरिभक्तौ यथा नृप ।

इति पाञ्चोक्तेः ।

तथाहि भक्तपराधीनं श्रीहरिं निश्चित्य तत्स्वरूपगुण-
कर्मादेर्निरन्तरं परिशीलनं कथनं श्रवणं प्रबन्धनं च तत्
स्वरूपगुणलीलादिविधायकशास्त्राभ्यासः सर्वमङ्गलाकरसञ्चिदान-
न्दयोगिध्येयध्यातृपुरुषार्थहेतुभूतस्य श्रीमाधवविग्रहस्य तद्वृत्तिनि-
रतिशयाद्भुतलावण्यमाधुर्य्यसौन्दर्यादीनां ध्यानं श्रीभगवन्मन्दिरा-
दिगमनं प्राणिपातपुरःसरं दर्शनस्तवनप्रदक्षिणादि तवास्मीतिसदै-
वानुसंधानं यात्रादौ गत्वा प्रेम्णा तद्गुणगाननृत्यादि तत्क्षेत्रायतना-
दिषु तज्जनेषु भागवतेषु च निरतिशया प्रीतिः श्रीगुरूपदिष्टविधानेन
श्रीपञ्चरात्रोक्तविधिना तदुपचारैः श्रीरमानिवासस्य सपरिकरस्य
संप्रदायानुसारेण समर्चनं श्रीपतिभुक्तोज्झितप्रसादभोजनं यथा हरौ
तथैव गुरौ भक्त्या श्रद्धार्जवविश्वासादिदाढ्येन सेवनं श्रीहरिगुरु-
पादतीर्थसेवननियमः सर्वकर्ममार्पणं चेतिसङ्क्षेपः असाधारणो
वैदिकः त्रैवर्णिकद्विजातिमात्राधिकारिकत्वात् स च सत्यविद्या शा-
ण्डिल्यविद्यादिभेदेनाऽनेकविधः प्रतीकोपासनरूपोऽङ्ग्रहोपासन-
रूपश्चेति शारीरकमीमांसायाः तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादे श्रीसूत्र-
कृता विस्तृतः निगदं भाषितश्च श्रीनिवासाचार्यपादैः अथ फलरूपो
नाम पूर्वोक्तकर्मयोगानुष्ठानप्रीणितश्रीपुरुषोत्तमप्रसादलब्धसत्संप्र-
दायनिष्ठाचार्योपदिष्टसच्छास्त्रश्रवणजन्यपूर्वोक्तवक्ष्यमाणज्ञानोत्तरभा-
विश्रीवासुदेवानन्ताचिन्त्यस्वरूपगुणशक्तिविषयकानवच्छिन्ननिदि-
ध्यासनाख्यः निरतिशयतत्प्रसादहेतुकसाक्षात्कारासाधारणकारणं
च “निदिध्यासितव्य” इति श्रुतेः स एव ध्रुवास्मृतिशब्दवाच्य-
त्वेन श्रीभगवता सनत्कुमारेणोक्तः ।

सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।

“स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष” इत्यादिश्रुत्या ॥

गीयते श्रीमुखेन ।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।

शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
 विविक्तसेवी लब्धाशी यतवाक्कायमानसः ।
 ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
 अहङ्कारं वलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
 विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
 ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
 समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
 इति ।

तस्यैव साक्षात्कारहेतुत्वं च “ततस्तु तं पश्यति निष्कलं
 ध्यायमानः” इति श्रुतेः ।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
 ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
 भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधो ऽर्जुन ।
 ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥
 इति भगवदुक्तेश्च ।
 स एव परेति प्रेमलक्षणेति कचिदुच्यते ॥
 यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणे—
 त्यादिश्रीआद्याचार्य्यपादोक्तेः ॥

तल्लक्षणं रूपादिविषयकस्वाभाविकचक्षुरादीन्द्रियवृत्तिवदनव-
 च्छिन्नस्वाभाविकभगवत्स्वरूपगुणविग्रहादिविषयकयावदात्मवृत्ति-
 मनोवृत्तित्वम् ।

तथा चाह प्रह्लादः ।
 या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
 त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयाग्नापसर्पत्विति ॥
 गीतं च श्रीमुखेनैव ।
 सततङ्कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
 कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
 इति ।

सर्वेन्द्रियवृत्तिभिः स्वाभाविकीभिः निरतिशयप्रेम्णा मां भजन्त
 इत्यर्थः प्रेम्णा विना तुष्टिरमणयोरसम्भवादिति भावः साधनेषु
 श्रेष्ठो ऽयमुपायः यस्य चोत्कर्षो ऽत्यादरेणोद्घुष्यते शास्त्रमुखेन

स्वभक्तिमतां भगवतः प्रेष्टतमत्वात् ।

यथा त्वं सहपुत्रैस्तु यथा रुद्रो गणैः सह ।

यथा श्रिया ऽभियुक्तो ऽहं तथा भक्तो मम प्रियः ॥

इति श्रीगोपालोत्तरतापनीश्रुतौ ब्रह्माणं प्रति भगवदुक्तेः ।

भक्तिरेवैनं वर्द्धयति भक्तिरेवैनं दर्शयति भक्तिवशः पुरुषो भक्ति-
रेव भूयसीत्याद्याः श्रुतयः ।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।

शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैः ।

पुरुषस्तु परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ॥

यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ॥

योगक्षेमं वहाम्यहम् ।

इति भगवद्वचनम् ।

नारायणीये नरनारायणौ ॥

नास्य भक्तात्प्रियतरो लोके कश्चन विद्यते ।

यतः स्वयं दर्शितवान् स्वयमात्मानमात्मना ॥

मोक्षधर्मे ।

सहोपनिषदान्वेदान्ये विप्राः सम्यगाश्रिताः ॥

पठन्ति विधिमास्थाय ये चान्ये यतिधर्मिणः ।

तेभ्यो विशिष्टां जानामि गतिमेकान्तिनां नृणाम् ॥

उत्तरवाल्मीकीये श्रीसनत्कुमारः ।

न हि यज्ञफलैस्तात न तपोभिश्च संचितैः ॥

शक्यते भगवान् द्रष्टुं न दानेन न चेज्यया ।

तद्भक्तैस्तद्गतप्राणैस्तच्चित्तैस्तत्परायणैः ॥

शक्यते भगवान् द्रष्टुं ज्ञाननिर्धूतकल्मषैः ।

इत्यादिस्मृतयः ॥ ३ ॥

अथ ज्ञानयोगे लक्षणप्रमाणाभ्यां दर्शयति द्वाभ्याम्—

येन ब्रह्मात्मकं सर्वं विद्वद्भिर्ज्ञायते जगत् ॥

अथ परेतिवाक्येन परविद्येति भण्यते ॥ ४ ॥

छान्दोग्ये भूमविद्यायां प्रोक्तं श्रीसनकादिभिः ॥
नारदायर्षिवर्याय यत्तज्ज्ञानमिहोच्यते ॥ ५ ॥

येन सर्वं जगद्ब्रह्मात्मकं विद्वद्भिर्ज्ञायते तज्ज्ञानमिहोच्यते इति द्वितीयश्लोकगतेन तच्छब्देनाऽन्वयः एतेन ज्ञानमुक्तं तत्र श्रुतिं प्रमाणयति अथपरेति स्पष्टार्थः “अथ परा यया ऽक्षरमधिगम्यते” इति उपलक्षणार्थमिदं “येनाऽक्षरं परमं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्या”मित्यादिश्रुतीनाम्, परब्रह्मश्रीपुरुषोत्तमवेदनासाधारणकारणवेदान्तविचारजन्यं परविद्याख्यं ज्ञानमिह शास्त्रे विवक्षितमित्यर्थः ॥ ४ ॥

उक्तार्थे संप्रदायं प्रमाणयन् संप्रदायस्य वैदिकत्वं दर्शयन्नाह श्रीसनकादिभिः श्रीनारदाय यत्प्रोक्तं तज्ज्ञानमिहोच्यते इति सम्बन्धः नारं नरसम्बन्धज्ज्ञानं द्यतीति नारद इति निर्वचनं हृदि निधाय विशिनष्टि ऋषिवर्यायेति श्रीभगवच्छास्त्राख्यपञ्चरात्रप्रवर्तकायेत्यर्थः ।

सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं श्रीनारदाया ऽखिलतत्त्वसाक्षिणे ।

इति श्रीआद्याचार्योक्तेः ।

व्याख्यातं च श्रीपुरुषोत्तमाचार्यपादैः सर्वतत्त्वविषयकप्रत्यक्षानुभवाश्रयभूताय सर्वज्ञायेति ।

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वित —

मिति वचनात् ।

सर्ववेदार्थरूपश्रीपञ्चरात्रप्रवर्तकायेति भाव इति ।

उक्तार्थे निरपेक्षं श्रौतप्रमाणं पठति छान्दोग्ये भूमविद्यायामिति यो भूमा तदेव सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति तस्मै मृदितकपायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमार इत्यादिना भूमासंप्रदायात् अध्युपदेशात् इति सूत्रकारोक्तेश्च स्वरूपगुणशक्त्यादिभिर्निरतिशयवृहद्ब्रह्मैव भूमशब्दाभिधेयमिति संक्षेपः विशेषार्थस्तु वेदान्तरत्नमञ्जूपायां द्रष्टव्यः ॥ ५ ॥

अथ प्रपत्तियोगमाह —

आत्मात्मीयभरन्यासो विधिना पुरुषोत्तमे ॥

सा प्रपत्तिरिति प्रोक्ता पङ्क्ता वै मनीषिभिः ॥ ६ ॥

श्रीपुरुषोत्तमे श्रीगीताचरमोपदेशे पञ्चरात्रादौ च तेनैव प्रोक्त-
विधिना आत्मात्मीयभरन्यास इति यः सा प्रपत्तिरिति मनीषिभिः
प्रोक्तेति सम्बन्धः सा षडङ्गा ज्ञेयेति शेषः “यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै-
शरणमहं प्रपद्ये” इति श्रुतेः ।

तावदार्तिस्तथा वाञ्छा तावन्मोहस्तथाऽसुखम् ।

यावन्न याति शरणं त्वामशेषाघनाशनम् ॥

अथ पातकभीतस्त्वं सर्वभावेन भारत ।

विमुक्तान्यसमारम्भान्नारायणपरो भव ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादादवाप्नोषि शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददास्येतद् व्रतं मम ॥

इत्यादिस्मृतिभ्यश्च ।

अङ्गानि च ।

अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम् ।

रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥

आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ।

इति ।

तत्र ब्रह्मादिस्थावरान्तप्राणिजातस्यान्तरात्मा भगवाञ्छ्री-
पुरुषोत्तम इति निश्चयेन सर्वेषामनुकूलाचाराध्यवसायः प्रथमोऽङ्गम् ।

चराचराणि भूतानि सर्वाणि भगवद्वपुः ॥

अतस्तदानुकूल्यं मे कर्त्तव्यमिति निश्चयः ॥

इति लक्षणवचनात् ॥ १ ॥

आनुकूल्याद्विपरीतस्य परहिंसामात्सर्यादेस्त्यागो द्वितीयः
विरोधिनिरूपणे वक्ष्यते ।

परापवादं पैशुन्यमनृतं यो न भाषते ।

परोद्वेगकरं वापि तोष्यते तेन केशवः ॥

परपत्नीपरद्रव्यपरहिंसासु यो मतिम् ।

न करोति पुमान् भूप तोष्यते तेन केशवः ॥
 न ताडयति नो हन्ति प्राणिनो ऽन्यांश्च देहिनः ।
 यो मनुष्यो मनुष्येन्द्र तोष्यते तेन केशवः ॥
 इति वैष्णवे और्वः सगरम् प्रति ।
 निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
 इति श्रीमुखोक्तेश्च ॥ २ ॥

वात्सल्यादिगुणाकरः सर्वाश्रयः सर्वशरण्यः प्रपन्नानस्मान्
 रक्षिष्यत्येवेति व्यवसायो विद्वासः ।

रक्षिष्यत्यनुकूलान्न इति या सुदृढा मतिः ।
 स विद्वासो भवेच्छक्र सर्वदुष्कृतनाशनः ॥
 इति लक्षणवचनात् ॥ ३ ॥

सर्वज्ञः सर्वरक्षासमर्थः कारुण्यवात्सल्यादिगुणसागरोऽपि श्री-
 पुरुषोत्तमः प्रार्थनाशून्यैरात्मपराङ्मुखैरप्रार्थितो न गोपायति अ-
 न्यथा सर्वमोक्षप्रसङ्गात् शास्त्रसेतुभङ्गापत्तेश्चेति निश्चित्य बुद्धेः स-
 दैव प्रार्थनाप्रावण्यं गोप्तृत्ववरणं चतुर्थमङ्गम् आत्मरक्षाविषयकत-
 द्रक्षितृत्वव्यवसायविशेष इति यावत् ।

अप्रार्थितो न गोपायेदिति या प्रार्थना मतिः ॥
 गोपायिता भवत्येवं गोप्तृत्ववरणं स्मृतम् ।
 इति ।

प्रार्थनास्वरूपं तु ॥
 श्रीकृष्ण रूक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर ॥
 संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो ।
 इत्यादिमन्त्रैः ॥
 कमलनयन वासुदेव विष्णो ।
 धरणिधरा ऽच्युत शङ्खचक्रपाणे ॥
 भव शरणमुदीरयन्ति ये वै ।
 त्यज भव दूरतरेण तानपापान् ॥
 इत्यादिभिः स्मृतिभिश्च बोध्यम् ॥ ४ ॥

प्रपन्नव्यस्य माधवस्य निरतिशयप्रसादहेतुः प्रपत्तिरेवेति निश्च-
 येन रक्ष्यमाणस्यात्मनो हंममत्वफलस्वाम्यादीनां भारस्य श्रीभगवति
 समर्पणमित्यात्मनिक्षेपः ।

आत्मात्मीयभरन्यासो ह्यात्मनिक्षेप उच्यते ।

इति लक्षणात् ।

मोक्षधर्मे उपरिचराख्याने च ॥

आत्मा राज्यं धनं मित्रं कलत्रं वाहनानि च ।

एतद्भगवते सर्वमिति तत्प्रोज्झितं सदेति ॥

अथ वाल्मीकीये श्रीभरतः ।

राज्यं चाऽहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसि ॥

इति ।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।

इति श्रीमुखगानात् ॥ ५ ॥

उपायानामसिद्ध्या तद्विपरीतानामपायानां च स्वतः प्राप्या
स्वकर्तृत्वाद्यभिनिवेशरूपगर्वस्य हानिः कार्पण्यम् ।

उपाया नैव सिद्ध्यन्तीत्यपाया विविधास्तथा ।

इति या गर्वहानिस्तदैन्यं कार्पण्यमुच्यते ॥

इति वचनात् ।

एतेषु पङ्क्तेषु आत्मनिक्षेपो ऽङ्गित्वान्मुख्यः अन्ये च तत्सहका-
रिणस्तदङ्गभूता गौणा इति विवेकः ॥ ६ ॥

अथ गुरुशरणागतिर्द्विविधा पराङ्गभूता स्वतन्त्रा चेति तत्र परा-
ङ्गभूतत्वं नाम साधनान्तरसहकारित्वे सति तदसाधारणहेतुत्वम् ।

तथा च मोक्षधर्मे ।

न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याऽधिगमः कृतः ॥

गुरुः पारयिता तस्य ज्ञानं प्लवमिहोच्यते ।

इत्यादिना ।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्म-
निष्ठमित्यादिश्रुतेश्च सा च पूर्वमेव निरूपिता द्वितीया च
उत्कलक्षणो मुमुक्षुः उत्कलक्षणं गुरुमुपाश्रित्य देववच्छ्रीगुरुशुश्रू-
षापरो भूत्वा तदनुकूलवृत्तितया आत्मनः सर्वोपायानर्हतां मत्वा
श्रीगुरुदेव एव मम सर्वसाधनभूतस्तत्फलरूपश्चेति दृढविश्वासेन
यथा बालः स्वहिताहितानभिज्ञो मातरमेवं सर्वभावेना ऽनुसरति
तन्माता च तं सर्वोपद्भ्यो रक्षति तस्य सर्वयोगक्षेमं च वहति त-

यैव स्वहिताहितविचारं सर्वं परित्यज्य श्रीगुरुगुश्रूपापरायणो मु-
मुक्षुर्यदा भवेत् तदैव तस्य सर्वात्मना रक्षणं योगक्षेमं साधनफलयोः
साधकं च करुणावरुणालयः श्रीगुरुः स्वयमेव करोतीति स्तनन्ध-
यशिशो रोगनिवृत्तये तन्मात्रौषधभक्षणादिवदित्याशयेनाह ।

तथैव सर्वभावेन गुरौ भारार्पणं बुधैः ।

गुरुप्रपत्तिर्विज्ञेया ह्यात्मात्मीयस्य साधुभिः ॥ ७ ॥

यथा हरावात्मात्मीयस्य भारार्पणं पूर्वोक्तं तथैव तेनैव प्रकारेण
बुधैर्विवेकिभिः साधुभिः सदाचारनिष्ठैः सर्वभावेन मानसवाचिकका-
यिकव्यापाराभेदेन आर्जवेनेतियावत् साधनं साध्यं च गुरुरेवेति
भावेन वा अथ वा सर्वसबन्धाश्रयत्वेन विषयत्वेन श्रीगुरौ आत्मा-
त्मीयस्य भारार्पणं गुरुप्रपत्तिर्विज्ञेयेति सम्बन्धः, अतिदेशोऽत्र
श्रुत्यर्थस्मारणार्थः ।

यथा देवे तथा गुराविति श्रुतिः—

पूर्वमेव पठिता, तस्या ऽनुष्ठानप्रकारश्च “आचार्यदेवो भव
गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः स हि विद्यां जनयति तच्छ्रेष्ठं
जन्म तस्मै न द्रुह्येत्कदाचन” इत्यादिश्रुतिभिः ।

गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परं धनम् ।

गुरुरेव परः कामो गुरुरेव परायणम् ॥

गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परा गतिः ।

अर्चनीयश्च वन्द्यश्च कीर्तनीयश्च सर्वदा ॥

ध्यायेज्जपेन्नमेद्भक्त्या भजेदभ्यर्थयेन्मुदा ।

उपायोपेयभावेन तमेव शरणं व्रजेत् ॥

शरीरं चा ऽसुविज्ञानं वासः कर्म गुणान् वसून् ।

गुर्वर्थं धारयेद्यस्तु स शिष्यो नेतरः स्मृतः ॥

इति जयदाख्यानसंहितावचनैश्च बोध्यः ।

अथ गुरोर्लक्षणं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमित्यादिश्रुतेः ॥

त्रिषु वर्णेषु संभूतो मामेव शरणं गतः ।

नित्यनैमित्तिकपरो मदीयाराधने रतः ॥

आत्मीयपरकीयेषु समो देशिक उच्यते ।

इति ।

आचार्यो वेदसंपन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः ॥
 मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदा मन्त्राश्रयः शुचिः ।
 गुरुभक्तिसमायुक्तः पुराणज्ञो विशेषतः ॥
 एवं लक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते ।
 इत्यादिस्मृतिभ्यश्च बोध्यं विपर्यये दोषस्मरणात् ॥
 भिन्ननावाश्रितः स्तब्धो यथा पारं न गच्छति ।
 ज्ञानहीनं गुरुं प्राप्य कुतो मोक्षमवाप्नुयात् ॥
 इत्यादिना—

अथ शिष्यलक्षणम् ।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताये-
 त्यादिश्रुतेः ।

आस्तिको धर्मशीलश्च शीलवान् वैष्णवः शुचिः ।
 गम्भीरश्चतुरो धीरः शिष्य इत्यभिधीयते ॥

इत्यादिस्मृतेः—

गुरुणा च शिष्यः परीक्षापूर्वकं शिक्षणीय इति मोक्षधर्मे
 श्रीव्यासः ।

नापरीक्षितचारित्र्ये विद्या देया कथञ्चन ।
 यथा हि कनकं शुद्धं तापच्छेदनघर्षणैः ॥
 परीक्ष्यते तथा शिष्यानीक्षेत्कुलगुणादिभिः ।
 इति ।

नाऽसंवत्सरवासिने ब्रूयादिति श्रुतेः ।
 शिष्येण युक्तलक्षणः श्रीगुरुर्हरिवदुपास्यः ॥
 यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
 तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

आचार्यदेवो भवेदित्यादिश्रुतिभ्यः, आचार्योपासनमिति भ-
 गवदुक्तेश्च, विपर्यये तु नारायणोपि याति गुरोः प्रच्युतस्य दुर्बुद्धेः
 कमलं जलादपेतं शोषयति रविर्न तोषयति ।

श्रीविष्णोः प्रतिमाकारे लोहबुद्धिं करोति वा ॥
 यो गुरौ मानुषं भावमुभौ नरकपातिनौ ॥
 एकाक्षरप्रदातारमाचार्यं यो ऽवमन्यते ।
 श्वानयोनिशतं प्राप्य चाण्डालेष्वभिजायते ॥

इत्यादिना निन्दादेर्दर्शनात्—

एवंव्रतस्य श्रीगुर्वेकदेवताकस्य कृत्यन्तरं नास्ति गुर्वनुवृत्त्यैव कृतार्थः ।

पापिष्ठः क्षत्रवन्धुश्च पुण्डरीकश्च पुण्यकृत् ।

आचार्य्यवत्तया मुक्तौ तस्मादाचार्य्यवान् भवेत् ।

इत्यादिवह्नि वाक्यान्यनुसन्धेयानीतिसङ्क्षेपः रहस्यत्वान्नात्र-
विधानं वक्तव्यम् ।

इति श्री अध्यात्मसुधातरङ्गिण्यां साधनतरङ्गश्चतुर्थः ॥ ४ ॥



अथोक्तसाधनानां सहकारिणो निरूप्यन्ते—

उक्तोपायकदम्बस्य भण्यन्ते सहकारिणः ।

श्रद्धाऽऽर्जवं च विश्वासः सतां सङ्गो विरागता ॥ १ ॥

स्पष्टार्थः निर्देशमात्रत्वात् ॥ १ ॥

उद्दिष्टान्पदार्थान् लक्षणप्रमाणाभ्यां निरूपयति—

अस्तिक्यं गुरुशास्त्रोक्तौ श्रद्धा प्रोक्ता महात्मभिः ।

मनोवाक्कायवृत्तीनामैक्यमार्जवमुच्यते ॥ २ ॥

गुरुशास्त्रयोर्या उक्तिरुपदेशस्तस्यामास्तिक्यं यथोक्तम् एवमेवे-
ति निश्चयः श्रद्धा महात्मभिः प्रोक्तेतिसम्बन्धः ।

एवमेव यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।

इतिपार्थवचनात्—

तथा ऽऽम्नायते सर्वकृत्यस्य श्रद्धापूर्वकत्वं श्रद्धया देयं नाश्र-
द्धया देयं “श्रद्धयाऽग्निः समिध्यत” इत्यादि ।

इमं स्तवमधीयानः श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ।

इतिस्मृतेश्च—

व्यतिरेकदोषश्च हरिवंशे श्रीवामनः ॥

अश्रोत्रियं श्राद्धमधीतमव्रतमदक्षिणं यज्ञमनृत्विजा हुतम् ।

अश्रद्धया दत्तमसंस्कृतं हविर्भागा षडेते तव दैत्यसत्तमेति ॥

गीतं च ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

इति ।

श्रद्धापूर्तं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ।

इत्यादि च ।

आर्जवलक्षणमाह मनोवाक्कायवृत्तीनामैक्यमार्जवमिति यदेव
वाचा कथनं तदेव मनसा सङ्कल्पनं कायेन करणं चार्जवं न त्वितरे-
तरविरोधः वाचाऽन्यथा कथनं मनसा ऽन्यथा सङ्कल्पनं शरीरेणा-
न्यथा चरणं चेत्यर्थः, अहिंसा क्षान्तिरार्जवमिति भगवदुक्तेः ॥ २ ॥

अथ विश्वासं लक्षणमुखेनाह द्वाभ्याम् ।

करिष्यत्येव मां कृष्ण आत्मसान्नात्र संशयः ।

मामेवैष्यसि सत्यं त इति गीतं स्ववक्त्रतः ॥ ३ ॥

सत्यप्रतिज्ञता तस्योद्घुष्यते भारतादिना ।

इति यो निश्चयो बुद्ध्या तं विश्वासं विदुर्बुधाः ॥ ४ ॥

कृष्णो मामात्मसात्करिष्यत्येवेति बुद्ध्या यो निश्चयस्तं बुधा विश्वासं विदुरिति योजना अत्यन्तायोगव्यवच्छेदार्थोऽयमेवकारः रामो भवत्येवेति वत् तस्यैव विवरणं नात्र संशय इति अत्राऽस्मिन्नात्मसात्करणे संशयो नास्ति असंशयत्वे हेतुमाह मामेवैष्यसीति त्वं मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि ते तवाग्रे सत्यं प्रतिजाने प्रतिज्ञां करोमि यतस्त्वं मे मम प्रियोऽसि प्रियस्याग्रे अन्यथा भाषणं न भवति इतरथा प्रियत्वहानेः प्रतारणप्रसङ्गाच्चेति स्ववक्त्रत इति श्रीमुखेनैव गीतमिति हेतुगर्भितमिदं गीतत्वात्प्रतिज्ञातत्वादित्यर्थः ॥ ३ ॥

ननु स्वतन्त्रत्वात्तस्य प्रतिज्ञायाऽपि यदि न कुर्यात्तर्हि किं कार्यमित्याशङ्क्याह सत्यप्रतिज्ञता तस्येति तस्य भगवतः सत्यप्रतिज्ञता भारतादिना उद्घुष्यते डिण्डिमायत इति यावत् ।

तथा चाह वनपर्वणि स्वयमेव ।

पतेद्द्यौर्हिमवाञ्छीर्येत् पृथिवी शकलीभवेत् ।

शुष्येत्तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत् ॥

इति ।

आदिना घाल्मीकीयेऽपि ।

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ॥

न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ।

तदवश्यं मया कार्यमृषीणां परिपालनम् ॥

अनुक्तेनापि वैदेहि प्रतिज्ञायाऽथ किं पुनः ।

इति ।

व्यतिरेके दोषगानात्

संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोको ऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

इति ॥ ४ ॥

अथ सतां लक्षणकथनपूर्वकं तत्सङ्गमाह—

ज्ञानवैराग्यभक्त्यादिभूषणानां महात्मनाम् ।

सत्संप्रदायनिष्ठानां हंसमार्गानुगामिनाम् ॥ ५ ॥

रागद्वेषादिभिर्दोषैः पुत्रवित्तैषणादिभिः ।

अस्पृष्टचित्तवृत्तीनां नितरां कृष्णचेतसाम् ॥ ६ ॥

त्रिवर्गवासना दोषदूरीभूतधियां सताम् ।

प्रणिपातादिभिः सङ्गो नित्यं कार्यो मुमुक्षुभिः ॥ ७ ॥

सतां सङ्गो मुमुक्षुभिर्नित्यं कार्यं इत्यन्वयः तत्प्रकारमाह प्रणिपातादिभिरिति प्रणिपातः दैहिकप्रणामः आदिना परिप्रश्नसेवादिग्रहणं श्रद्धार्जवविश्वासपुरःसरं मनोवाक्कायव्यापारैः इत्यर्थः भगवन् त्वच्चरणं मम शरणमित्युक्त्वा दीर्घं प्रणामः परिप्रश्नो नाम भगवन् कोहं मम संसारदुःखं कथं निवर्त्ततेत्यादिप्रश्नपूर्वकं प्रार्थना सेवा च पादसंवाहनादिकायिकव्यापारः ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

इति श्रीमुखोक्तेः—

नित्यशब्दो ऽत्रावश्यकताद्योतनार्थः नित्यकर्मत्वेनेत्यर्थः सतां लक्षणमाह तद्विशेषणवर्णनमुखेन ज्ञानेत्यादिना ज्ञानं पूर्वोक्तलक्षणं वैराग्यं च वक्ष्यमाणं भक्तिरपि पूर्वोक्तरूपा ता आदिर्येषां ते ज्ञानादयस्ते एव भूषणभूतां येषां न तु तैजसभूषणवस्त्रालङ्कारादयस्तेषाम् अत एव महात्मनां महानात्मा बुद्धिर्येषाम् उदारबुद्धीनामित्यर्थः सत्संप्रदायनिष्ठानामिति सत्संप्रदाये निष्ठा येषां तेषां तत्रापि विशेषमाह हंसमार्गानुवर्तिनामिति हंसस्य श्रीभगवद्वतारस्य हंसानां शुद्धानां सनत्कुमारनारदादीनां वा मार्गो हि पद्धतिस्तस्यानुगामिनस्तदाचारानुवर्तिनस्तेषाम् ॥ ५ ॥

किञ्च रागादिभिः पुत्रवित्तैषणादिभिश्च न स्पृष्टा बुद्धिवृत्तयो येषां तेषाम् ।

रागद्वेषवियुक्तानां यतीनां यत्चेतसाम् ।

अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम् ॥

इति श्रीभगवदुक्तेः—

किं प्रजया करिष्यामः येनाऽहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम्
इत्यादिश्रुतेः तत्र हेतुः कृष्णचेतसामिति नेतरां कृष्णे एव चेतांसि
येषां तेषाम् ।

सततं कीर्त्तयन्तो माम् ।

तेषां नित्याभियुक्तानाम् ।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।

इतिगानात् ॥ ६ ॥

किञ्च त्रिवर्गवासनादोषाद्दूरीभूतधियामिति त्रिवर्गा अर्थधर्म-
कामास्तेषां वासना एव दोषस्तस्माद्दूरीभूता धीर्येषां तेषाम् ।

धर्मार्थकामैः किं तस्य मुक्तिस्तस्य करे स्थिता ।

समस्तजगतां मूले यस्य भक्तिः स्थिरा त्वयि ॥

इत्यादिवाक्यान्यत्र अनुसन्धेयानि

तथा चोक्तं श्रीपुरुषोत्तमाचार्य्यपादैः भगवद्विद्वक्षातृणीकृतसर्व-
पुरुषार्थकत्वे सति भगवदाज्ञाविरुद्धाचारशून्यत्वं तन्नियोगाचा-
रपरत्वे सति तद्भिन्नपुरुषार्थान्तरेच्छाकालुष्याभाववत्त्वं वा ।

तथाचोक्तं ह्यशीर्षीये नारायणव्यूहस्तवे ।

न धर्मं काममर्थं वा मोक्षं वा वरदेश्वर ।

प्रार्थये तव पादाब्जे दास्यमेवाऽभिकामये ॥

पुनस्तत्रैव ।

पुनः पुनर्वरान् दित्सुर्विष्णुर्मुक्तिं न याचितः ।

भक्तिरेव वृता येन प्रह्लादं तं नमाम्यहम् ॥

एतेन प्रणामादिविषया अपि तथाभूता एवेति द्योतयति ।

तथाच वैष्णवे प्रह्लादः ।

कृतकृत्यो ऽस्मि भगवन् वरेणा ऽनेन यत्त्वयि ।

भवित्री त्वत्प्रसादेन भक्तिरव्यभिचारिणी ॥

इति ।

एवम्भूतानां दर्शनादेव सर्वपुरुषार्थसिद्धिः किं पुनः भूयसा सङ्गेना

यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वे प्रतिष्ठिता ।

तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ॥

दुर्लभा भगवद्योगभाविनो भुवि मानवाः ।

तद्दर्शनात्तदालापात् सुलभं शाश्वतं पदम् ॥

इत्यादिशास्त्रात् ॥ ७ ॥

दर्शनमात्रेण पापहारिसर्वपुरुषार्थदातृत्वे च हेतुमाह—

नित्यं संनिहितस्तत्र भगवान् भक्तवत्सलः ।

गौर्वत्समिव तेषां वै सान्निध्यं न जहाति हि ॥ ८ ॥

हि यस्माद्भगवान् तत्र तेषु नित्यं संनिहितः क्षणादिपरिमाण
कालावच्छेदशून्यतया तद्विरहमसहिष्णुस्तत्राऽऽस्ते तत्प्रेमरशनया
निवद्धचरणत्वात् सन्धि च यागं सन्धत्ते ब्रह्मणे ईशो रमते तस्मि-
न्नु जीर्णे शयाने नैनं जहात्यहस्सु पूर्वेष्वितितौत्तिरीयाम्नायात् ।

प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।

न त्यजेयं कथं चन ।

नारायणेति यस्यास्ये वर्तते नाम मङ्गलम् ।

नारायणस्तमन्वास्ते वत्सं गौरिव वत्सला ॥

इत्यादिस्मृतेष्व ।

एतच्छास्त्रार्थं हृदि निधायोक्तं गौरिवेत्यादि स्पष्टार्थः डिण्डि-
मायते च सत्सङ्गमाहात्म्यं शास्त्रमुखैः ।

सम्भाषो दर्शनं स्पर्शः कीर्तनं स्मरणं तथा ।

पावनानि किलैतानि साधूनामिति शुश्रुमः ॥

सेव्याः श्रेयोर्थीभिः सन्तः पुण्यतीर्थफलोपमाः ।

क्षणोपासनयोगोऽपि न तेषां निष्फलो भवेत् ॥

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः ।

कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधुसमागमः ॥

इत्यादिभिः ।

उक्तलक्षणसाधवो भगवतोऽप्याधिक्येन सेवनीया इति स्वयमे-
वोक्तं भगवता ।

मम मद्भक्तभक्तेषु प्रीतिरभ्यधिका भवेत् ।

तस्मान्मद्भक्तभक्ताश्च पूजनीया विशेषतः ॥

इति ।

तस्माद्विष्णुप्रसादाय वैष्णवान् परितोषयेत् ।

प्रसादसुमुखो विष्णुः स्वेनैव स्यान्न संशयः ॥

सिद्धिर्भवति वा नेति संशयोऽच्युतसेविनाम् ।

न संशयस्तु तद्भक्तपरिचर्यारतात्मनाम् ॥
 केवलं भगवत्पादसेवया विमलं मनः ।
 न जायते तथा नित्यं तद्भक्तचरणार्चवनात् ॥
 इत्यादिस्मृतिभ्यः ॥ ८ ॥

अथ वैराग्यं निरूपयति—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमित्युक्तं हरिणा स्वयम् ।

भूयो ऽभ्यसेत्तदेवा ऽसौ भीतः संसारचक्रतः ॥ ९ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।

इति त्रयोदशाध्याये हरिणा श्रीभगवता पुरुषोत्तमेन स्वयमेवोक्तं तदेवा ऽसौ मुमुक्षुः भूयो ऽभ्यसेदित्यन्वयः इन्द्रियाणामर्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्तेषु वैराग्यं तद्विषयकरागशून्यत्वं तत्रात्मस्तुतिलक्षणेपु पङ्जादिषु गीतेषु च शब्देषु सर्वेषां स्वभावतो रागो निन्दात्मकेषु च तेषु स्वभावत एव द्वेषः तथैव क्षौमवस्त्रादिस्पर्शेषु च स्वभावतो रागः कम्बलादिवस्त्रस्पर्शेषु चाण्डालादिकुक्कुरादिस्पर्शेषु शस्त्रादिस्पर्शेषु च नैसर्गिको द्वेषः सौन्दर्यलावण्यादिमद्रूपेषु रागो व्याघ्रपिशाचादिरूपे च द्वेषः मधुरादिरसे रागः कट्वादिरसे द्वेषः पद्मकुसुमादिगन्धे रागः पुरीषादिगन्धे च द्वेष इति सर्वेषां देवतिर्यङ्मनुष्यादीनां क्षेत्रज्ञानां स्वाभाविकी बुद्धिः तत्र मुमुक्षुभिर्विचारणीयम् उभयविधानामपि शब्दादिविषयाणां प्राकृतत्वेन संसरणहेतुत्वसाम्यात् केन वा हेतुना तत्राऽभिनिवेशः कार्य्यः सज्जनैः स्तूयमाने सति विवेचनीयः एषा स्तुतिरात्मविषयिका देहजातिगुणादिविषयिका वा नाद्यः आत्मनः सदैकरसत्वेन स्तवनादिभिरस्पृष्टत्वात् नापि द्वितीयः देहादीनां प्राकृतत्वेन तद्विषयत्वासम्भवात् प्रत्युत तद्विपरीतदर्शनात् नश्वराद्य किन्तु साधूनां स्वभाव एव तद्धेतुर्विषयश्चेति तस्माद्विवेकिनां देहादावात्माभिमानिनां वृथैव तत्रोल्लासः निन्दाश्रूयमाणेपि शब्दे तथैव आत्मनस्तद्विषयत्वाभावात् देहादीनां च संसारहेतुत्वेन निन्द्यत्वादिति किन्तु खलानां प्रकृतिरेव तद्धेतुर्विषयश्च स्वप्रारब्धकर्मणश्च तत्र निमित्तत्वं तस्मात्तत्राभिनिवेशो मौढ्यादेवेतिविवेकः तथैव स्पर्शादीनामपि विवेको बोध्यः ।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्याऽर्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।

इति भगवदुक्तेः ।

देहादिनिर्वाहस्तु भगवत्प्रेरितप्रारब्धवशान्नवत्येव, रोगि-
णामौषधभक्षणादिवत् मुमुक्षूणामन्नपानादिकं सेव्यं न तु रागादि-
भावनया ।

तथोक्तं स्मृतौ ।

शरीरं व्रणवत्पश्येदन्नं च व्रणलेपवत् ।

व्रणशोधनवत्पानं वस्त्रं च व्रणपट्टवत् ॥

इति ।

अस्याऽर्थः ।

शरीरं व्रणवत्पश्येदिति ब्रह्मात्मकस्य सच्चिदानन्दात्मनो मम
केनाप्यनादिभगवत्पराङ्मुखतानिमित्तकानादिकर्मात्मिकाविद्याप्रयु-
क्तप्रकृतिसम्बन्धहेतुना शरीरलक्षणो व्रणरूपो रोगो जातः अने-
कच्छिद्रवत्त्वाच्छतच्छिद्रवत्त्वाच्छतच्छिद्रप्राणहारिव्रणोपमा ज्ञेया
व्रणादिसर्वरोगभूमित्वाद्वा तथात्वं स च स्वकर्मनिर्मितत्वादवश्यं
भोक्तव्यः ।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।

नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥

इतिशास्त्रात् ।

तस्यौषधमाह अन्नं च व्रणलेपवदिति यथा कस्यचिद् व्रण-
स्य मिष्टमेव लेपनं कस्यचित् क्षारमेव कस्यचित् कट्वम्लादि
वा लेपनं चिकित्साशास्त्रोक्तं तत्तत्त्वविद्भिस्तत्तद्रोगानुसारेण
भिन्नं भिन्नं निर्मायते न हि केषाञ्चिदप्यावालपण्डितानां मध्ये
मदीयव्रणस्य मिष्टलेपनत्वादहोभाग्यमिति रागो भूयांस्तत्प्राप्तौ वा
जायते तथा भक्ष्यभोज्यलेहचोष्यादिकं माधुर्यस्नेहादिवहुरस्य-
मपि देहधारणहेतुमात्रत्वात् व्रणलेपवत्पश्येदिति सर्वत्र योजना
यथा प्रारब्धं प्रारब्धप्राप्तत्वान्नरागादिविषय इत्यर्थः तथैव तद्विप-
र्यये न कोपि दोषविषय इति विवेचनीय इतिभावः किञ्च व्रणशो-
धनवत्पानमिति यथा कस्यचिद् व्रणस्य शोधनार्थं शीतलतमं गन्धा-
दिमञ्च जलं कस्यचिदौष्ण्यक्षारादिमत् कस्यचिन्निम्बकाथादिकटुत-

रमेव न कोपि रागादिहेतुत्वेन पश्यति न तत्र माधुर्यादिगुणभाव-
नया च सज्जते मुमुक्षुरपि तथैव रागादिकं न कुर्यादितिभावः
आच्छादनमाह वस्त्रं च व्रणपट्टवदिति मृदुस्पर्शकं वा कठोरस्पर्-
शकं वा वस्त्रं यथा प्रारब्धगतं देहादिनिर्वाहाया ऽलमेव आच्छाद-
नकारणत्वाविशेषात् व्रणपट्टदृष्टान्तः तथाभूतस्य न रागादिहेतुत्व-
मित्यर्थः एवमात्मौपम्येनैव सर्वेषामपि ब्रह्मादिस्थावरान्तानां शरी-
रतद्भोग्यपानवस्त्रैश्वर्यादि पश्यतो मुमुक्षोः स्वत एव स्वपरशरी-
रभोग्यभोगोपकरणतत्स्थानेषु शब्दादिविषयेषु च रागादिनिवृत्तिः
स्यादेवेतिभावः किञ्च सर्वेषामपि स्वरूपकरणकर्मादीनां परायत्त-
साम्यविचारादपि रागादिकं निवर्त्तते ।

तथोक्तम् ।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति यो ऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

इति ।

यथा मम स्वरूपस्थितिप्रवृत्तिः परमेश्वरायत्ता सुखदुःखा-
दि चापि ईश्वरायत्तप्रारब्धलभ्यं तथा ऽन्येषामपि लोकदृष्ट्या मम
सुखदुःखादिहेतुत्वेपि वस्तुतस्तु तेषामपि पारतन्त्र्यसाम्यान्न हेतुत्वं
सम्भवति तथात्वे च रागादिविषयाऽऽश्रयाद्यसिद्धिः किमर्थं तत्रा-
ऽभिनिवेशः कार्य्य इतिभावः किञ्च व्रणे क्षतादिजातेषु सत्सु तद्वन्तो
रोगिणो हृष्यन्ति रोगावसानानुमानात् तथा शरीरे रुग्णे आसन्न-
मरणे ऽपि मनीषिणो मुमुक्षवो हृष्यन्ति भवरोगावसानानुमानात् ।

प्रायशः पापकारित्वात् मृत्योरुद्विजते जनः ।

कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथिम् ॥

इतिवचनादलं विस्तरेण ।

नन्वेवम्भूतं परं वैराग्यं कथमुत्पद्येत तस्य दुष्करत्वात् वि-
षयासक्तेः प्रावल्याच्चेति चेन्न विषये दोषदर्शनादिना ह्युत्पद्यते
एवेतिब्रूमः ।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।

इतिश्रेयउपायतयोक्तं श्रीमुखेन ॥

न च तेषु दोषदृष्टिरेव कथं जायेत रागविषयत्वादितिवाच्यं
तज्जन्यदुःखभोक्तव्यताविचारेण दोषदृष्टिः संपत्स्यते ।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

इति श्रीमुखोक्तेः ।

एतदुक्तं भवति दुःखं तावद्विविधं तापात्मकम् अवस्थोद्भवं चेति तत्राऽद्यं त्रिविधम् आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकभेदात् तत्राद्यं द्विविधं शारीरकमानसभेदात् तत्र शिरःपीडाज्वरातीसारादिकं शारीरं कामक्रोधद्वेषलोभमोहशोकासूयावमानेः प्यादिजं मानसं शीतोष्णवातवर्षाजलविद्युदादिसमुद्भवं द्वितीयं मृगपक्षिमनुष्यराक्षससर्पादिजातं तृतीयमिति विवेकः अथ गर्भाद्यवस्थोद्भवं द्वितीयं तच्चानेकविधं प्रथमं पितृमूत्रद्वारा निःसृत्य मातृयोनिप्रवेशः ततो गर्भे ऽनुदिनं कललबुद्बुदपिण्डकाठिन्याद्यवस्थापत्तिः ततः क्रमेणाऽवयवेन्द्रियादियोगस्ततश्चेतनीभावस्ततः स्वकर्मानुरूपस्त्रीपुरुषपण्डभावापत्तिरर्वाक्शिरा ऊर्ध्वापञ्जरायुवेष्टितश्च भूत्वा मलमूत्रागारे कृमिभिः तत्रत्यैः सह वासः प्रसवसमये योनिद्वारं प्राप्य यन्त्रेण पीड्यमान इव मूर्छितः पूतिव्रणात्कृमेरिव महता दुःखेन मह्यां यातः ततश्च कौमार्यादिजरापर्यन्तावस्थोद्भवं दुःखसङ्घातमनुभूय मरणं तत्र धर्मात्मा चेत्स्वर्गं गत्वा स्वपुण्याज्जितविषयसुखं पापाज्जितं मात्सर्यादिजन्यदुःखं चानुभूय धूममार्गेण पुनरावृत्त्य ब्रह्मादिभावापन्नः सन् पेषणकण्डनपाचनभक्षणाद्यवस्थोद्भवं क्लेशमनुभूय भूयो रेतोभावापत्तिः पूर्वोक्तप्रकारेण योनिप्रवेशगर्भवासादिदुःखानुभव एतदेव संसारचक्रभ्रमणं शास्त्रेणोच्यते “मृत्युं पुनर्मृत्युमापद्यत” इति श्रुतिभिः दुष्कर्मणश्च नरकादिप्राप्तिः यमदण्डादिभोगः श्वशूकरसर्पादिदेहप्रवेशस्ततस्तद्देहजन्यदुःखाद्यनुभूतिश्च श्रुत्यन्तकल्पवल्यां विस्तरणः प्रोक्तं तत्र किञ्चिज्जन्मादि जन्मदुःखमनुमानगम्यं तथा हि मया जन्मशैशवादिदुःखमवश्यमनुभूतं कर्मपरतन्त्रत्वात् मम पुत्रादिवत् मम जरामरणादिदुःखमवश्यम्भावि कर्माधीनत्वात् अस्मत्पितृपितामहादिवदित्यादिप्रयोगात् पौगण्डावस्थानुभूतं वयस्यैः सह क्रीडनादि यौवनोद्भवं परस्त्रीसम्बन्धादि तज्जन्यरोगं तत्कृततिरस्कारादितत्सम्बन्धिभ्यो राजादिभ्यश्च दण्डादिप्राप्तिः प्रत्यक्षानुभवस्मरणसिद्धमेव यमयातनादिकं च शास्त्रतो गम्यमिति विवेक इत्याशयेनाह भीतः संसार-

चक्रत इति पञ्चम्यर्थे तस्प्रत्ययः चक्रादित्यर्थः ॥ ९ ॥

अथाऽत्र प्रधानतममाह—

सर्वे ऽपि किङ्करा यस्य ह्युपायाः कथिताः पुरा ।

तं कृष्णानुग्रहं नित्यं तत्परः प्रार्थयेत् सदा ॥ १० ॥

पुरा कथिताः सर्वे ऽप्युपायाः कर्मज्ञानादयो यस्य किङ्कराः किं-
करवत्तदुपजीविनः तद्व्यतिरेकेणाऽकिञ्चित्करत्वात् “त्ते शृण्वन्तोऽपि
बहवो यं न विभुः नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना
श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वा-
मि”त्याद्यन्वयव्यतिरेकार्थाभ्यः श्रुतिभ्यः तं कृष्णानुग्रहं श्रीकृष्णस्य
प्रसादं सदेति कालादिपरिच्छेदव्यावृत्त्यर्थः तत्परः प्रार्थयेदिति
तत्परः स एवाऽनुग्रहः परं प्रधानं यस्य सः ।

तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ।

इत्यादिश्रुतेः ।

तस्मिन्प्रसन्ने किमिहाऽस्त्यलभ्यम् ।

प्रसन्ने क्लेशसङ्ख्यः ।

इति स्मृतेश्च ।

यद्वा तत्पर इति स श्रीकृष्ण एव परः प्रधानं यस्य सः ।

मन्मना भव मङ्गको मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

इति श्रीमुखाक्तेः ।

प्रीतिविषयस्यैवानुग्रहविषयत्वात् तत्परत्वेन तत्प्रार्थन-
मेवानुग्रहे प्रधानसाधनमिति अन्येषां पूर्वोक्तानां तत्साधनत्वे-
ऽपि दौष्कर्याद्गौणत्वमिति राद्धान्तः ननु श्रीभगवदनुग्रहः
परिच्छिन्नो विभुर्वा नाद्यः अकिञ्चित्करत्वात् अथ कालाद्यधीनत्वाच्च
नाऽपि द्वितीयः सर्वत्र व्याप्त्या सर्वमोक्षप्रसङ्गात् मोक्षसाधनतत्
प्रतिपादकशास्त्रयोर्वैयर्थ्यापत्तेश्चेति चेन्न व्यापकस्यापि तस्य श्रव-
णादिसम्पन्ने आचार्य्यभक्तिसम्पृक्तमनसि पुरुषे एवाविर्भावो नान्यत्र
यथा न्यायमते व्यापकस्यापि गोत्वादिसामान्यस्य सास्नादिमह्य-
क्तावेव सम्बन्धो नान्यत्र यथा वा सिद्धान्ते ब्रह्मस्वरूपस्य व्याप-
कस्यापि क्वचिदेव तदधिकारिविशेषे आसन्नमोक्षके साक्षात्कारो

नान्यत्र तद्वत् प्रकृतेऽपि बोध्यं तथा च नोक्तदोषावकाशः नन्वेवं
तर्हि साधनसापेक्षत्वं दुर्वारं तथात्वे चाप्राधान्ययोगेनोक्तसिद्धा-
न्तभङ्गात् अन्योन्याश्रयापत्तेश्च निरपेक्षत्वे च नैर्घृण्यादिदोषप्रसक्ते-
श्चेति चेन्न भगवतो निरङ्कुशैश्वर्ययोगात् तदनुग्रहस्य नैरपेक्ष्ये
स्वरूपसाधनशास्त्रबाधानिवृत्तये वैषम्यादिदोषनिवृत्तये साधनान्त-
रस्यापि तत्र व्याजमात्रत्वाभ्युपगमात् व्याजमात्रस्य वस्तुनः स्वा-
तन्त्र्यहानिकारित्वायोगात् सर्वं समञ्जसमिति अन्यथा यमेवैषे-
त्यादिपूर्वोक्तसाधारणशास्त्रस्य बाधोऽपि समान एव ॥ १० ॥

इति श्रीअध्यात्मसुधातरङ्गिण्यां साधनसहकारिनिर्णयो

नाम पञ्चमस्तरङ्गः ॥ ५ ॥



अथ प्रतिबन्धकानाह —

इच्छतामुत्तमं श्रेयो निरूप्यन्ते विरोधिनः ।

सामान्याश्च विशेषाश्च द्विधा हेयाः प्रयत्नतः ॥ १ ॥

विरोधिनो द्विधाः सामान्याश्च विशेषाश्च तन्निरूपणस्य प्रयोजनमाह प्रयत्नतो हेया इतिमुमुक्षुभिरितिशेषः ॥ १ ॥

तेषां विवेकं दर्शयितुमादौ विशेषान्निर्दिशति—

चतुर्विधा विशेषास्ते स्वज्ञाने प्रतिबन्धकाः ।

ब्रह्मबोधे तथोपाये फलापत्तौ तथैव च ॥ २ ॥

पूर्वोक्तोभयकोट्योर्मध्ये विशेषाश्चतुर्धा इत्यन्वयः तेषां कार्यं निरूपयन्विशेषत्वं विवेचयति ते विशेषाश्चतुर्विधाः तत्र केचित्स्वज्ञान इति प्रत्यगात्मविषयके ज्ञाने ज्ञानोत्पत्तौ प्रतिबन्धकाः प्रतिबन्धका इति सर्वत्र संयोजनीयः केचिच्च ब्रह्मबोधे ब्रह्मस्वरूपगुणादिविषयके ज्ञाने तदुत्पत्ताविति यावत् केचित्तु उपाये श्रेयःसाधने संसिद्धौ तदुत्पत्तौ तथेति प्रतिबन्धका यथा स्वज्ञानाद्युत्पत्तौ प्रतिबन्धकास्तथा साधनोत्पत्तावपि केचित्फलापत्ताविति फलप्राप्तौ च प्रतिबन्धका इत्यर्थः ॥ २ ॥

तत्र तावदात्मज्ञानप्रतिबन्धकानाह त्रिभिः—

अनात्मनि च देहादावात्माऽयमिति निश्चयः ।

भगवन्तं गुरुं चर्त्ते स्वात्मनः परतन्त्रता ॥ ३ ॥

आत्मनश्च तदीयत्वे संशयादिविकल्पनम् ।

श्रुत्यादेरवमानश्च ह्यन्यदेवार्चनादिकम् ॥ ४ ॥

असच्छास्त्राभिलाषा च स्वस्य स्वातन्त्र्यभावना ।

इत्यादयश्चात्मज्ञाने विज्ञेयाः प्रतिबन्धकाः ॥ ५ ॥

अनात्मनि देहादौ देवो ऽहं मनुष्यो ऽहं ब्राह्मणो राजन्यः स्थूलो ऽहं कृशः काणो देवदत्तस्य पुत्र इत्यादिनिश्चयः एवम्भूत एवाहं न त्वेभ्यो विलक्षण इति यो अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।

किन्तेन न कृतं पापं चौरणात्मापहारिणा ।

इत्यादिस्मृतेश्च ।

किञ्च भगवन्तं गुरुं च क्रते विना तदितरपरतन्त्रत्वमात्मन-
इति हरिं गुरुं च हित्वा ऽन्यजीवस्य पारतन्त्र्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

किञ्च तदीयत्वे भगवदीयत्वे संशयादिविकल्पनमिति अहं भग-
वदीयो ऽस्मि न वेति विकल्पः श्रुत्यादेर्भगवदाशारूपस्य शास्त्रस्या
वमानो ऽश्रद्धया ऽस्वीकारः अन्यदेवानां श्रीभगवदितरेषां ब्रह्मरु-
द्रेन्द्रादीनाम् ॥ ४ ॥

असच्छास्त्राभिलाषा चेति अनात्मविषयकस्य तर्कादिरूपस्योप-
निषित्सिद्धान्तविपरीतस्य शास्त्रस्याऽभिलाषा इति मे भूयादिति
वासना स्वस्य प्रत्यगात्मनः ।

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽत्महनो जनाः ॥

न घेदवेदी महती विनष्टिरित्यादिश्रुतेः ।

नानुध्यायेद्ब्रह्मच्छब्दान्वाचो विग्लायमं हि तत् ॥

इत्यादिश्रुतेः ॥ ५ ॥

अथ ब्रह्मज्ञानविरोधिन उच्यन्ते—

हरौ तदितरस्यैक्यं तेष्वेव परतत्त्वधीः ।

मनुष्यत्वादिभावश्चाऽवतारेषु परात्मनः ॥ ६ ॥

मन्त्रादौ शब्दतावुद्धिः कथायां लौकिकी मतिः ।

पाषाणादिमतिश्चैव शालग्रामादिमूर्तिषु ॥ ७ ॥

अनन्तगुणसम्पन्ने गुणशून्यत्वभावना ।

ब्रह्मज्ञानाप्तिकामेन वर्जनीया विरोधिनः ॥ ८ ॥

भगवति तदितरसाम्यवुद्धिः ब्रह्मरुद्रादिदेवान्तरेषु परत्ववुद्धिः
भगवदीयावतारेषु मनुष्यतिर्य्यक्तादिवुद्धिरिति ॥ ६ ॥

किञ्च वैष्णवमन्त्रादौ शब्दसामान्यभावः भगवत्कथायां लौकि-
काख्यानकल्पना श्रीशालग्रामादौ पाषाणादिवुद्धिरिति ॥ ७ ॥

अनन्तकल्याणगुणे भगवति श्रीवासुदेवे गुणशून्यत्वमायिकगु-
णत्वादिकल्पना चेत्यादयो ब्रह्मस्वरूपतिरोधानहेतुत्वात्तद्द्वारा ब्रह्म-
ज्ञानप्रतिबन्धका इति निर्गलितार्थः “यो वै स्वां देघतामतिवजति

परस्वायै देवतायै च्यवते न परां प्राप्नोति पापीयान् भवतीत्या-
दिश्रुतेः ।

प्रजापतिस्मृतौ च ।

नारायणं परित्यज्य हृदिस्थं प्रभुमीश्वरम् ।

योन्यमर्चयते देवं परबुद्ध्या स पापभाक् ॥

भारते सप्तर्षिवादे—

विष्णुं ब्रह्मण्यदेवेशं देवदेवं जनार्दनम् ।

त्रैलोक्यस्थितिसंहारसृष्टिहेतुं निरञ्जनम् ॥

विहाय सम्भजत्यन्यं विषस्तैन्यं करोति यः ।

इति ॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।

परं भावमजानन्तो ममाऽव्ययमनुत्तमम् ॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥

यो विष्णोः प्रतिमाकारे लोहबुद्धिं करोति वा ।

यो गुरौ मानुषं भावमुभौ नरकपातिनौ ॥

इत्यादिस्मृतिश्च ।

न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते ।

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ ।

इत्यादिप्रमाणं क्रमेणानुसन्धेयम् ॥ ८ ॥

अथ साधनप्रतिबन्धकानाह—

अवगम्य स्वपापानां बाहुल्यं जगदीश्वरे ।

तन्निवृत्तावनीशत्वं विश्वासन्यूनता तथा ॥ ९ ॥

साधनान्तरनिष्ठा च मन्त्रान्तरपरिग्रहः ।

जपपूजादिसेवायां कामान्तरमनोगतिः ॥ १० ॥

स्वधर्माचरणे चैव फलोपायत्वभावना ।

गुरौ मर्त्यमतिस्तत्र खिलत्वं गौरवस्य वै ॥ ११ ॥

इत्यादय उपायानां प्रतिबन्धाः प्रकीर्तिताः ।

वर्जनीयाः प्रयत्नेन श्रेयस्कामैश्च वैष्णवैः ॥ १२ ॥

स्वपापानां बाहुल्यमवगम्य निश्चित्य तन्निवृत्तौ तेषां निराकरणे जगदीश्वरेऽनीशत्वम् असामर्थ्यभावनं विश्वासस्य न्यूनता चेति योजना ।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते ।

नाम्नोस्ति यावती शक्तिः पापनिर्दहने हरेः ॥

तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी नरः ।

इत्यादिशास्त्रविरोधात् ॥ ९ ॥

ज्वादिसेवायाम् अनया ममाश्रयं कामो भूयादिति मनसि सङ्कल्पः इहामुत्रोपाधिनैराश्येनैव, अमुष्मिन्मनःकल्पनमिति श्रुतिविरोधात् ॥ १० ॥

स्वधर्ममिति अयं मदीयो धर्मः मत्संकल्पितफलस्योपायः अनेनामुं फलं प्राप्स्यामीति भावना अन्यत् स्पष्टम् ।

तथा च ।

यस्य देवे परा भक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ ॥

गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः ।

स हि विद्यां जनयति तच्छ्रेष्ठं जन्म तस्मै न द्रुह्येत कदाचनेति श्रुतेः ।

एकाक्षरप्रदातारमाचार्यं योऽवमन्यते ।

श्वानयोनिशतं प्राप्य चाण्डालेषूपजायते ॥

उपायानां साधनानां प्रतिबन्धकास्तद्विरोधिन इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अथ फलविरोधिन उच्यन्ते —

धर्मादौ पुरुषार्थत्वबुद्ध्या तद्याचनं हरेः ।

पूजादिक्रियमाणायामात्मस्वातन्त्र्यभावनम् ॥ १३ ॥

सच्छास्त्रं च परित्यज्य कामचारेण वर्तनम् ।

इत्यादयः फलस्योक्ताः प्रतिबन्धाः मनीषिभिः ॥ १४ ॥

धर्मादौ धर्मार्थकामेषु एते पुरुषार्थाः श्रेयोरूपा इति वासनया हरेः सकाशात्तेषां याचनं हे हरे मम त्रिवर्गं देहीति प्रार्थनम् ।

यदा सर्वे प्रमुच्येरन् कामा ह्यस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

इति ।

अन्नपानं धनं वस्त्रमायुरैश्वर्यमास्पदम् ।

आपद्यपि न याचेत पूजकः पुरुषोत्तमम् ॥

तत्पादभक्तिज्ञानाभ्यां फलमन्यत् कदाचन ।

न याचेत्पुरुषो विष्णुं याचनान्नश्यति ध्रुवम् ॥

इत्यादिस्मृतेर्मानात् ।

किञ्च आत्मस्वातन्त्र्यभावनमिति अहमत्र स्वतन्त्रः कर्त्ता ममेदं
कर्म मयेदं साधु कृतमिति निश्चयः स एव साधु कर्म कारयती-
त्यादिश्रुतिविरोधात् ॥ १३ ॥

सच्छास्त्रं श्रुतिमूलं धर्मनिर्णायकं सात्त्विकं श्रीभगवद्गीतापञ्च-
रात्रादिकं कामचारेण स्वेच्छाचारेण ।

वेदोक्तं ये परित्यज्य धर्ममन्यं प्रकुर्वते ।

तत्सर्वं तव दैत्येन्द्र मत्प्रसादाद्भविष्यति ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हासि ॥

इतिशास्त्रात् ।

आदिना च देहादिवहुकालावस्थितीच्छा भगवतो भागवतानां
च बुद्धिपूर्वकापराधाचरणम् असत्सङ्गतिश्चेति साक्षाच्छ्रेयउपलब्धौ
प्रतिबन्धकाः निरयप्राप्तिहेतवश्चेति महता यत्नेन हेवा विवक्षिताः ।

तथाचाह मनुः ।

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवनम् ।

कालमेव प्रतीक्षेत निर्वेशभृतको यथा ॥

प्रायशः पापकारित्वान्मृत्योरुद्विजते जनः ।

कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथिम् ॥

इतिश्रीव्यासोक्तिश्च ।

पुण्यं मद्द्वेषिणां यच्च मद्भक्तद्वेषिणां तथा ।

कथासु मम दैत्येश कथ्यमानासु तत्र वै ॥

अशूण्वन् यो नरो गच्छेत्तस्य संवत्सरार्जितम् ।

यत्नेन महता तात तत्पुण्यन्ते भविष्यति ॥
 इतिहरिवंशे श्रीवामनोक्तिः ।
 वनपर्वणि दुर्वासाः ।
 वृथापापेन राजर्षेरपराधः कृतो महान् ॥
 मास्मांश्चाऽशुधान् दृष्ट्वा पाण्डवाः क्षुरचक्षुषा ।
 कुद्धास्ते निर्दहेयुर्वो तूलराशिमिवाऽनलः ॥
 स्मृत्वाऽनुभावं राजर्षेरम्बरीषस्य धीमतः ।
 विभेमि सुतरां विप्रा हरिपादाश्रयाज्जनात् ॥
 पाण्डवाश्च महात्मानः सर्वे धर्मपरायणाः ।
 सदाचाररता नित्यं वासुदेवपरायणाः ॥ १ ॥
 तत एतानदृष्ट्वैव शिष्याः शीघ्रं पलायत ।
 इत्यादि ।

नेदंविद् अनिदंविदान् समुद्विशेन्न सह भुञ्जीत न वा ऽवसथ-
 माविश्यादित्यादिवह्वचः ।

कात्यायनसंहितायाम् ।
 वरं हुतवहज्वालापञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः ।
 न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवासवैशसम् ॥
 विष्णुरहस्ये च ।
 आलिङ्गनं वरं मन्ये व्यालव्याघ्रजलौकसाम् ।
 न सङ्गः शल्ययुक्तानां नानादेवोपसेविनाम् ॥
 अन्यत्राऽपि ।
 शैवान्पाशुपतान् स्पृष्ट्वा लौकायतिकनास्तिकान् ।
 अकर्मस्थान् द्विजाञ्छूद्रान् सवासा जलमाविशेत् ॥
 शाण्डिल्यस्मृतौ ।
 मूढैः पापरतैः क्रूरैः सदागमपराङ्मुखैः ।
 सम्बन्धं नाचरेद्भक्तो नश्यते तैस्तु सङ्गमात् ॥
 पितृगीते च ।
 मा जनिष्ट स नो वंशे जातो वा द्राग्विनश्यताम् ।
 आजन्ममरणं यस्य वासुदेवो न दैवतः ॥
 इत्यादीन्यपि वाक्यानुसन्धेयानि ॥ १४ ॥
 अथ सामान्यभृता उच्यन्ते ।

शास्त्रमार्गस्य संत्यागः स्वोचितानां च कर्मणाम् ।
 परोचितस्य धर्मस्याऽनुष्ठानं च कृतघ्नता ॥ १५ ॥
 मानुष्यं दुर्लभं लब्ध्वा पशुवत्तस्य नाशनम् ।
 स्ववीर्यविक्रयः कृष्णपूजनात्पूर्वभोजनम् ॥ १६ ॥
 सन्यासादिविधिं त्यक्त्वा विरागरहितैर्जनैः ।
 पितृपुत्रकलत्रादेस्त्यागो द्वेषादिहेतुना ॥ १७ ॥
 दैवीसंपत्परित्यागो ह्यासुर्य्याश्च समाश्रयः ।
 इत्यादयः समानाः स्युः श्रेयसः प्रतिबन्धकाः ॥ १८ ॥

शास्त्रमार्गस्येति तन्मर्यादायाः ।

श्रुतिस्मृती ममैवाऽऽहे ।

इति भगवदुक्तेः ।

स्वोचितानां स्ववर्णाश्रमोचितानां नियतानाम् ।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ॥

मोहात्तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्तितः ।

ऋग्यजुःसामसंज्ञेयं त्रयी वर्णावृत्तिर्नृप ॥

एतामुज्झति यो मोहात् स नग्नः पातकी स्मृतः ।

ग्रह्यचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थस्तथाऽऽश्रमी ॥

परिव्राट्च चतुर्थोऽत्र पञ्चमो नोपपद्यते ।

सन्ध्याहीनो शुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु ॥

यदन्यत्कुरुते कर्म न तस्य फलभागभवेत् ।

नास्तिक्यपरमाश्चैव केचिद्धर्मविलोपकाः ॥

भविष्यन्ति नरा मूढा मन्दाः पण्डितमानिनः ।

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् ॥

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम् ।

वेदोक्तं ये परित्यज्य धर्ममन्यं प्रकुर्वते ॥

तत्सर्वं तव दैत्येन्द्र मत्प्रसादाद्भविष्यति ।

इत्याद्यन्वयव्यतिरेकवचनेभ्यः ।

किञ्च परोचितस्येति परस्य स्वस्मादुत्तमवर्णस्य निकृष्टवर्णस्य
 वा परोचितस्य शास्त्रनियतस्य धर्मस्य ।

स्वधर्मं निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।
 पर्युदस्तो हि यो यस्माच्छास्त्राद्यादपि कर्मणः ।
 स तत्राऽनधिकारी स्याद् दानादौ दीक्षितो यथा ॥
 इति वचनात् ।
 किञ्च कृतघ्नतेति परेण कृतस्योपकारस्य नाशनम् ।
 गोघ्ने चैव सुरापे च चोरे भग्नव्रते तथा ॥
 निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ।
 इति स्मृतेः ॥ १५ ॥

पशुवत्तस्य नाशनं तस्येति मनुष्यदेहस्य शूकरादिवद्विषयभो-
 गेन वैरादिभावेन च व्ययः ।
 मानुष्यं प्राप्य लोकेस्मिन् मूको वा बधिरोपि वा ।
 नाऽपक्रामति संसारात् स खलु ब्रह्महा भवेत् ॥
 लब्ध्वा तन्मानुषं देहं पञ्चभूतसमन्वितम् ।
 मामेव न प्रपद्यन्ते ततो दुःखतरं नु किम् ॥
 इतिवचनात् ।

किञ्च स्ववीर्यविक्रय इति स्ववीर्यस्य धर्मगुणपौरुषादेः वि-
 क्रयणं मूल्येन दानम् ।

तथाह सनत्सुजातः ।
 यथा स्ववान्तमश्नाति श्वा वै नित्यं विभूतये ।
 एवं ते वान्तमश्नन्ति स्ववीर्यस्योपसेचनात् ॥
 पण्डितैरर्थकार्पण्यात् पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम् ।
 आत्मा संस्कृत्य संस्कृत्य परोपकरणीकृतः ॥
 इति ।

किञ्च कृष्णपूजनादिति ।
 यो मोहादथवाऽऽलस्यादकृत्वा देवतार्चनम् ।
 भुङ्क्ते स याति नरकान् शूकरेष्वभिजायते ॥
 इति ।

किञ्च संन्यासादिविधिमिति स्पष्टार्थः ।
 पितरं मातरं वा ऽपि तथा दत्ताभयं सुतम् ॥
 त्यजेच्च तरुणीं भार्यां स खलु ब्रह्महा भवेत् ।

ननु यदहरेव विरज्येत्तदहरेव परिव्रजेदिति श्रुतेर्मानत्वात्कथं

दोषावकाश इति चेत् तत्राह विरागरहितैरिति तर्हि त्यागे किङ्कार-
णमित्याशङ्क्याह द्वेषादिहेतुनेति ॥ १७ ॥

किञ्च दैवीसम्पत्परित्याग इति अभयं सत्त्वसंशुद्धिरित्यादिश्री-
मुक्तोक्तेः परित्यागः अनादरेणाननुष्ठानं किञ्चासुर्य्याश्च ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।

इत्यादिना निषिद्धायाः सम्पदः समाश्रयः सम्यगनुष्ठानम् अयं
भावः प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चेत्यादिना ऽसुराणां लक्षणमुक्त्वा ।

ईदृन्ते कामभोगार्थमन्यायेनाऽर्थसञ्चयान् ।

इत्यादिना तेषां प्रवृत्तिं चोक्त्वा ।

तानहं द्विपतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।

इत्यादिना तत्फलं नित्यसंसारित्वरूपाधोगतिं च निरूप्य तस्मा-
देतन्नयं त्यजेदिति एतन्नयमूलत्वादासुरभावस्य तत्त्यागः षोडशा-
ध्यायेन विधीयते ।

भूयश्च ।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।

इत्यनेन व्यतिरेकात्तस्यैव दृढीकरणात् अत्यन्तश्रेयोविरोधि-
त्वान्मुमुक्षुभिर्यत्नेन त्याज्येति ।

किञ्च ।

विद्याचौरो गुरुद्रोही वेदेश्वरविदूषकः ।

त एते बहुपाप्मोनः सद्यो दण्ड्या इति श्रुतिः ॥

परद्रोहेष्वभिध्यानं मनसा ऽनिष्टचिन्तनम् ।

वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं मानसं स्मृतम् ॥

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चैव सर्वशः ।

अनिवद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।

परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥

इत्यादिसंग्रहार्थ आदिशब्दः ॥ १८ ॥

इति श्रीअध्यात्मसुधातरङ्गिण्यां विरोधिनिर्णयो

नाम षष्ठस्तरङ्गः ॥ ६ ॥

अथ प्रयोजनं निरूपयति—

मुकुन्दभावसंप्राप्तिः शास्त्रे प्रोक्तं परं फलम् ।

सैव सायुज्यसाधर्म्यब्रह्मसाम्यादिसंज्ञिका ॥ १ ॥

मुकुन्दस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य परब्रह्मणो भगवतो भावो मुकुन्द-
भावः तदसाधारणधर्मः सार्वज्ञादिस्तस्यलेशसंप्राप्तिरिति यावत् ।

“ मद्भावायोपपद्यते ”

“ पूता मद्भावमागता ”

इति श्रीमुखोक्तेः ।

सर्वे हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः ।

इत्यादिश्रुत्या सार्वज्ञादियोगविधानात् ॥

न चैवमत्यन्ताभेदप्राप्तिः शङ्कनीया जगद्भावापरवर्ज-
मिति भेदविधानात् यद्वा सर्वज्ञविषयकानुभवात् सार्वज्ञयोगो
विवक्षितः येनाऽश्रुतं भवतीत्यादिश्रुतेः ननु नारायणसायु-
ज्यमाप्नोति मम साधर्म्यमागताः निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति
ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवतीत्यादिना मुक्तेः वैविध्यश्रवणात् कथं भग-
वद्भावापत्तिरेव मोक्ष इति चेत्तत्राह सैवेति भगवद्भावापत्तिरेव
सायुज्यादिसंज्ञिका नान्येत्यर्थः तथा हि सह युज्यत इति
सयुक् सयुजो भावः सायुज्यं नित्यसंयोग इतियावत् भगवता
नित्यसम्बन्धो भावपदार्थः तथा च भगवतो नित्यसम्बन्धल-
क्षणभावापत्तिरेवेति फलितार्थः न च स्वरूपैक्यं सायुज्यमिति-
वाच्यं शक्यार्थभावात् ननु यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा विद्वान्नामरूपाद्वि-
मुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यमिति श्रुत्या स्वरूपैक्यवि-
धानात् कथमन्यथास्वीकार इति चेन्न तत्रापि भेदस्य सत्त्वा-
त् न हि जले मिलितं जलं स्वरूपैक्यं भजते अपितु नित्यसंयोगमेव
साधयवद्रव्यत्वात् नद्यादीनां प्रावृषादौ वृद्धिहानिदर्शनाच्च न च
समुद्रे नाशवृद्धोरदर्शनादैक्यमेवेति वाच्यं नद्यादिदृष्टान्तेन तत्राप्य-
नुमानात् तत्तरङ्गेषु भेददर्शनाच्च तथा च श्रूयते यथोदकं शुद्धे शुद्ध-
मासिकं तादृगेव भवति एवं मुने विजानत आत्मा भवति गौत-
मेत्यादिना सादृश्यस्यैव विधानात् श्रुत्यर्थस्तु श्रीकाश्मीरिचरणै-

विस्तृतः नाऽपि साधर्म्यवाक्यविरोधः उक्तलक्षणसर्वज्ञस्य तत्रापि सत्त्वात् ननु ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवतीति सावधारणश्रुतेः स्वरूपतैवाऽभ्युपगन्तव्या न भेदलेशोऽपीति चेन्न बृहद्गुणयोगेऽपि तत्तायाः सुवचत्वात् अन्यथा ब्रह्मविदाप्नोति परमिति श्रुतिविरोधादितिसङ्क्षेपः ननु परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यत इत्यत्र परमात्मप्राप्तेः साधनत्वेन स्वरूपापत्तेश्च फलत्वेन श्रूयमाणत्वात् कथमेवं भगवद्भावापत्तेरेव पुरुषार्थत्वमिति चेन्न एतद्वाक्यार्थविषयकज्ञानस्य तत्राभावात् तथा हि परंज्योतिःशब्दाभिधेयं श्रीपुरुषोत्तममुपपाद्य तत्स्वरूपगुणादि साक्षादनुभूय स्वेन रूपेण ब्रह्मस्वरूपे गुणादिविषयकप्रत्यक्षानुभूत्याश्रयरूपानुभवितृरूपेण स्वस्वरूपेण निष्पद्यते अनवच्छिन्नत्वेनाऽनुभूयते इत्यर्थः तथात्वे च न कोपि विरोधः भगवद्विषयकानवच्छिन्नानुभूतिरूपस्य भावपदार्थस्यात्रापि श्रवणात् ।

ननु

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥

इत्यादिवाक्ये भगवतोऽन्तः प्रवेशोक्तेस्तथा च प्रविष्टस्य भेदाभावादभेदः सिद्ध इति चेन्न भगवतो विश्वरूपविग्रहे एव प्रवेशो विवक्षितः न तु स्वरूपे तथात्वे विश्वस्य तत्र सदैव प्रविष्टत्वात् । सर्वं समंजसम् ।

तच्चोक्तं भगवद्गीतैकादशाध्याये ।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नम् ॥

पश्याऽद्य सचराचरम् ।

ममदेहेगुडाकेश ॥

इत्यादिना ।

तथैवाऽनुभूयार्जुनेनाऽप्युक्तम् ।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे ॥

इत्यादिना ।

तच्च वेदान्तरत्नमञ्जूपायां श्रीपुरुषोत्तमाचार्यचरणैर्भूयो विस्तृतं किञ्च स्वरूपप्रवेशाभ्युपगमेऽपि नोक्तसिद्धान्तविरोधः ब्रह्मणः सर्वाधारत्वात् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुरित्यादिश्रुतेः आकाशवत् सर्वगतत्वाच्च आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य इति श्रुते

न तत्र भेदग्रहाभावो बालैर्विना वक्तुं शक्यः भेदस्य प्रत्यक्षसिद्ध-
त्वात् अन्यथा ऽऽकाशे सर्वस्यापि सत्त्वात् भेदप्रतीतिर्न स्यात् न तु
तदस्ति न चा ऽऽकाशात्कार्यस्य पृथक्तेनानुपलम्भादभेदाभ्युपगम
इति वाच्यं भेदस्यापि प्रामाणिकत्वेनाऽत्यन्ताभेदस्यैवा ऽनुपपन्नत्वा-
त् प्रत्युता ऽस्मदभीष्टभेदाभेदएव सुप्रसिद्धो नात्यन्ताभेदस्तथा भेदो
वा तथा हि वाद्यादेः कार्यस्य सत्त्वाच्चावरस्य सदेव सौम्येदमग्र
आसीदित्यादिशास्त्रात् स्वरूपसत्त्वेन कार्यत्वात् तद्व्याप्यत्वा
त्तदाधेयत्वाच्च तदभिन्नत्वात् अपृथक्सिद्धत्वाच्च भेदाऽभेदयोर्विवादः
अन्यथा सत्कार्यवादप्रसङ्गात् सिद्धान्तभङ्ग इतिसङ्क्षेपः ननु अक्षय्यं
ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति यत्र नोष्णं न च शीतं
स्यादित्यादिना स्वर्गादेरपि फलत्वश्रवणात्कथमिदमेव फलमिति
तत्रा ऽह परमिति निरतिशयत्वात् नित्यत्वाच्च न स पुनरावर्तत
इति श्रुतेः स्वर्गादेः फलत्वश्रवणे ऽपि अनित्यत्वात् न तस्य तथा-
त्वमिति भावः यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवा ऽमुत्र पुण्य-
चितो लोकः क्षीयते इति श्रुतेरिति सङ्क्षेपः ॥ १ ॥

अथ तत्प्राप्तिमार्गं निर्दिशति—

अर्चिरादिकया गत्या प्राप्य विष्णोः परं पदम् ।

भगवद्भावमापन्नो मोदते तेन सर्वदा ॥ २ ॥

अर्चिरादिकया गत्येति ते ऽर्चिषमभिसम्भवन्तीत्यादिश्रुतिनि-
र्णयित्या तन्मार्गेण ।

अथ तदर्थसंग्रहश्लोकाः ।

प्राणस्योक्क्रान्तिकाले वै हार्दानुग्रहतो मुनिः ।

तत्प्रकाशितपन्थानं सुषुम्णाख्यं विशंस्तदा ॥

ब्रह्मरन्ध्राद्विनिष्क्रम्य रश्मीनारुहते रवेः ।

तेन मार्गेण प्रथमं वह्निं याति ततो दिनम् ॥ २ ॥

ततः पक्षं सितं प्राप्य षण्मासानुत्तरायणम् ।

संवत्सरं सुरावासं वायुं सूर्यं निशाकरम् ॥ ३ ॥

विद्युतं वरुणं चेन्द्रं तथैव च प्रजापतिम् ।

तैस्तैर्देवैस्तत्र तत्र ह्युपचारैः समर्चितः ॥ ४ ॥

तत्तल्लोकानतीत्यैष भित्त्वा प्राकृतमण्डलम् ।

अमानवैश्च पुरुषैः प्रापितो विरजां नदीम् ॥ ५ ॥
 त्यक्त्वा तत्र शरीरं वै सङ्कल्पेनैव तां तरन् ।
 दिव्यविग्रहसम्पन्नो ऽलंकृतो मानवैस्तदा ॥ ६ ॥
 ब्राह्मणा ऽलङ्कारवेपेण सत्कृतश्चाप्सरोगणैः ।
 द्वारपालैः समागम्य तत्तत्स्थानमलौकिकम् ॥ ७ ॥
 पश्यन्प्रमुदितो याति क्रमेण मणिमण्डपम् ।
 दिव्यरत्नमये दिव्ये चासने लौकिके मुदा ॥ ८ ॥
 श्रिया ऽनुरूपया युक्तं पार्षदैश्चा ऽऽयुधैस्तथा ।
 दिव्यालङ्कारसम्पृक्तं श्रीमुकुन्दं च पश्यति ॥
 सच्चिदानन्दमूर्तिं तं कल्याणगुणसागरम् ।
 कृष्णं श्रियादिसहितं प्रणम्य तत्कृपार्द्रया ॥ १० ॥
 दृशा ऽवलोकितस्तेन भाषितश्च मुदा गिरा ।
 ध्रुवं तद्भावमापन्नो जक्षन् क्रीडंश्च ब्रह्मणा ॥ ११ ॥
 गाञ्चन् सामानि तत्रास्ते रममाणश्च वैष्णवः ।
 न पुनर्याति संसारं विष्णुलोकगतो मुनिः ॥ १२ ॥
 संप्रदायानुसारेण शास्त्रोक्तेश्च समासतः ।
 अलसानां विवेकार्थं मार्गो ऽयं संनिरूपितः ।
 इति ॥ १३ ॥

अस्य विस्तरश्च प्रवन्धान्तरे द्रष्टव्यः भगवद्भावपदार्थश्च पूर्वस्मि-
 न्श्लोके निरूपितः तेनेति ब्रह्मणा सहेत्यर्थः जक्षन् क्रीडन् रममाणः सह
 ब्रह्मणा विपश्चितेति श्रुतेः ।

अथ किमर्थोऽयं संदर्भश्रम इत्याशङ्क्याह—

विदुषां परितोषार्थं प्रसादार्थं श्रियः पतेः ।
 बोधार्थं बालबुद्धीनां कृतः श्रुत्यर्थसंग्रहः ॥ ३ ॥

अथ ग्रन्थान्ते प्रार्थयते ।

श्रीहरे बलुवीकान्त रुक्मिणीनाथ भूपते ।
 संसाराब्धिनिमग्नानां प्रसादं कुरु केशव ॥ ४ ॥

इति श्रीअध्यात्मकारिकावली समाप्ताः ॥

प्रसीदतां हयग्रीवः श्रीनिवासो जगद्गुरुः ।
 करोतु जगतां श्रेयः कारुण्यादिगुणार्णवः ॥ १ ॥
 मङ्गलं गोपिकाप्रेष्टो मङ्गलं कमलापतिः ।
 सत्यभामाप्रियः कृष्णो मङ्गलं भक्तवत्सलः ॥ २ ॥
 इति श्री अध्यात्मसुधातरङ्गिण्यां फलनिर्णयो
 नाम चरमस्तरङ्गः ॥ ७ ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥





- (१५) शिवस्तोत्रावली । उत्पलदेवविरचिता । श्रीक्षेमराजविरचितवृत्तिसमेता (वेदान्तः) २
- (१६) मीमांसाबालप्रकाशः जैमिनीयद्वादशाऽध्यायार्थसंग्रहः श्रीभट्टनारायणात्मजभट्ट-शङ्करविरचितः । (मीमांसा) २
- (१७) प्रकरणपञ्चिका प्रभाकरमतानुसारि—मीमांसादर्शनम् । महामहोपाध्यायश्रीशालि-कनाथमिश्रविरचितम् श्रीशङ्करभट्टकृता मीमांसासारसंग्रहश्च सम्पूर्णः (मीमांसा) ३
- (१८) अद्वैतसिद्धिसिद्धान्तसारः । पण्डितप्रवर-श्रीसदानन्दव्यासप्रणीतस्तत्कृतव्याख्यास-मलङ्कृतः । (वेदान्तः) ३
- (१९) कात्यायनश्रौतसूत्रम् । महामहोपाध्याय-श्रीकर्काचार्यविरचितभाष्यसहितम् । १३
- (२०) ब्रह्मसूत्रभाष्यम् । श्रीभास्कराचार्यविर-चितं असम्पूर्णम् (वेदान्तः) २
- (२१) श्रीहर्षप्रणीतं खण्डनखण्डखायम् । आ-नन्दपूर्णविरचितया खण्डनफक्किकावि-भजनाख्यया व्याख्यया वियासागरीतिप्र-सिद्धया समेतम् । (वेदान्तः) १४
- (२२) आख्यातचन्द्रिका श्रीभट्टमल्लविरचिता १
- (२३) श्रीलक्ष्मीसहस्रम्—बालबोधिनीव्याख्य-याश्वतरणिकया च सहितम् ८
- (२४) ब्रह्मसूत्रवृत्तिः मरीचिका श्रीब्रजनाथभ-ट्टकृता (वेदान्तः) ... २
- (२५) क्रोडपत्रसंग्रहः । अत्र श्रीकालीशङ्करासि-द्धान्तवागीशविरचितानि अनुमानजागदी-श्याः प्रत्यक्षानुमानगादाधर्याः प्रत्यक्षानु-मानमाधुर्या व्युत्पत्तिवादस्य शक्तिवादस्य मुक्तिवादस्य शब्दशक्तिप्रकाशिकायाः कु-सुमाञ्जलेश्च क्रोडपत्राणि ... २
- (२६) ब्रह्मसूत्रम्, द्वैताद्वैतदर्शनम् । श्रीसुन्दरभ-ट्टविरचितसिद्धान्तसेतुकाऽभिधृतीकासहि-तश्रीदेवाचार्यप्रणीतसिद्धान्तजाह्नवीयुतम् ९
- (२७) षड्दर्शनसमुच्चयः । बौद्धनैयायिकका-पिलजैनवैशेषिकजैमिनीयदर्शनसंक्षेपः । मणिभद्रकृतटीकया सहितः । हरिभद्रसू-रिक्तः । ... १
- (२८) शुद्धाद्वैतमार्तण्डः प्रकाशव्याख्यासहितः । प्रमेयरत्नार्णवश्च ... १

- (२९) अनुमानाचिन्तामणिव्याख्यायाः शिरोम-णिकृतदीधित्या जागदीशी टीका । १३
- (३०) वीरमित्रोदयः । महामहोपाध्यायश्रीमिश्र-मिश्रविरचितः परिभाषा—संस्कारप्रका-शात्मकः । ... १०
- (३१) वीरमित्रोदयः । महामहोपाध्यायश्रीमि-त्रमिश्रविरचितः आह्निकप्रकाशः ६
- (३२) स्मृतिसारोद्धारः विद्वद्भारविश्वम्भरात्रिपाटि-संकलितः ... ४
- (३३) वेदान्तरत्नमञ्जूषा । श्रीभगवत्पुरुषोत्त-माचार्यकृता । ... २
- (३४) प्रस्थानरत्नाकरः । गोस्वामिश्रीपुरुषोत्त-मजीमहाराजविरचितः ... २
- (३५) वेदान्तपारिजातसौरभं नाम ब्रह्ममीमांसा-भाष्यं श्रीनिम्बाकाचार्यविरचितम् । १
- (३६) योगदर्शनम् । परमहंसपरिव्राजकाचार्य-नाराणतीर्थविरचित—योगसिद्धान्तचन्द्रि-कासमाख्यया व्याख्यया संवलितम् । २
- (३७) वेदान्तदर्शनम् । परमहंसपरिव्राजका-चार्यश्रीरामानन्दसरस्वतीस्वामिकृत ब्रह्मा-ऽमृतवर्षिणीसमाख्यव्याख्यासंवलितम् । ४
- (३८) विश्वप्रकाशः । कोशः । विद्वद्भारविश्व-हेश्वरसूरिविरचितः । ... २
- (३९) श्रीसुबोधिनी । श्रीवलभाचार्यविनिर्मिता श्रीमद्भागवतव्याख्या गोस्वामीश्रीविठ्ठलना-थदीक्षिताविरचितटिप्पणीसहिता । २
- (४०) वीरमित्रोदयः । महामहोपाध्यायश्रीमि-त्रमिश्रविरचितः पूजाप्रकाशः । ४
- (४१) वेदान्तसिद्धान्तसंग्रहः । भुतिसिद्धान्ताप-रनामकः । श्रीब्रह्मचारिवनमालिमिश्रविर-चितः वेदान्तकारिकावली आपुरुषात्तम-प्रसाद शर्मकृता अध्यात्मसुधातरङ्गि-ण्याख्यटीकयासहिता ३
- (४२) स्वानुभवाददर्शः । श्रीमत्परमहंसपरिव्राज-काचार्यनारायणाश्रमाशेष्यमाधवाश्रमाविर-चितः । स्वकृतटीकाविभूषितश्च । १
- (४३) याज्ञवल्क्यस्मृतिः । बालम्भट्टटीसमाख्य-व्याख्यासमलङ्कृतमिताक्षरासहिता । व्य-वहाराध्याय ... १०
- (४४) गादाधरी । श्रीगदाधरभट्टाचार्यचक्रव-

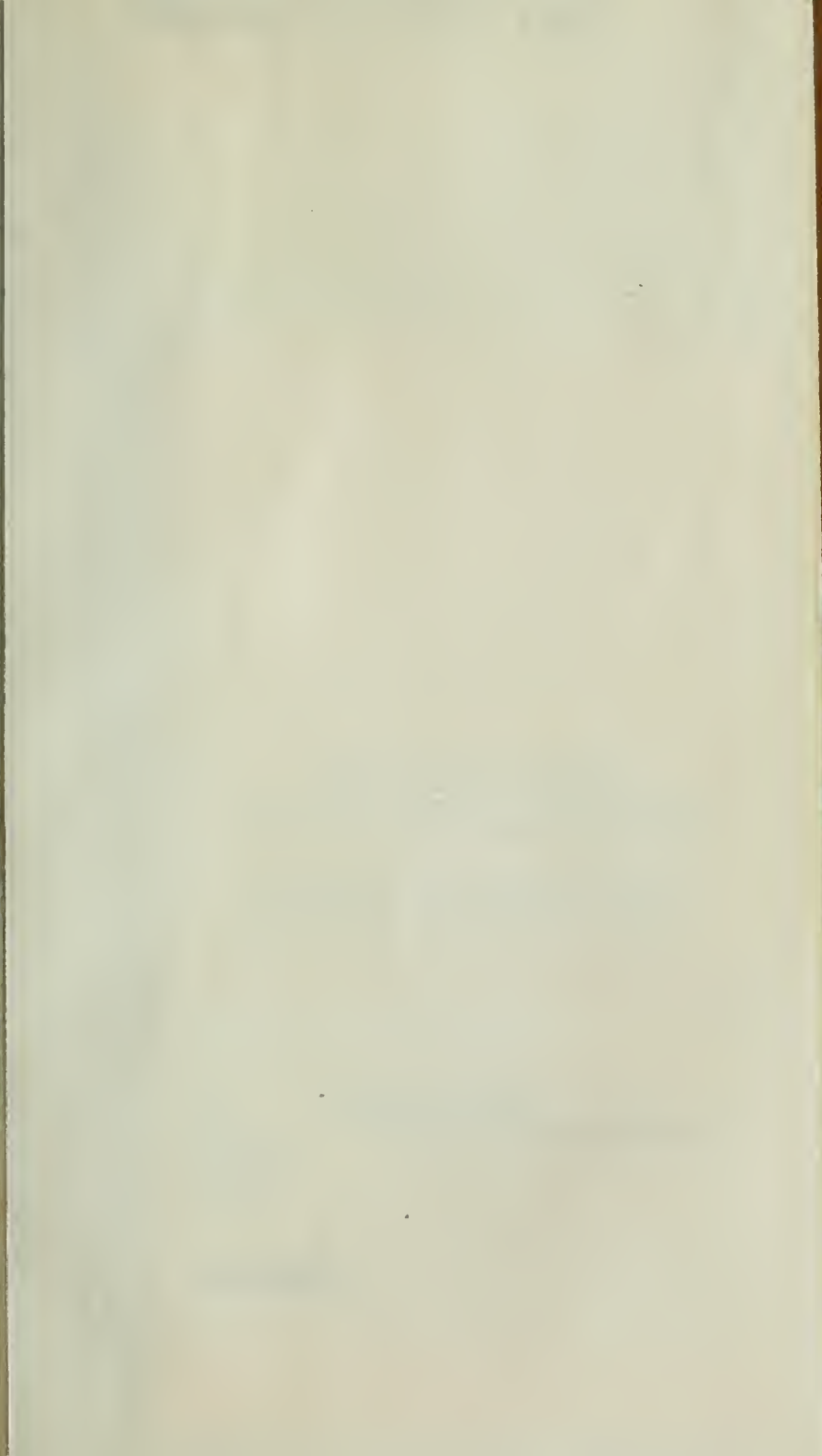
ति कृता । श्रीगङ्गेशोपाध्यायविरचिततत्त्व-
चिन्तामण्या श्रीरघुनाथनार्किकशिरोमणि-
विरचितदीधित्या च गर्भितः । ३
(४५) शास्त्रदीपिका । श्रीपार्थसारथिमिश्र प्राणि-
ता । रामकृष्णविरचितयुक्तिस्नेहप्रपुण्या-
ख्यव्याख्यातथासोमनाथकृतया मयुख-
मालिकया च व्याख्याया समलङ्कृता । ३
(४६) वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा । श्रीमदुपा-

ध्यायोपनामक श्रीनागेशभट्टविरचिता ।
श्रीमद्दुर्बलाचार्यविरचितकुञ्जिकाटीका-
श्रीमद्वालम्भट्टविरचितकलाटीका—इति
टीकाद्वयसंवल्लिता । ... २
(४७) व्याकरणसिद्धान्तमुधानिधीः । पर्वतीय-
विश्वेश्वरमूरिविरचितः । ३
(४८) विरमित्रोदयः । लक्षणप्रकाशः ।
महामहोपाध्यायश्रीमिश्रमिश्राविरचितः । ३

पत्रादिप्रेषणस्थानम् }

हरिदासगुप्तः,
चौखम्बा बनारस सिटी ।

(1)
918-4
R



1871

BINDING SECT, FEB 13 1967

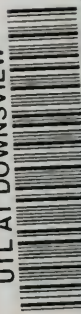
PLEASE DO NOT REMOVE
CARDS OR SLIPS FROM THIS POCKET

UNIVERSITY OF TORONTO LIBRARY

B Vanamali Misra
132 Vedantasiddhantasangraha
V3V365
1913

~~XXXXXXXXXX~~

UTL AT DOWNSVIEW



D RANGE BAY SHLF POS ITEM C
39 13 08 12 04 008 7